

BHAVAN'S LIBRARY

This book is valuable and
NOT to be **ISSUED**
out of the Library
without Special Permission

• श्रीः •

महामहोपाध्याय-पण्डित-ध्वज्वरामशास्त्रि-
विद्यासागर-विरचितः

साहित्य-विन्दुः

मुशीलाख्य-हिन्दीटीका-समलंकृतः

टीकाकारः

सत्यस्वरूपदकः

श्री जीवनरामशास्त्री हिन्दी-प्रभाकरः
प्राध्यापक—हिन्दू हाई स्कूल, रिवाड़ी

प्रकाशक

मैहरचंद्र लक्ष्मणदास

पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता
अध्यक्ष—संस्कृत-पुस्तकालय,
डूचा घेता, दरियागंज, दिल्ली-६

श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, बुकसेलर,
१ अनसारी रोड, नया दरियागज, दिल्ली के अधिकार से प्रकाशित

पुनर्मुद्रणादि सर्वाधिकार श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड
(प्रकाशकों) के अधीन हैं ।

मुद्रक—
नरेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस,
२० मॉडल बस्ती
दिल्ली

भूमिका

सभी वक्तव्य और श्रोतव्य शब्द के अधीन होता है। शब्द-साधुत्व ज्ञान के लिए यथा व्याकरण शास्त्रीय-ज्ञान नितान्त आवश्यक है, तथैव शब्दनिष्ठ दोष गुण रीति अलङ्कारों के ज्ञानार्थ साहित्य-शास्त्रीय ज्ञान भी परमावश्यक है। काव्य भीमासा के अनुसार काव्य का अच्चापन या बुरापन जिसके द्वारा ज्ञात हो वह साहित्यशास्त्र है उसमें शब्द और अर्थ दोनों ही तुल्य वक्ष होते हैं।

साहित्य शास्त्र का प्रारम्भिक समय

साहित्य विषयों का सर्वप्रथम विचारक ग्रन्थ व्यासकृत 'अग्निपुराण' है। उसमें काव्य सम्बन्धी गुण दोष रीति और अलङ्कारों का विवेचन हुआ है तथापि उसको पृथक् साहित्य-शास्त्र कहलाने का श्रेय मामह, दण्डी, भट्टोज्जट, रघट, वामन, वाग्भट आदि के ग्रन्थों से प्राप्त हुआ फिर उसमें उत्तरोत्तर गम्भीरता प्रौढता तथा मर्मस्पर्शिता बढ़ती गई।

साहित्यविन्दु

साहित्यविन्दु ग्रन्थ, साहित्य-ग्रन्थों के मनन का फल है और प्राधुनिक छात्रों का दृष्टिकोण सामने रखकर लिखा गया है। यह चार विभागों में विभक्त है—कारिका, वृत्ति, उदाहरण और उदाहरण-विवरण। इनमें कारिका, वृत्ति और विवरण अपने हैं, उदाहरण नव्ये प्रतिशत अपने हैं परन्तु क्वचित्-क्वचित् ग्रन्थ भी हैं। जिसमें नव्ये प्रतिशत लिखने की शक्ति है वह सौ भी लिख सकता है परन्तु सभी अपने उदाहरण हृदयङ्गम नहीं होते। चन्द्रालोक साहित्यसार और रस-गङ्गापर को ही ले लीजिये इनमें बहुत उदाहरण हृदयग्राही नहीं बने। हम उन उदाहरणों को दृष्टि में होते हुए भी विस्तारमय से दिखाना नहीं चाहते विद्वान् स्वयं देखें। क्या साहित्य-दण्डकार कविराज विश्वनाथ, सभी उदाहरण अपने नहीं दे सकते थे इसी से समस्त लीजिये। साहित्यविन्दु

मे साहित्यविषयो का जैसा मधुराक्षरो में स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण हुआ है वह तो साहित्यविद्वानु ही बताएंगे । यद्यपि यह ग्रन्थ अल्पवय है तथापि काव्यप्रकाशवत्-नाटकादि भेदो से विरहित नहीं, साहित्यदर्पणवत् विषयविवेचना दरिद्र नहीं, प्रमेयांश को परिष्कृत करता हुआ भी रसगङ्गाधरवत् — दुष्प्रघप्यं (दुर्बुह) नहीं, अलकार-कौस्तुभवत्—धनुपयुक्त विस्तारबहुल नहीं, चन्द्रालोक साहित्यसारवत्—केवलपद्यबद्ध नहीं, पद्यबद्ध ग्रन्थो मे विवशतावश प्रतिपाद्य विषयो का सकोच करना पड़ता है पूर्ण विश्लेषण नहीं हो पाता ।

साहित्यविन्दु के निर्माण-प्रयोजन

इस ग्रन्थ के निर्माण-प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

छात्रों को सरल रीति से साहित्यशास्त्र का सामान्य ज्ञान कराना । अलकारादि के भेद-प्रभेदो को उलझत से बचाना । प्राचीन-साहित्य ग्रन्थो के गन्दे अश्लील उदाहरणो से हटाकर शिक्षाप्रद उदाहरणो द्वारा भारतीय सम्पत्ता एव सस्कृति की ओर अग्रसर करना । साम्प्रतिक अल्पश्रमी छात्रों को परिष्कृत-सरलसस्कृत द्वारा वाद-युग की प्राचीन-पद्धति में प्रवृत्त कराना । जिन ग्रन्थों में यह पद्धति नहीं है उनको विद्वत्समाज प्रादर की दृष्टि से नहीं देखता प्रत्युत साहित्यशास्त्र की इस भाषा को नटभार्या मानता है, और कहता है कि साहित्य कोई प्रौढ विद्या नहीं, परन्तु रसगङ्गाधर अलकार-कौस्तुभ साहित्यविन्दु ग्रन्थो के निर्माण के पश्चात् अब विद्वत्समाज भी 'साहित्यशास्त्र कोई प्रौढ विद्या नहीं' यह कहने का साहस नहीं कर सकेगा । साहित्यविन्दु में पद-पद पर शास्त्रान्तर प्रमाणाँ से साहित्य विषयों को उपोद्धत किया गया है जिससे यह बात अवगत हो जावे कि साहित्यशास्त्र सब शास्त्रो का सार है । विप्लेषण भय से सभी उदाहरण भी यहाँ पवित्र एव केनाप्यनाघ्रात, दिये हैं । साहित्यविन्दु के पचासो स्थलो में काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, और बाहुल्येन रसगङ्गाधर पर विचार किया गया है वह किसी र्वं से नहीं, प्रत्युत वाद-युग की प्राचीन पद्धति की रक्षार्थ । भट्टमम्मट और

हर्ष-मिश्र की यह किंवदन्ती सुनने में ही आती थी कि श्रीमम्मट ने हर्षमिश्र के महाकाव्य नैपथ्य को अनेक दोष दूषित बतलाया था। परन्तु उसके अनन्तर कालीन उद्भट साहित्य-ग्रन्थकारों (विश्वनाथ कविराज, जगन्नाथ पण्डितराज, विश्वेश्वरतार्किक प्रभृति) ने भी अपने ग्रन्थों में नैपथ्य का एक भी दोष नहीं दिखलाया। केवल एक दोष रसगङ्गाधरकार ने दिखाया है—तब यह भी नहीं कह सकते कि उधर दृष्टि नहीं गई। साहित्यविन्दु में सम्पूर्ण ही दोष-प्रकरण नैपथ्य से लिया गया है जो ग्रन्थ का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करता है। हम अधिक न लिखकर इसकी उपयोगिता का निरुपेय विद्वानों पर ही छोड़ते हैं।

प्रवृत्त-ग्रन्थकार के सबन्ध में भी यहाँ दो शब्द लिखने अनुचित नहीं होंगे। साहित्यविन्दुकार पवित्र-कुक्षेत्र भूमि के निवासी गौड़ ब्राह्मण हैं। आपका जन्म स० १९५२ में हुआ था। आपके पिता पितृव्य श्री मोक्षराम मनसाराय मन्हरामजी कृषिकार थे, परन्तु बड़े भ्राता प० मूलचन्द्रजी और कनिष्ठपितृव्य प० शिवदत्तजी अच्छे विद्वानु थे। उनसे तथा अन्य विद्वानों से आपने स्वतन्त्ररूपेण अध्ययन कर शास्त्रों का चूडान्त ज्ञान प्राप्त किया। और फिर वि० १९७५ में पचापविश्वविद्यालय की शास्त्रि-परीक्षा भी उत्तीर्ण की। ४० वर्षों से आप जीद, लायलपुर, महेन्द्रगढ़, कुरुक्षेत्र नगरों के महाविद्यालयों में प्रधानाध्यापक पद पर पढाते रहे हैं। १९७७ सवत् में गोवर्धन मठाधीश जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीभारती वृष्णतीर्थ ने आप को 'विद्यासागर' पदवी से अलंकृत किया। आसन ३० वर्षों से आप पचापविश्वविद्यालय की शास्त्रिपरीक्षा के मुख्य परीक्षक हैं। और संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भी आप परीक्षक रहे हैं। आपने बीसों ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें न्यायमुक्तावलि, न्यायदर्शन, वेदान्तसार और कुरुक्षेत्रमाहात्म्य की टीकाएँ मुद्रित और प्रसिद्ध हैं। निरुक्त-महामाष्य और लघुकौमुदी की टीकाएँ अभी अप्रकाशित हैं। मौलिकग्रन्थ—सुरतान चरित्रकाव्य, दुर्गाम्युदयनाटक, साहित्यविन्दु और संस्कृतेतिहास हैं। इसी संस्कृतेतिहास पर २०१७ स० में विश्वविद्याप्रतिष्ठान बम्बई की

ओर से (कीर्तिशेखर द्वारा) आपको 'महामहोपाध्याय' पदवी प्राप्त हुई है। २०१० स० मे ५० वामदेव जी उपाध्याय की प्रेरणा से अ० भा० संस्कृत-प्रचारक मण्डल की ओर से एक महती सभा मे आपको संस्कृत सेवार्थों के उपलक्ष्य मे दिल्ली राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा ५०००) पाँच हजार रुपये की पैली भेंट की गई थी। भावाश्रमाली दिल्ली से आपके वेदों पर भाषण होते हैं। आजकल आप संस्कृत-विश्वपरिचरितंबन्धित भारतीय-विद्याभवन दिल्ली मे सम्मानित प्राध्यापक हैं और प्रखिल-भारतीय संस्कृत-प्रचारक मण्डल का सचालन कर रहे हैं। आपकी भाषा से मैंने साहित्यविन्दु पर हिन्दी टीका लिखकर छात्रों के उपकारार्थ साय जगा दी है। इसकी उपयोगिता का निरुपय विडानु ही करेंगे। इस सटीक ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय संस्कृतप्रेमी—भारतविख्यात पुस्तक-प्रकाशक, श्री सुदर्शनकुमार, प्रबन्धाध्यक्ष—श्री भारत भारती प्राइवेट लि० दिल्ली को है जिन्होंने अपने अत्यावश्यक अनेक कार्यों को छोड़कर इसे शीघ्र प्रकाशित किया है।

नम्रनिवेदक

जीवनराम शास्त्री

विषय-सूची

प्रथमविन्दो		व्यञ्जना लक्षण	५०
काव्यलक्षण	४	रस लक्षण	५८
काव्यफल	८	रस मे प्रमाण	६२
काव्यनिर्माण समय	११	विभावानुभाव संचारि लक्षण	६२, ६३, ६४
काव्यकारण	१२, १४, १५	रस-भेद	६५
काव्यभेद	१७, १९, २०	स्वायिभाव भेद	८३
रूपक लक्षण	२३	रसामास-भावमान्यादि	८४
रूपक भेद	२४	तृतीयविन्दो	
नाटक लक्षण	२५	काव्यदोष लक्षण	९१
शब्द लक्षण	२७	काव्यदोष भेद	९२
पूर्वरङ्ग लक्षण	२७	वाक्यदोष	९९
नान्दीलक्षण	२९	अर्थदोष	११०
प्रस्तावनालक्षण	२९	रसदोष	११३
विष्वम्भक प्रवेशक लक्षण	३१	मदोपत्व	११९
कञ्चुकि-विदूषक लक्षण	३१	चतुर्थविन्दो	
नाट्योक्ति लक्षण	३३	रीति-भेद	१२८
काव्य-संहार प्रशस्ति लक्षण	३३	रीति लक्षण	१३०
भाषा-विभाग	३४	गुरुविभाग	१३२
श्रव्य काव्य	३६	माधुर्यं श्लोच और प्रसाद	१३२, १३३, १३४
महाकाव्य खण्डकाव्य चम्पू लक्षण	३६	अन्तर्भाव	१३६
द्वितीयविन्दो		माधुर्यादि गुणव्यञ्जक	१३८
शब्दापेयैविध्य	३९	पञ्चमविन्दो	
वाचक साक्षरिणक व्यञ्जक लक्षण	४२, ४९, ५६	अलंकार सामान्य लक्षण	१४३
अभिधा लक्षण	४२	शब्दालंकार विभाग	१४५
लक्षणा लक्षण	४४	चित्रालंकार लक्षण	१४५

यत्नोक्ति लक्षण	१४६	अप्रस्तुतप्रदासा	१६४
अनुप्रासालकार	१४७	ध्याजस्तुति	१६४
गूढालकार लक्षण	१४८	अर्थान्तरपास	१६६
श्लेषालकार लक्षण	१५०	विरोधाभास	१६७
प्रहेलिकालकार लक्षण	१५१	प्राक्षेप	१६८
प्रदोत्तरालकार लक्षण	१५३	कारणमाला	१६८
यमकालकार लक्षण	१५४	एकावली	२००
भाषासमालकार लक्षण	१५५	स्वभावोक्ति	२०१
अर्थालकार		छलोक्ति	२०२
उपमालकार लक्षण	१५७	परिवृत्ति	२०२
मालोपमालकार लक्षण	१५८	पर्यायोक्त	२०३
अनुपमालकार लक्षण	१६२	विभावना	२०४
अनन्वयालकार लक्षण	१६३	विधेयोक्ति	२०४
स्मरणालकार लक्षण	२६५	असंगति	२०६
रूपकालकार लक्षण	१६६	पर्याय	२०६
प्रतीपालकार लक्षण	१६८	विपम	२०८
उत्प्रेक्षालकार लक्षण	१६८	सम	२०८
उल्लेख	१७३	व्याघात	२१०
भ्रातिमानु	१७३	विशेष	२११
सन्देह	१७५	यथासख्य	२१२
अपह्नति	१७६	समाधि	२१२
निश्चय	१७८	तद्गुण	२१४
अतिशयोक्ति	१७८	अतद्गुण	२१४
तुल्ययोगिता	१८१	परिसख्या	२१६
प्रतिवस्तूपमा	१८३	उदात्त	२१६
व्यतिरेक	१८४	विकल्प	२१८
सहोक्ति	१८५	काव्यलिङ्ग	२१८
विनोक्ति	१८६	प्रत्यनीक	२२१
निदर्शना	१८७	अर्थापत्ति	२२१
दृष्टान्त	१८८	सार	२२४
समासोक्ति	१८९	ससृष्टि	२२५
परिकर	१९२	सकर	२२६

शुद्धि-अशुद्धि-पत्रम्

अध्ययनात् पूर्वं अशुद्धी शोधयत

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
अक्षय	अक्षय	४०
गोमातृषण्डस्य	गोमातृषण्डस्य	७३
सभादण	सभादण	७५
कातविषयातीति	कातविषयारति	८३
दशानि	स्मरति	८५
नतेनगप्रूणां	नतेनपुनद्विषा शत्रूणा	११३
रूपकालकार	रूपकमिरयय	११३
विरुध्यतेपुनद्विषां	विरुध्यते	१२६
चेति	एवेति	१२७
दतु	ददतु	१६६
नरुत योग्या	कर्तुं योग्या	१६७
विषाय	विषार्यं	१७६
घावत्युभयत्र	घावत्युभयत्र	१७६
मौर	मौरय	१७६
तददय	तदय	१६२
अपह्लोतु	अपह्लोतु	१६२
अपोज्यत्वोक्ते	अपोजकत्वोक्ते	२२६

साहित्यविन्दुः

मुशीलाख्य-हिन्दी-त्र्याख्यया सहितः

प्रथमो विन्दुः

इह खनु मङ्गलाचरणं शिष्टाचारान्, फलदर्शनान्, श्रुतितश्चेति स्मृतेः। “मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रयन्ते” इति भूवादिभूत-भाष्योक्तेषु प्रारिप्सित-प्रतिबन्धकोपशमनफलं, शिष्टाचारपरम्पराप्राप्त ‘समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्’ इतिश्रुतिसमायितं गणेशादिनमस्कारात्मक मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबन्धश्चिकीर्षितं प्रतिजानीते।

स्वतन्त्रा सर्वतन्त्रेषु येषां धीरवगाहते।

साहित्यविन्दुनिर्मातृन् पितृपादान्प्रणोमि तान् ॥

श्रीमत् पूज्य तातचरण, महामहोपाध्याय महाकवि पंडित छग्जूराम शास्त्री विद्यासागर, निजनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या करने के निमित्त मङ्गलाचरण-पद्यों का प्रयोजन बतलाने के लिये भवतरण देते हैं— इह खल्विति—मङ्गलाचरण करने में शिष्टाचार फलदर्शन और श्रुति प्रयोजक हैं। साक्षान्तघर्माभिधगत याथातथ्य विद्वान् शिष्ट कहलाते हैं। उनका कहना करना शिष्टाचार कहलाता है, उसका उपोद्बलक फलदर्शन है, दोनों का उपोद्बलक श्रुति-प्रामाण्य है। मङ्गलाचरण—प्रारिप्सित (ग्रन्थ) की निमित्त के प्रतिबन्धक विघ्नों का विघातक होता है। विघ्न-विघात से निमित्त समाप्ति होती है। इस प्रकार मङ्गल विघ्नविघात का साक्षान् कारण, और समाप्ति का परम्परा-भवन्य से (विघ्नविघात द्वारा) कारण होता है। व्याकरण-महानाष्यानुसार—जिन शास्त्रों के आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण होता है, वे शास्त्र निःसन्देह

फलने धीर फूलते हैं। श्रुति के अनुसार भी अपने क्रियमाण ग्रन्थ की समाप्ति चाहने वालों को मङ्गलाचरण अवश्यमेव करना चाहिये। इन्हीं सब प्रमाणों से तथा मेरे से किये हुए मङ्गलाचरण को देखकर मेरे शिष्य-प्रशिष्य भी अपने ग्रन्थों में मङ्गलाचरण किया करें, इस उपदेश के हित ग्रन्थवार आदि में गणेशादि का मङ्गलाचरण करते हैं। यद्यपि कारिकाकार और वृत्तिकार एक होने के कारण भवतरण में उत्तम पुरुष के एकवचन का प्रयोग प्रतिजाने होना चाहिये या, तथापि भेदारोप करके ऐसा प्रयोग निरभिमानिता प्रदर्शनार्थं किया जाता है। इससे अहंपदजन्य ग्रहकार का आभास नहीं होता ॥

श्री गणेशं तमस्कृत्य मामर्को नाम मातरम् ।

पितरं मोक्षरामाह्वं मूलचन्द्रं च सोदरम् ॥१॥

जीन्दपुर्या रविक्रोशे जामणीग्रामसन्निधौ ।

कुरुक्षेत्रमध्यवर्ति - रिटोली-ग्रामवासिना ॥२॥

महामहोपाध्यायेन विद्यासागरशास्त्रिणा ।

गौड़-पण्डितवर्येण ध्वञ्जुरामेण शर्मणा ॥३॥

साहित्यसारमादाय साहित्यागम-विस्तरात् ।

साहित्यविन्दुः क्रियते साहित्यज्ञान-वृद्धये ॥४॥

साहित्यागमविस्तरात् । साहित्यशास्त्रविस्तरे प्रविश्य, ल्यब्लोपे पंचमी । साहित्यं च सहितयोर्भावः कर्म वा साहित्यं व्यञ्जप्रत्ययः । सहभावश्च शब्दार्थयोः, सहितयोः शब्दार्थयोः काव्ये प्रयोगात् । तुल्य-कक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वचमत्कारजनकत्वाच्च । तदिव—कविकर्मणः शासकत्वात्साहित्यशास्त्रमिति व्यपदिश्यते । यत्रेदमुच्यतेऽस्माभिः “ताव-च्छास्त्रं शक्तिर ग्यायव्याकरणादिकम् । कागताकटाक्षवत् यावत्साहित्यं भावलोक्यते ॥ साहित्यात् प्रकृतेः पुंसः ससारो जायतेऽल्लिलः । साहित्यादेव मोक्षश्च जीवात्म-परमात्मनो ॥ किं बहुना—“अधीयानोऽपि शास्त्राणि

साहित्येन विना तु ना । सम्यङ् नाप्नोति शास्त्रार्थनिर्यान् नाग्यमृते यथा ॥
 अत्र साहित्यागमो विषयः । तज्ज्ञान प्रयोजनम् । तज्ज्ञानकामोऽधिकारी ।
 प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सबन्धः' इत्यनुबन्धसत्तुष्टयम् । अन्याव्ययनप्रवृत्ति-
 प्रयोजकज्ञान-विषयत्वं चानुबन्धसामान्यतक्षणम् । तत्र विषयज्ञानादिष्ट-
 साधनत्वप्रकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारक चेति ज्ञानद्वय जायते । अधिकारिज्ञा-
 नेन कृतिसाध्यत्वप्रकारक, प्रयोजनज्ञानेन चेष्टसाधनत्वप्रकारक, सबन्धज्ञा-
 नेन चोभयज्ञान जायते' इति विवेकः । न च नित्ये सन्ध्याबन्धनादावप्रवृत्ति-
 प्रसङ्गः । तत्रेष्टसाधनत्वाभावादिति वाच्यम् । तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य
 पापक्षयस्य च फलत्वेन कल्पनात् । नचैवं तस्य काम्यत्वापत्तिः फलवत्त्वा-
 दिनि वाच्यम् । फलकामनापूर्वकानुष्ठानाभावात् ॥४॥

श्रीगणेशमिति—भगवान् गणेश, मामकी नामक माता, मोक्षराम
 नामक पिता, श्रीर मूलचन्द्र नामक ज्येष्ठ भ्राता को सादर प्रणाम करके,
 जौन्द नगर से बारह कोस पर जामणी ग्राम से तीन कोस पर बसने-
 वाले, श्रुति स्मृति-पुराणैतिहास-विदित पवित्र कुश्मोद-मध्यवर्ति, रिटोली
 नामक ग्राम के वासी, महामहोपाध्याय महाकवि श्री धञ्जूराम शास्त्री
 विद्यासागर, साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों का सार ग्रहण करके साहित्यज्ञान
 की अभिवृद्धि के लिये 'साहित्यबिन्दु' नामक ग्रन्थ का निर्माण करते हैं ।
 संहित के भाव या कर्म को साहित्य (साहित्य-शास्त्र) कहते हैं ।
 सहभाव यहाँ शब्द और अर्थ का लेना चाहिये क्योंकि काव्य में शब्द
 और अर्थ दोनों का ही प्रयोग साथ-साथ होता है । दोनों तुल्यकक्ष हैं,
 समान ही चमत्कार-जनक हैं । न तो शब्द की अपेक्षा अर्थ ही न्यूनाधिक
 चमत्कार-जनक है, और न अर्थ की अपेक्षा शब्द ही । यह साहित्य-
 शास्त्र, कविकर्म (काव्य) का शासक (शिक्षाप्रद) होने से साहित्य नाम से
 पुकारा जाता है । यहाँ ये पद्य हैं—तावच्छास्त्रमिति—न्याय-व्या-
 करणादि शास्त्र तभी तक पढ़ने में रुचि रखते हैं जब तक कामिनी-बटाक्ष-
 स्थानीय साहित्यशास्त्र दृष्टिगत नहीं होता । साहित्यादिति—प्रवृत्ति और

पुरुष के साहित्य (सयोग) से समस्त ससार की उत्पत्ति होती है। और जीवात्मा और परमात्मा के साहित्य (अभेदबुद्धि) में ही मोक्ष होता है। अथोमानोऽपीति—जैसे दिना भाग्य घनाज्य नहीं होता, वैसे साहित्य-शास्त्रीय ज्ञानशून्य पुरुष कदापि शास्त्रों का मर्मज्ञ नहीं होता। अत्रेति—यहाँ साहित्यशास्त्र विषय है, उसका ज्ञान प्रयोजन है, साहित्यज्ञानेच्छु अधिकारी, और प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सबन्ध है। यही अनुबन्ध घटुष्टय कहलाता है। ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान का विषय अनुबन्ध होता है। विषयज्ञान से इष्ट-साधनत्व-प्रकारक और श्रुति-साध्यत्व-प्रकारक दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं। विशिष्ट बुद्धि में विशेष्यता का अद्यच्छेदक जो धर्म तत्प्रकारक निश्चय को कारण होने में अधिकारी के ज्ञान से—यह वस्तु मेरी कृति से साध्य (निष्पाद्य) है ऐसा ज्ञान होता है। यह यहाँ प्रवृत्ति-साध्यता ली जाती है। प्रयोजन ज्ञान से 'इत्थं मदिष्टसाधनम्' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है। इष्ट साधनता यहाँ इष्ट में रहनेवाली जो साध्यता (कार्यता) उसका निरूपक (साधक) कारण लेना है। सबन्ध ज्ञान से उभयज्ञान (इष्टसाधनत्व-प्रकारक और श्रुति-साध्यत्व-प्रकारक ज्ञान) होता है। शब्दा—यदि ऐसा माना जावे तो सम्पादि नित्य धर्म में प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि वहाँ इष्ट-साधनत्व का अभाव है। परिहार—वहाँ भी पापक्षय फल माना जाता है। फल होने पर यह काम्य भी नहीं माना जाता, क्यों ? फल की कामना (इच्छा) न होने से ॥४॥

(शाब्दतक्षणम्)

रम्यं शब्दार्थयुगलं काव्यमहमाभिरिच्यते ।

रम्यताऽऽलौकिकाह्लाद-जनिका तत्र मन्यताम् ॥५॥

तत्र शब्दार्थयुगले, रम्यता-रमणीयता, सा च पुनः पुनश्चारण्ये-
नानुसंग्यानेन आलौकिकमाह्लाद जनयति । आलौकिकस्य आह्लादगतश्च-
मत्कारणपरपर्यायोऽनुभवताक्षिणो जातिविशेषः । 'पुत्रते जातः' 'धन ते

दास्यामि' इति वाक्यार्थबुद्धिजातस्याह्लादस्य न अलौकिकत्वम्, अतस्तस्मिन् वाक्ये नैव काव्यत्वप्रसङ्गः । एवं हि चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगल काव्यमिति फलितम् । काव्यं पठितं, काव्यं बुद्धं, इत्युभयविधमवहारदर्शनात्, काव्यपदशक्यतावच्छेदकं व्यासज्यवृत्ति, तदयमावच्छेदक-काव्यत्वस्योभयनिष्ठत्वात् । उभयोरेव यथायथं कविप्रतिभाया आधार-भूतत्वाच्च । यत्स्वप्तिपुराणे—'शास्त्रे शब्दप्रधानत्व तेन काव्यं विशिष्यते' "इति कर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया" इति वाक्यपदीये चोक्तं तदर्थान्तरान्निप्रायेण, अतएव 'नामरूपे व्याकरवार्ति' इति धुनिः संगच्छन्ते । पूर्वेः काव्यतत्त्वविद्भिः विपश्चिद्भिर्विद्वग्मनो विनोदाय काव्यस्य नानालक्षणानि कृतानि तेषु कानिचिच्छात्र-बुद्धि-वैशद्याय लिख्यन्ते । तथाहि—'शब्दार्थो संहितौ काव्यमिति काव्यालंकारसारसद्विद्याकरो नामहः । इष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली काव्यमिति काव्यालंकार-कुमुद-कलाधरो दण्डी । 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति ध्वन्यालोककारः काव्य-पुरुषावतार आनन्दवर्धनः । 'तद्वदोषो शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुन क्वापीति, काव्यप्रकाशकारो वाग्देवतावतारो मम्मटः । वाक्य रसात्मकं काव्यमिति, साहित्यालंकारणधारः साहित्यवर्णनकारः कविराज-विश्वनाथः । तत्र । वस्त्वलंकारप्रधानाना काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । नीरसेऽपि वस्त्वलंकारव्यञ्जके शब्दार्थयुगले काव्यत्वस्य ध्वनिकारादि-सकलालंकारिकमम्मतत्वात् । 'कवयति रसभावान् विमृशतीति कविः तस्य कर्मकाव्यमिति साहित्य-विद्याविधि-विद्याधर । 'निर्दोषं गुण-वत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् । रसान्वित कविः कुर्वन् कीनि प्रीति च विन्दति ॥ इति सरस्वतीकण्ठान्नरत्नकारः सर्वज्ञो भोजराज । 'निर्दोषा सक्षणवती सरोतिर्गुणभूयिता । सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्य-नामभाक् ॥ इति चन्द्रालोककर्ता पीपूयवर्षो जयदेव । यत्तु-सहृदयगोष्ठी-गरिष्ठ-कविपण्डितराज-जगन्नाथ-प्रणोते रसगङ्गाधरे—'रमणीयार्थप्रति-पादकः शब्दः काव्यमिति काव्यलक्षणमुक्तं तत्र पुक्तम् । काव्यन्व-प्रयोजकस्यास्वादव्यञ्जकत्वस्य शब्दार्थयुगलेऽभिधेयात्, शब्दार्थभारी

काव्यमिति ध्वनिकारादि लक्षणविरुद्धत्वाच्च । अतएव-धेदत्वादेरुभयवृत्तित्व-
प्रतिपादक 'तदधीते तद्वेदेति सूत्रं तद्भाष्यं च सगच्छते । अर्थावबोधो
वेदनमिहाभिप्रेतं न स्वरूपमात्रम् । किञ्च शब्दमात्रस्य काव्यत्वाद्भोकारे
शब्दनिष्ठानामेव दोषगुणालकार-ध्वनीनामत्र निरूपणार्हत्वेनार्थगताना
तेषां निरूपणस्यानुचितत्वात् । न च रसोपयोगितामात्रेण तेषां निरूपण-
मस्त्विति वाच्यम् । काव्याङ्ग-निरूपण प्रतिज्ञाय तेषां निरूपणस्या-
सगतत्वात् । भामह-रुद्रट मम्मट वल्लोक्तिजीवितकारादयोऽपि हि शब्दाप्यंयो
साहित्यमेव काव्यत्वप्रयोजकमभिप्रयन्ति । अन्यथा साहित्यमिति व्यपदे-
दोपि शास्त्रस्यास्य न युज्येत इत्यहो मूलोच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्षं पण्डित-
राजस्य ॥५॥

तत्रेति—सर्वप्रथम काव्य-लक्षण कहते हैं—रम्यमिति । रमणीयता-
सम्पन्न शब्दार्थ-युगल ही हमारे मत में काव्य है । न तो केवल कमनीयता-
पूर्ण शब्द ही काव्य होता है और न केवल वाच्यार्थ चमत्कारकारी अर्थ
ही । रमणीयता वहाँ प्रलोकिक=लोकोत्तर आनन्द-जनकता ही
स्वीकरणीय है, वह रमणीयता वारम्बार उच्चारण द्वारा तथा अनु-
संधान=अर्थज्ञान द्वारा सहृदयों के लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती
है । उस आनन्द को एक ही अधिकरण में सीमित नहीं कर सकते ।
आनन्दनिष्ठ-प्रलोकिकत्व यहाँ चमत्कारित्वापर नामक अनुभवजन्य अथवा
अनुभव-प्रमाणक जाति विशेष ही मन्तव्य है । 'अनुभव साक्षिक' बहने से
इनमें प्रमाणों का भिरास हो जाता है । वह अनुभव सहृदयों का ही होता है ।

अथ प्रलोकिकत्व विशेषण का श्रुत्य वतलाते हैं—पुत्रस्ते जात
इत्यादि—'तुम्हारे पुत्र हुआ', 'तुम्हारे लिये मन दंगा' इत्यादि वाक्यार्थ
में उतरभ होनेवाला आनन्द प्रलोकिक नहीं कहा जा सकता अतएव उक्त
वाक्य में काव्यत्व का प्रसङ्ग भी नहीं आता है । अब काव्य का परिष्कृत
लक्षण करते हैं—एव हीति—चमत्कार-विशिष्ट शब्दार्थ-युगल ही काव्य
होता है । 'काव्य पदा', 'काव्य जाना' ऐसा दोनों प्रकार का व्यवहार देखा

जाने से कान्य-शब्द की प्रवृत्ति दोनों में ही रहती है। क्योंकि लक्ष्य कान्य है, लक्ष्यनावच्छेदक कान्यत्व शब्द और अर्थ दोनों में ही रहता है। कवि-प्रतिभा का आसार होने से नमानरूपण दोनों ही कवि-भरन्मन-गोचर हैं। यत्त्वानिपुराणे इति—ग्रन्थिपुराण में लिखा है कि शास्त्र में शब्द ही प्रधान है, कान्य में वैशिष्ट्य तद् द्वारा ही आता है। और लोक में सम्पूर्ण कार्य-निर्वाहकता शब्दाधीन है, यह जो वाक्यपदीय में कहा गया है, यह दोनों शब्दों को अर्थ का आशय होने के अभिप्राय से है। इसी कारण नाम (शब्द) रूप (अर्थ) दोनों का नाम श्रुति में लिया है। अब यहाँ विद्वानों के मनोविमोह के लिये प्राचीन-साहित्यशास्त्रियों के अनेक कान्य-नगर बुद्धिविगल के लिये लिखे जाते हैं। तथाहि—शब्दार्थो संहितौ वाक्यमित्यादि—शब्द और अर्थ दोनों मिले हुए ही कान्य है। यह सर्वश्री-मानह का मत है। रमणोपार्थ विशिष्ट पद-समूह काव्य है, यह आचार्य दण्डी का मत है। काव्य का आत्मा ध्वनि है, वह शब्द और अर्थ उभयनिष्ठ है, अतः शब्द और अर्थ दोनों ही कान्य हैं, यह मत आनन्दवर्धन का है। दोषरहित, गुणसहित, अनकारों से अलङ्कृत, शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं। यदि कहीं अनकार स्पृष्ट न हो तो भी कोई क्षति नहीं, यह श्री मम्मट का मत है। रसामक वाक्य ही काव्य है—यह कविराज विश्वनाथ का मत है। इसके मत में 'रसामक' पद का अर्थ है—रस ही जिसका जीवन-सूत्र माना है, वह वाक्य 'रसामक' कहलाता है। परन्तु यह कान्य-नगर ठीक नहीं, ऐसा कहने से ध्वनिकार आदि में सम्मत्त वस्तु और अनकार-लक्ष्य नीरस शब्दार्थ-युग्म में जो कान्यत्व रहता है, वह नहीं रहेगा। रसमावादि विशेषज्ञ कवि का कर्म कान्य है, यह विद्याधर का मत है। दोषरहित अनकाररहित गुणवत् और रसवत् वाक्य ही कान्य है, यह भोजराज का मत है। निर्दोष और सकारातीति-गुणानकार रसवती तथा अनेक वृत्तिप्रती भावों का कान्य होता है, यह कवितादि-अपदेश का मत है। रमणोप अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है, यह पण्डितराज जगन्नाथ का मत है। परन्तु ठीक नहीं

क्योंकि आस्वादव्यञ्जकत्व ही काव्य-निर्माता है । वह शब्द और अर्थ दोनों में ही समान रूप में रहना है । इसीलिये 'तदधीते तद्वेद' सूत्र और उसका भाष्य संगत है । क्योंकि सूत्र में अर्थव्योच ही वेदन माना है न कि स्वरूपमात्र । किंचेति—और शब्दमात्र में काव्यत्व मानने पर शब्दवृत्ति दोषादि का ही निरूपण साहित्यशास्त्र में कर सकेंगे, अर्थनिष्ठ दोषादि का नहीं, यह महती आपत्ति उपस्थित हो जावेगी । भामह्यादि सभी प्राचीन साहित्यशास्त्रों, शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यता मानते हैं, अन्यथा इस 'साहित्यशास्त्र' नाम की भी सगति न होगी ॥५॥

(काव्यफलम्)

धर्मस्वार्थस्य कामस्य मोक्षस्यापि प्रयोजकम् ।

कीर्तिप्रीतिकरं चाह भामहः काव्यसेवनम् ॥६॥

तत्र काव्यतो धर्मप्राप्तिरीश्वरस्तवनादिना यदुक्तं स्तुतिकुमुनाञ्जली—
 'ईशे तु व्यपिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये । चेतोनिवृत्तये परोप-
 कृतये धर्मसिधये भारती ॥ इति ॥ 'काव्यालापाश्च वर्जयेत् इति स्मृति-
 वाक्यान्तु भगवद्भिन्नवर्णनविषयकमेव, एतएव श्रीमद्भूगवते प्रथमस्कन्धे
 पञ्चमाध्याये 'न यद्वचश्चित्रवद हरेर्यशः' 'स वाग्वितर्गा जनताद्यविल्लव,
 इत्याद्युक्तम् । अर्थप्राप्ती राजादिस्तुत्या । यत्रेदमनुभूयते—'पवित्रे यत्कुरुक्षेत्रे
 स्याण्शीश्वरमहापुरम् । तत्राद् हर्षस्ततो राज्यं चक्रे हर्षप्रदो विदाम् ॥
 लिखित्वा तस्य वै हर्षंचरितं काव्यमद्भुतम् । समागतः कविर्वाणः तच्च
 तस्मै न्यवेदयत् ॥ तत्काव्यामृतमापीय हेम्नो भारशतं नृपः । स्वसभाया-
 प्रधानत्वं वारणाय कवये ददौ ॥ कामस्य—विषयभोगादे स्वर्गदिव्यं
 कामनाविषयस्य प्राप्तिरर्थद्वारा, अर्थसाध्य-यज्ञादिद्वारा यत्र प्राप्तिर्दिव्यः ।
 'धर्मोदर्थस्ततः कामः कामात्सुखसमुन्नतिरिति स्मृतेः । 'स्वर्णकामो यजेत'
 इति श्रुतेश्च । मोक्षप्राप्तिस्तु मोक्षोपयोगि वाक्योपनियदादौ तेवा व्युत्पत्ति-
 जनकत्वात् । 'लोकव्युत्पन्नस्य श्रेयार्थप्रतीतेरिति साख्यदर्शनात् । 'मुमुक्षु-
 षोऽपि सिध्यन्ति विरागाज्ञापूर्वकात्' इत्यभिप्रेत्युक्तवचनाच्च । एत एव

धर्मार्थकाममोक्षाः पुरुषार्थपदेनोच्यन्ते । तथाग्निपुराणे—‘धर्मार्थ-
काममोक्षाख्याः पुरुषार्था उदाहृता इति ॥ परमपुरुषार्थश्च सुखदुःखा-
भावश्चेति नैयायिकाः । भोगापवर्गाविति साख्याः । यज्ञादि-कर्मैति
मीमांसकाः । ‘ऋते ज्ञानाश्च मुक्तिरिति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानमेवेति वेदान्तिनः ।
‘धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि । अन्त करणं शुद्धेश्च भक्तिः परम-
साधनम्’ ॥ इति स्मरणात् पञ्चदेवभक्तिरिति वयं स्मार्ताः । अन्यदन्यतो-
ऽवसेयम् । कीर्तिकरत्वं वाल्मीकि, व्यास, भास, शूद्रक, प्रथम कालिदास,
गुणाढ्य, समुद्रगुप्त, कालिदासकाव्यकार, कुमारदास, भर्तृहरि, भट्टि,
भारवि, सुबन्धु, हर्षवर्धन, बाण, भट्टनारायण, दण्डि, भवभूति, माघ,
मुरारि, रत्नाकर, विशालदत्त, त्रिविक्रमभट्ट, पद्मगुप्त-कालिदास,
राजशेखर, भोजराज, क्षेमेन्द्र, सोमदेव, विह्वल, कल्लण, मङ्गल, श्रीहर्ष,
घोई, जयदेव, जगद्धर, शेषकृष्ण, जगन्नाथ, नीलकण्ठ, वेङ्कटाचरि,
हरिहर, अम्बिकादत्त, अखिलानन्द, प्रभृतीनामिव, चन्द्र, सूर, तुलसी,
केशव, बिहारी, भूषण, पद्माकर, मंयिलीशरण, प्रसादादीनामिव या ।
प्रीतिकरत्वम्—“कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते” “काव्यशास्त्र-
यिनोदेन काव्यो गच्छति धीमताम्” इत्यादिना सहृदयानामतीव सुप्रतीतम् ।
अथमेवार्थ—“काव्यं यज्ञते” इति सूत्रेणाभिहितः साहित्यशास्त्रनिर्माते काव्य-
प्रकाशे ॥६॥

इस ग्रन्थ का फलनिर्देश करनेवाली कारिका का अवतरण करते हैं
अस्येति—जैसे प्रयाजादिक, यज्ञ के अङ्ग होते हैं, वैसे ही यह ग्रन्थ भी
वाक्य का अङ्ग है, अतः वाक्यों के अध्ययनादि से जो फल होते हैं, इनके
भी वे ही प्रधान फल हैं । इस कारण वाक्यों के फल कहते हैं—

धर्मस्यार्थस्येत्यादि—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का देनेवाला, कीर्ति
और प्रीति का करनेवाला वाक्य का निर्माण तथा अध्ययन होना है ।
वाक्य से धर्म की प्राप्ति—ईश्वर-स्तुति द्वारा होती है । स्तुति-शुभुमाञ्जलि
में भी ऐसा ही भाग है—ईशे तु ध्यायितेत्यादि—ईश्वरस्तुति में प्रवृत्त हुई

वाणी, प्रख्याति (कीर्ति), ऐश्वर्य, चित्तप्रसाद, परोपकार और धर्मोत्पादक होती है। स्मृतियों में जो काव्याल्लापो का बर्णन निषिद्ध कहा है, वह असत्वाव्यविषयक है। इसीलिए श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में प्रत्येक पद में हरि का यशोगान करना ही कवि-कर्तव्य कहा है। कविता वही है जिससे पापों का नाश हो। अर्थेति—धन आदि की प्राप्ति, राजा-महाराजाओं की स्तुति से हो सकती है, जैसाकि महाकवि वाण ने सम्राट् हर्षवर्द्धन की स्तुति से प्राप्त की। कामस्येति—कामना विषयक स्वर्गादि की प्राप्ति द्रव्य द्वारा अथवा द्रव्य साध्य यज्ञादि द्वारा प्रसिद्ध ही है। जैसाकि स्मृति में लिखा है कि धर्म से द्रव्य, द्रव्य से काम और काम—इच्छापूर्ति से सुख की प्राप्ति होती है। मोक्ष के उपयोगी उपनिषदादि वाक्यों में व्युत्पत्ति पैदा करने के कारण काव्य मोक्ष का भी हेतु है। यहाँ यह बात जानने योग्य है कि काव्य, धर्म और अर्थ के प्रति साक्षात् कारण है। और काम तथा मोक्ष के प्रति अधिकांश परम्परा सबन्ध से कारण होता है। उपयुक्त बात की पुष्टि करने के लिये शास्त्रान्तर बचन होने चाहिये अतः काव्य वेदादि वाक्यों का भी व्युत्पादक है। इस अर्थ में साह्यसूत्र का प्रमाण देते हैं—लोकव्युत्पन्नस्येति—अर्थेति—काव्य-साहित्य ज्ञान, वैदिक ज्ञान को बढ़ाता है। काव्य मोक्ष-जनक है, इस अर्थ को अभियुक्त वाक्य से प्रमाणित करते हैं—मुमुक्षुवोपीति—पुण्यशाली जनो का राग भी अन्त में वैराग्य रूप में परिणत होकर मोक्षजनक हो जाता है। ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही शास्त्रों में पुरुषार्थ कहे गये हैं। किस शास्त्र के मत में कौन परम पुरुषार्थ है यह यहाँ बताया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये ही चार परम पुरुषार्थ माने गए हैं। पञ्चदेवेति—ब्रह्मा, विष्णु, शक्र, सूर्य और शक्ति ये पाँच देवता माने हैं। कीर्तीति—काव्य से वाल्मीकि, व्यासादि की कीर्ति हुई। प्रीतीति—और प्रीति सहृदयों की। यही बात 'काव्य यज्ञसे' इस कारिका से काव्यप्रकाश में मम्मट ने लिख-साई है ॥६॥

(काव्य-निर्माण-समय)

कविसंकेत-युक्तेन कविना कीर्तिमीप्सुना ।

मनः प्रसक्तौ कर्तव्यं काव्यमित्याह वाग्भटः ॥७॥

कविसंकेतश्च त्रिविधः । यथाह शौद्धोदनः—

असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात् ।

नियमस्य पुरस्कारात्सप्रशयस्त्रिधा कवेः ॥

अथमर्थः—यस्तुगन्या यन्न भवति तदपि कविभिर्निबध्यते यथा—
पुत्रे चन्द्रशरुमन-रादिकम् । किविदारमादिकुनपि न निबध्यते ।
यथा—वसन्ते भालती पुष्पम् । नियमाख्यानम्—

शूलो न सर्पो गिरिदाः शशी न हरिणी विधुः ।

इन्दुमीतिर्महादेवो गङ्गामीतिर्न तु क्वचित् ॥

नैपथेऽप्युक्तम्—‘भद्रवतुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगे कविलोक
एव । शशीपदस्यास्ति शशी ततोऽप्यनेवं मृगोऽस्मास्ति मृगोति नोक्त’ ॥
सम्पत्तरं चैतत्प्रतीमः ।

कथोना घटनान्यथ चराचर-विलक्षणा ।

अपत्तुमन्यथा कर्तुं कर्तुं या क्षमते जपत् ॥

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रज्ञापतिः ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिचरते ॥

मन-प्रसक्तिर्मनमो लेशोऽपि न शोभस्य परा प्रसन्नतेति यावत् ॥७॥

काव्य किस समय और किस प्रयोजन को लेकर बनाना चाहिये इस
विषय को स्पष्ट करने के लिये काव्य का निर्माण-काल बतलाने हैं—
कविसंकेतेति—कवियो की कीर्ति चाहनेवाले ने कवियों के मन्त्रों को
जान कर ‘मन की प्राप्ति के समय काव्य बनाना चाहिये’—ऐसा
कहा है । कवि-संकेत तीन प्रकार का होता है । प्रसन्नस्तु का निबन्धन,
उंके सुन्दर के चन्द्र-आदि का आरोप । यहाँ पर सन्नस्तु का भी अन्व

दिसलाना, जैसे वसन्त में मालती (चमेली) पुष्पों का न होना दिखलाना और चन्दन के वृक्ष में फल और पुष्पों का दिसलाना आदि । नियम का पालन करना जैसे—शूलोति—महादेव शूलो त्रिशूलधारी बहलाते हैं, न कि सर्पों । चन्द्रमा राशी कहलाते हैं, न कि हरिणी । इसी प्रकार शकर इन्दुमौली तो बहे जाते हैं, न कि शङ्गामौलि । नैपथ्य में भी यही कहा है कि पद के प्रयोग करने में कवियों का वचन ही प्रमाण है न कि व्याकरण, क्योंकि व्याकरण से तो राशी के समान मृगी भी शुद्ध हो सकता है, परन्तु मृगी कवियों से प्रयुक्त नहीं होता । ठीक है—कवियों की घटना ससार से विलक्षण है, वे जैसा चाहते हैं वैसा ही होता है । ब्रह्मा की सृष्टि प्रायः दुःखबहुला है परन्तु कवि की सृष्टि केवल आनन्दमयी ही है ॥७॥

(काव्ये व्युत्पत्तिशक्ति अभ्यासाना कारणत्वम्)

तस्य काव्यस्य निर्माणे समुल्लासे प्रचारणे ।

व्युत्पत्तिः शक्तिरभ्यासः त्रयं हेतुर्न हेतवः ॥८॥

अत्र हेतुपद काव्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदक-समुदायत्वावच्छिन्न-परम् । प्रयोजकता च व्युत्पत्तिशक्त्यभ्यासात्मके समुदाये वर्तते । अर्थात्—काव्यस्य रचने समुत्कृष्टत्वे प्रसिद्धौ च व्युत्पत्त्याविन्नयं दण्डचक्रादिन्यायेन हेतुर्न नृणारणिमणिन्यायेन हेतवः । तत्र व्युत्पत्तिर्बोधः । शक्ति-कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः । सर्व प्रतिभोच्यते । या विना काव्यं न प्रसरेत्प्रसृतं घोषहासाय । उक्तं चान्यत्र—‘द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च । प्रतोपमं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम् ॥ अभ्यासः पुनः पुनर्गद्यपद्यरचनम् । एतत् त्रयं मिलितमेव काव्यनिष्ठकार्यता निरूपित-कारणतावच्छेदकम् । अनुपहसनीय-काव्यत्वाच्छिन्न-काव्यनिष्ठ-कार्यता-निरूपित-कारणतायाः त्रिवेव सत्त्वात् । यत्तु—तैलङ्गपुङ्गवो रसगङ्गाधर-कारः काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिरुपां कविगता प्रतिभामैव केवला काव्यस्य कारणमाह—तन्न । “कविर्मनीषो परिभूः स्वयम्भू” रिति श्रुति-

प्रतिकूलत्वान्मम्मटादि—सकल प्राचामर्वाचा च ग्रन्थैर्विद्वत्वाच्च । स्व-
यम्नू—स्वत सिद्ध-शक्तिमान्, परिभू—सर्वार्थ-ज्ञानवान्, मनीषी—मननशील-,
कवि—काव्यकर्ता भवतीति श्रुत्यर्थ ॥ अत्रेद महाकवि-नीलकण्ठोक्तमपि
बोध्यम् । 'स्तोनु प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वर हि न शान्दिक प्राह न तार्किक वा ।
ब्रूते तु तावत्कविरित्यमोक्षण काष्ठापरा सा कविता ततो नः ॥८॥

काव्य निर्माण करने में तीनों की तुल्यकारणता दखलाते हैं—सकलेति
—सकल पु-पार्थ (धर्मार्थ, काम, मोक्ष) के साधन में समर्थ जो काव्य
उसके प्रादुर्भाद में व्युत्पत्ति=बोध, शक्ति=सम्भारविशेष, और अम्यास,
ये तीनों मिलकर ही कारण हैं, न कि पृथक् पृथक् । यही बात कारिका से
कहते हैं—तस्येति । अत्रेति—यहाँ कारिका में हेतुपद, काव्य की उत्पत्ति
में प्रयोजकतावच्छेदक जो समुदायत्व तदवच्छिन्न (त्रय) परक है
अर्थात् दण्डवक्रादि न्याय से सम्मिलित हतु है न कि तृणारण्यमणि-
न्याय से । व्युत्पत्ति अर्थात् बोध, शक्ति 'कविता करने का बीज' शक्ति ही
प्रतिभा कहलाती है, जिसके बिना कृतकाव्य प्रयत्न और प्रशंसित नहीं
होता । द्वे इति । वाणी के दो ही भाग हैं—शास्त्र और काव्य । इनमें शान्द-
बुद्धिगम्य है और काव्य प्रतिभागम्य । अम्यास=गुह्यदिष्ट रीति से गद्य-
काव्य या पद्य-काव्य का निर्माण करना । ये तीनों मिलित ही काव्य-
कारण होते हैं । रमणद्गाधरवार पण्डितराज जगन्नाथ न काव्य घटना-
नुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थितिरूप प्रतिभा को ही केवल काव्य की
उत्पत्ति में कारण माना है । परन्तु यह ठीक नहीं, इसमें—'कविमंतीषी'
इस श्रुति और मम्मटादिके ग्रन्थों से विरोध आता है । अब पूर्वोक्त श्रुति
की स्वानुकूल व्याख्या करते हैं—स्वयम्नूरिति—स्वत सिद्ध शक्तिमान् को
स्वयम्नू कहते हैं, सर्वार्थ-सुबुद्धि-ज्ञानवान् को परिभू, और सर्वविषयक-
मननशील को मनीषी, एक भूत-विशेषणविशिष्ट कवि ही काव्यकर्ता
हो सकता है । इसमें यह बात प्रमाणित होती है कि शक्ति आदि तीनों
ही मिलकर कविकर्म (काव्य) को बना सकते हैं, न केवल प्रतिभा ।

श्रुति ईश्वर को न तो बँयाकरण बहती है और न तार्किक, पद-पद में कवि कहकर पुकारती है, इसलिये कविता ईश्वर की परा विभूति है ॥८॥

(व्युत्पत्ति-लक्षणम्)

छन्दो व्याकरणज्ञत्वं, कला कोष-प्रवीणताम् ।

युक्तायुक्त-विवेकं च व्युत्पत्तावाह रुद्रटः ॥९॥

छन्दः—पिङ्गलादिसूत्रम् । तच्च द्विषिष वैदिकं लौकिकं च । वैदिक छन्दासि वेदेषु, लौकिक छन्दासि रामायणादिपुष्पयुग्मन्ते । 'पादपद्मद्वयं छन्द' इति सिद्धान्तशिरोमणौ—भास्करोक्तेः छन्दस पङ्क्त्येषु पादस्यानीयता । तथा च पादान्या रहितस्य मानवस्य यथा दुरवस्था जायते तथानेन विना शास्त्रस्येति बोध्यम् । व्याकरण=पाणिनीयादि । तस्य प्रयोजनमाह वामनः 'शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिरिति' । कलाः—मृत्युनील-वाद्यप्रभृतयः चतुषष्टिसंख्याकाः शैवशास्त्रे कामशास्त्रे च प्रसिद्धाः । कोषोऽमरसिंहादि-प्रणीतः परस्पराकाक्षरहितः श्लोकसमूह । तस्यापि प्रयोजनं वामन एवाह—'अभिधानकोशतः पदार्थनिर्णय इति । युक्तायुक्त-विवेके युक्तमेव निबध्यमान कविव्युत्पत्तेरुत्कर्षं पुष्णाति । अयुक्तत्वप-कर्षम् । यदाह रुद्रकण्ठः—'एकः श्लोकवरो विवेकरचितो ह्यः सतां सत्कवेनैवेष्टः कुकर्वोविवेकरहित कृत्स्नः प्रबन्धोऽपि वा ॥९॥

अब ग्रन्थकार अपनी तरफ से व्युत्पत्त्यादि का लक्षण करके अन्यो के भी लक्षण दिखाते हैं छात्रों की बुद्धि-वर्धनार्थ । रुद्रट आदि आचार्यों के व्युत्पत्ति आदि के लक्षण ये हैं—छन्द इति—आचार्य रुद्रट कहते हैं कि व्युत्पत्ति में छन्द और व्याकरण का ज्ञान, ६४ कला और कोष की निपुणता, योग्यायोग्य विचार, ये सब अशक्यभेद होने चाहिये । छन्द दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक । वैदिक छन्दो का उपयोग वेद मन्त्रों में, और लौकिक छन्दो का उपयोग रामायण, महा-भारत, पुराण, काव्यादि में होता है । 'पादपद्मद्वयं छन्दः—छन्द वेदो के पादस्थानीय हैं । इस सिद्धान्त-शिरोमणि के अनुसार छन्द शास्त्र वेदो

का चरण है । जैसे चरण रहित पुष्प की दुर्गति होती है उसी प्रकार वेद भी छन्द के बिना पगु हैं । व्याकरण का प्रयोजन वामन कहते हैं—
‘शब्द का शुद्धाशुद्ध ज्ञान व्याकरण से होता है । नाचना, गाना, बजाना आदि ६४ कलाएँ शैव-शास्त्र और काम-शास्त्र में बतलाई हैं । परस्पर में आकाक्षा रहित पद्यसमुदाय कोश होता है । जैसे—अमरकोश, मेदिनी, यादव, हारावली, धैजयन्त्यादि । कोश का प्रयोजन भी आचार्य वामन ही बतलाने हैं—अभिधान कोश आदि से पदार्थ का निर्णय होता है । युक्त और अयुक्त के विचार में युक्त ही कवि की व्युत्पत्ति का उत्कर्ष बतलाता है और अयुक्त अपवर्ष । जैसाकि रत्नकण्ठ कहते हैं—विचार-पूर्वक निर्माण किया हुआ एक भी श्लोक सकल सहृदयों के मन को मुग्ध कर देता है । विचारहीन समस्त काव्य भी अनुपयुक्त है ॥६॥

(शक्त्यभ्यासपोलक्षणम्)

शक्ति निपुणतां लोकशास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञ-शिक्षयान्यासं हेतुं तत्राह मम्मटः ॥१०॥

तत्रेति—काव्योत्पत्तिस्त्वावच्छिन्नं प्रतीत्यर्थः । हेतुमत्साधारणकारणम् । ‘ज्ञात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः’ इति न्यायसूत्रे पदार्थ इत्यत्रैकवचनेन यथा त्रिवेकपदशक्यत्व, तथात्र परस्परसापेक्षानामेव हेतुत्व सम्भ्यते न तु व्यस्तानाम् । शक्तिरक्ता । कार्यानुकूल-कारणनिष्ठ-सामर्थ्यं वात्र शक्तिः । अनुकूलत्व च संसर्गं । फलनिष्ठ अव्यतानिरूपित-जनकत्वम् । लोक—स्थायर-जङ्गमात्मक लोकवृत्त, योगाहुपचाराद्वा । शास्त्र्यनेनेति शास्त्रमिति व्युत्पत्त्या शास्त्रं श्रुति-स्मृति-पुराणादिकम् । घटवत् भट्टपादे ‘प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुरा येनोपरिश्येत तच्छास्त्र-मभिधीयते । तत्र नित्येन—श्रुत्यादिना, कृतकेन—पुराणादिना, प्रवृत्ति-‘महर्ह सन्ध्यामुपासीत, सत्यं बदेत्यादि श्रुत्या सन्ध्यावन्दन-सत्यभाषणादौ । निवृत्ति—‘मा गृव. कस्यश्चिद्धनम्,’ समूलो वा एष परिसुप्यति यी-श्रुतमभिषदतीत्यादि श्रुत्या चोपागत-भाषणादौ । यद्वा प्रवृत्तिः पुराणा-

एतदेतेन विश्राणापासनादि—रामादिवायेंपु, निवृत्तिः—परस्त्रीहरणादि—
रावणादि-वायेंपु । सोऽसौत्तरवर्णानानिपुणवदिवर्म काव्यम् । यत्रेवमुच्यते
'किं वायेरतेन वाध्येन वाणेनेय घनुष्मत्' । परस्य हृदये सानं यत्नं घृणं-
यते निरः ॥ आदिपवादितिहासो रामायण-महाभारतादिः । अवेक्षणं—

नः पुनरनुत्तन्पानं तन्मन्वा निपुणता ध्युरतिरप्युत्तं । वाव्यज्ञशिक्षया
काव्यकरणाम्यासः । यदादृष्टुंदाः 'प्रनारतं गुरुपांते यः वाध्ये रचना-
दरः । तन्मयासं विदुः । अयमेवाशयः 'क्षुतेन यत्नेन च यागुवाप्तिता ध्रुवं
चरोस्येव वामप्यनुग्रहमि'ति दग्धिना ध्वनितः ॥ १०॥

अथ मम्मट-गम्मत शक्त्यादि वा लक्षणं वरते हैं—शक्तिमिति—
वाच्योत्पत्ति मे मम्मटाचार्यं तीन हेतु वतलाते हैं—एक शक्ति, दूसरा
लोकशास्त्र-वाच्यादि से जायमान निपुणता, तीसरा वाच्य-कोविदों की
शिक्षा से उत्पन्न मन्मास । हेतु शब्द यहाँ असाधारण कारण का बोधक
है । जैसे जात्याकृति सूत्र मे जात्यादि तीनों मिलकर एक पदार्थ का
बोधन करती हैं, वैसे ही शक्ति आदि तीनों मिलकर ही वाच्य-कारण
हैं; पृथक्-पृथक् नहीं । कार्यानुकूल कारण मे होनेवाला सामर्थ्य ही
शक्ति है । अनुकूलता क्या है ? यह बतलाते हैं—अनुकूलत्वं चेति—अनु-
कूलता यहाँ समर्थ-प्राप्त है । फलनिष्ठ जो जन्यता—कार्यता तद्विरूपित
जनकत्व—कारणत्व रूप । लोक पद से यहाँ लोकवृत्त लेना चाहिये ।
शास्त्रपदबोध्ध श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) आदि हैं । जैसा-
कि भट्टपाद (कुमारिल) ने कहा है । प्रवृत्तिर्वेति—जिसके द्वारा पुरुषों
की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति बतलाई जावे, श्रुति आदि से अथवा पुराणों
से, वह शास्त्र कहलाता है । प्रवृत्ति—प्रतिदिन सन्ध्यादि नित्यकर्म करना,
सत्य बोलना आदि । निवृत्ति—'किसी के घन को न चाहो' 'जो असत्य
बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है' इत्यादि वाक्यों से सन्ध्या करना,
सत्य बोलना आदि मे प्रवृत्ति और चोरी करना, झूठ बोलना आदि से
निवृत्ति मानी है क्योंकि चोरी करना और झूठ बोलना पाप है । यद्वा

अथवा प्रवृत्ति=पिता आदि की आज्ञा का पालन करना प्रमृति श्रीराम आदि के कार्यों में, श्रीर निवृत्ति=परकीय स्त्री का हरण करना आदि रावणादि कार्यों में होनी चाहिये । अलीकिक वर्णन में निपुण कवि का कर्म काव्य होना है । कवि के उस काव्य से क्या लाभ, जो धनुर्धर के बाण की तरह लगा हुआ सिर को न हिला दे । वृद्धा इति—वृद्ध पद से यहाँ वाग्मटालकारकार का ग्रहण है । गुरु की सन्निधि में काव्य करने में लगे रहना अभ्यास माना है । दण्डी ने भी यही माना है ॥१०॥

(उत्तम-ध्वनिकाव्यतन्त्रणम्)

यत्र शब्दस्तयैवार्यो गौणभावमुपाश्रितो ।

कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तत्काव्यं ध्वनिरत्तमम् ॥११॥

अर्थ=व्यङ्ग्यार्थम्, कमपीति । अमत्कारजनकम्, ध्वन्यमानार्थस्य अमत्कारसारत्वात् । तेनातिगूढ-स्फुट-व्यङ्ग्ययोनिरासः । तदुत्तम काव्यं ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिरित्युच्यते । न च रमणीयेष्वलङ्कारादिवेव ध्वनेरग्भर्भावोऽस्तिवति वाच्यम् । वाचकतावच्छेदक व्यञ्जकतावच्छेदकत्वयोर्भिन्ननिष्ठत्वात् । ध्वनिकारमते-एतदतिरिक्तं काव्यमेव न, यतो हि नहि कवेरिति वृत्तमात्रनिबन्धनेन कवित्वपदलाभः पुराणैतिहासादेरेव तत्सिद्धेः । यत्तु रसगङ्गाधरकारेण-व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनेर्भेदद्वयं स्वीकृतम् तच्चिन्त्यम् । व्यङ्ग्यप्राधान्य एव ध्वनित्वाङ्गीकारान् । यतोहि—अमत्कारोत्कर्षनिबन्धन एव व्यङ्ग्ये प्राधान्यविवक्षा, अग्नया ध्वनिकारादि प्राच्यामाचार्याणां सञ्चेतविरोधः । यदि तु तत्सञ्चेतसेतुं निमित्तं स्वतन्त्रं गम्यते, तदान्ये प्येवविधा बहुभेदा भवितुमर्हन्तीत्यनवस्थापातः ।

उदाहरण मर्मैव—

गुरुमध्यगता सीता लीलाकमलनाडिता ।

नतभ्रू राममालोक्य मन्दमन्दमपूरुणेत ॥

क्रिया-विशेषणानां कर्मत्वमिति भाष्योक्तेर्मन्दमन्दमिति द्वितीयान्तं, 'प्रकारे गुणवचनस्ये'ति द्विर्भावः । अपूरुणेत्यनेनाश्रमोक्षकारिन् ! किमिद-

ममुचितं कृतवानसीत्ययं सयलिताऽमर्षं श्रवणा विधामयामत्वात्प्राधान्येन
 द्यज्यते । शब्दोऽर्षश्च तत्र गीणः । अत्र-रसगङ्गाधरकारेणोदाहृते—‘गुरु-
 मध्यगतामयानताङ्गी’ति पद्ये तु नताङ्गीपदे व्युत्ससकृतिदोषः । ‘अङ्गात्र-
 कण्ठेभ्य’ इति वृत्तिमतस्य भाष्यानुक्तत्वेनाप्रमाणत्वात् । अतएव ‘सुगात्री’
 स्यादयोऽवभ्रशा एवेति दोषरकारोक्तिः सगच्छते ॥११॥

अब काव्य के भेद कहे जाते हैं । यत्रेति—जहाँ शब्द और अर्थ
 अपने को गुणीभूत करके किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त
 (ध्वनित) करें वह काव्य-ध्वनि काव्य कहलाता है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ
 की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं ।
 ध्वनिपद में जब अधिकरणार्थक प्रत्यय मानते हैं, तब यह उत्तम
 काव्य का वाचक हो जाता है । करणप्रधान मानने पर ‘ध्वन्य-
 तेऽन्येति ध्वनि’ व्यञ्जनाशक्ति का बोधक होता है और ‘ध्वन्यते इति
 ध्वनि’ इस व्युत्पत्ति से रसादि व्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जन करने से अति गूढ
 और स्फुट व्यङ्ग्यो का निवारण हो गया । नचेति—व्यङ्ग्य-व्यञ्जरूप
 ध्वनि का वाच्य वाचक रूप अलकारों में अन्तर्भाव ही नहीं सकता ।
 अब काव्य-भुरुपावतार ध्वनिकार का मत दिखलाते हैं । ध्वनिकारेति ।
 ध्वनिकार के मत में ध्वनि काव्य ही सर्वश्रेष्ठ है । इतिवृत्त (किसी की कथा)
 निबन्धन मात्र से कोई महाकवि नहीं कहला सकता, अर्थात् कोई पुरुष कुछ
 लिख दे तो वह सभी काव्य नहीं होता क्योंकि पुरानी कथाओं का उल्लेख-
 मात्र ही काव्य का प्रयोजन नहीं, वह तो पुराणदि से ही सिद्ध है । रस-
 गगेति—जो रसगङ्गाधरकार ने ध्वनि के दो भेद माने हैं—उत्तम और
 उत्तमोत्तम, वे व्यर्थ हैं । उत्तम व्यङ्ग्य वे होने से ही ध्वनि-काव्य होता
 है अन्यथा अनवस्था दोष हो जायेगा ।

अब सर्वश्रेष्ठ ध्वनि काव्य का उदाहरण देते हैं—गुरुमध्यगतेति—गुरु
 (श्वशू) आदि के मध्य में बँठी हुई, श्रीराम द्वारा लीला-कमल से
 ताडित सीता नीचे भुकुटि चढाकर मन्द-मन्द घूर्णन करने (देखने)
 लगी । हे असमीक्ष्यकारिणु ! यह क्या किया । इससे अमर्ष (क्रोध)

व्यक्त हुआ । शब्द प्रार श्रयं यहाँ गीण हैं । श्रयान् श्रयं रूप व्यङ्ग्य की महीं प्रधानता हुई, शब्द और श्रयं की गीणता ॥११॥

(मध्यमगुणीभूतकाव्यलक्षणम्)

यत्र वाच्यचमत्कारो व्यङ्ग्यार्था पेक्षया पुनः ।

तद्वदन्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यन्तु मध्यमम् ॥१२॥

वाच्ये—व्यङ्ग्यप्रयपिषया चमत्कारिणि सति मध्यमं काव्यं गुणीभूत-
व्यङ्ग्यमित्यभिधीयते । यथोक्तं ध्वन्यालोके—'यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्य-
सादृशं स्यात् प्रकथंषत् । प्रकारोऽग्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ॥
यत्र वस्त्वलंकाररसादिदृश्यव्यङ्ग्यानि प्रधानरसे गीणानि भवन्ति । तत्र
प्रधानरसकारणतमोत्तम-काव्यत्वव्यपदेशः । यथोक्तं ध्वन्यालोके एव ।
'प्रकारोऽग्य गुणीभूत-व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् । घते रसादि-तात्पर्य-
पर्यालोचनया पुनः ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रत्ययो भेदाः प्रकाशकृता-दर्पणकृता च प्रदर्शिता उदा-
हृताश्च । ते तत्रैव कर्णेहत्य निरीक्षणयोग्याः । न च ध्वनिगुणीभूत-व्यङ्ग्यप्रति-
शब्दा ध्वनिकारात्प्राचीनैः कौरपि भामहादिभिः स्वनिबन्धेषु नोक्ता इति
न मन्तव्या इति वाच्यम् । समासोक्तिव्याजोक्तघाघलकारनिरूपणैर्नद
तैस्तप्रिदृश्यान् । ध्वन्यादि शब्दैस्तदनुल्लेखेऽपिमङ्ग्यप्रतरेण तदुल्लेखान् ।
दिङ्मात्रमुदाहरणम्—

वान्नीरकुञ्जोद्गीन-शत्रुनि-कोलाहलं शृण्वन्त्या ।

गृहकर्मव्यापृताया गोव्याः सोदन्त्यङ्गानि ॥

अत्र दत्तसंकेत. श्रीकृष्णो सत्तागृह प्रविष्टः । अहन्तु गृहकर्मव्यापृततया
तत्र न गन्तुमशक्नुवमिति व्यङ्ग्यत्वात् सोदन्त्यङ्गानि वाच्य सचम-
रकारम् ॥१२॥

उत्तम काव्य का निरूपण करके अब मध्यम काव्य का निरूपण
करते हैं—यत्रेति । जिस काव्य में वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक
शम-कारजनक हो, उसे मध्यम काव्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य कहते हैं । जहाँ

वस्तु अलंकार तथा रसादि रूप व्यञ्ज्य प्रधान रस में गौण हो जायें वहाँ प्रधान रस गुणीभूत व्यञ्ज्य काव्य भी फिर ध्वनि के कारण उत्तम काव्य हो जाता है । जैसाकि ध्वन्यालोक में लिखा है—प्रकारोऽयमिति । गुणीभूत व्यञ्ज्य प्रकार भी रसादि की सत्ता से ध्वनिरूपता को धारण कर लेता है । गुणीभूत व्यञ्ज्य के अन्य ग्रन्थों में कहे हुए भेद बतलाने हैं । गुणीभूतेति—गुणीभूतव्यञ्ज्य के आठ भेद काव्यप्रकाश तथा साहित्य-दर्पणकार ने किये हैं वे वही देखना । यद्यपि ध्वन्यादि नाम से प्राचीना-चार्य भामहादि ने इनका कही पर भी उल्लेख नहीं किया तथापि समा-सोक्त्यादि द्वारा प्रकारान्तर में निरूपण किया है । उदाहरण—धानोरेति बानीर (वेतस) कुञ्ज से उड़े हुए पक्षियों का शब्द सुनकर गृहकर्म में लगी हुई गौरी श्रीकृष्ण के समीप जाने में असमर्थ होकर एकदम दून्य हो गई ॥१२॥

(श्रवमचित्रकाव्यलक्षणम्)

शब्दार्थयोः चमत्कारः परस्परमपेक्षया ।

प्रधानं यत्र तज्ज्ञेयमधमं चित्रसंज्ञकम् ॥१३॥

यत्रार्थापेक्षया शब्दस्य शब्दापेक्षया चार्थस्य चमत्कारः प्रधान-मधिकः तद्—द्विविधं चमत्कृतिहेतु व्यञ्ज्यरहित काव्यं चित्रकाव्यम् । एतद्भेदद्वयं ध्वन्यालोकानुसारमेव । यदुक्तं तत्र—‘चित्र शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्र वाच्यचित्रमतः परम् ॥ तत्र शब्द-चित्र यथा मम—

‘प्रचण्डवैत्यदोर्दण्ड - मदखण्डनहेतवे ।

नमो भक्ताभ्ररक्षाय रम्भा स्तम्भाय शम्भवे ॥

शम्भवे—‘शम्भुरीशः पशुपति’रित्यपरात् शिवाय, ‘स्वयम्भूः शंभु-रदित्यः’ इति नामसहस्रात् विष्णवे वा नमोऽस्तित्यति शेषः । उक्तृष्ठापेक्षया-स्वनिष्ठापृष्टस्वबोधनं नमःशब्दार्थः ‘नमः स्वस्ती’ति पाणिनिसूत्रेण चतुर्थी । ‘श्रीगणेश नमस्कृत्ये’त्यादौ तु नमःशब्दयोगेऽपि न सा द्वितीयया

कारकविभक्तिस्त्वेन बलीयस्यावाधात् । अयं वतो नमः शब्दस्यैव सूत्रे प्रहणमिति भाष्योक्तेश्च । शिवपक्षे प्रचण्डदंत्याः त्रिपुरान्वकादयः विष्णु-पक्षे हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपुमधुकंटभादयः तेषां दोर्दण्डमदस्य खण्डनहेतवे । भक्ता एवाश्रवृक्षा इति मयूरव्यसकादिसमासो रूपक च तेषां रक्षार्थं 'प्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्मानिन' इत्यनेन चतुर्थी । रम्भा-स्तम्भायेत्युभयत्र तुल्यम् । रम्भास्तम्भेनाश्रवृक्षरक्षणं भवतीति लोक-प्रसिद्धिः, अत्रोदाहरणे शब्दचमत्कृतावर्यचमत्कृतिः लीना ॥

अयंचित्र यथा मयं व—

'सुधाधवलिताल्पगन्त-विशालाकाशशालिका ।

चन्द्रमूर्तिरिवाभाति देहली-सौधमालिका ॥

सौधमालिकापक्षे—सुधया=कलीतिलेपनद्रव्येण धवलिता लिप्ता, अत्यन्तविशाला=विस्तृता, आकाशस्य शालेवशालिका, गृह्णिवोचत्वात् । चन्द्रमूर्तिपक्षे सुधाधवलिताऽमृतमुक्ता । 'सुधालेपोऽमृतं सुधेत्यनुशासनात्' । 'पाताल स्त्रीमुखं नाकः सागरश्च सुधाकरः । एतान्यमृतधामानि प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ इति मदीये दुर्गान्धुदये द्रष्टव्यम् । अत्यन्त-विशाले महत्या-काशे शान्तते शोभते इति शोभाशालिनोत्यर्थः । अथ शब्दचमत्कृतिरर्थ-चमत्कृती लीना ॥ एते सर्वेऽपि काव्यप्रभेदाप्यनिकृतापि मताः । यदुषतं तेन 'प्रधानगुणभाषाम्ना व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते । उभे वाच्ये ततोऽन्यद्यत् तच्चिप्रमभिधीयते ॥ व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनि' । गुणीभावे तु गुरोभूत-व्यङ्ग्यम् । ततः वाच्यद्वयादन्यत् रसभावाद्भिरहित चित्रकाव्यमिति विवक्षितोऽर्थः । यदुक्तं तेनैव 'रसभावाद्भिविषयविवक्षाविरहे सति । अलकारनिबन्धो य सचित्रविषयो मतः ॥ प्रायमिहानामन्याताध्विना कृते चित्रकाव्यमस्तीति ध्वनिकाराशयः । एतेन चित्रकाव्यं सर्वथा नास्त्येवेति तदाशयं वदन् दर्पणकारः स्यूलदृशवं ॥ १३ ॥

शब्दार्थघोरिति—जहाँ अर्थ की अपेक्षा शब्द का घोर शब्द की अपेक्षा अर्थ का समत्वार्थ प्रधान है वहाँ क्रम से शब्दचित्र अर्थचित्र दो काव्य

ध्वनिकार के अनुसार माने जाते हैं। शब्दचित्र का उदाहरण—प्रचण्डेति ।
—प्रचण्ड-प्रबल जो दैत्य=दानवों के भुजदण्ड उनके मदखण्डन के कारण, भक्तरूपी आन्नवृक्षों की रक्षा के निमित्त रम्भा=केला के स्तम्भ-रूप जो शम्भुशकर अथवा विष्णु उसको नमस्कार हो ॥ इस उदाहरण में अर्थ का जो चमत्कार है वह शब्द के चमत्कार में लीन हो गया है—अतः यह काव्य शब्दचित्र है। जिसमें शब्द का वैचित्र्य ही वही शब्द-चित्र कहलाता है। उसी की प्रधानता वहाँ मानी जाती है ॥

अर्थ चित्र का उदाहरण—सुधाधवलितेति—सुधा=कली से लिपी हुई अतीव विरतुत, आकाश के गृह के समान ऊँची, देहली नगर की गृहावली, अमृतयुक्त तथा विशाल आकाश में शोभायमान चन्द्रमूर्ति के समान दीप्त हो रही है। इस उदाहरण में शब्दचमत्कार अर्थ के चमत्कार में लीन हो गया है। अतः यह काव्य अर्थचित्र नाम से व्यपदिष्ट हुआ ॥

इन सब भेदों की दृष्टता प्राचीन प्रमाणों से करते हैं—एते इति । ये सभी काव्यभेद ध्वन्यालोक ग्रन्थ में ध्वनिकार ने माने हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा है—प्रधानगुणेति—जिसमें व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो वह ध्वनि और व्यङ्ग्यार्थ गौण हो वह गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य है। दोनों से अन्य चित्र-काव्य है। जिसमें रसभावादि न रहकर अलंकारप्राधान्य होता है। अलंकार भी न हो तो ग्रामीणों की साधारण कथा भी चित्र का विषय माननी पड़ेगी। दर्पणकार ने जो चित्रकाव्य का खण्डन किया है वह गलित (गलत) है ॥१३॥

(काव्यभेदा)

पुनस्तस्यैव काव्यस्य द्वैविध्यमिह दृश्यते ।

दृश्यश्चैव्यत्वभेदाच्च काव्यव्युत्पत्तिहेतवे ॥१४॥

पुनर्भेदप्रयनिरूपणोत्तरम् । तस्येति, ध्वनिगुणीभूत-व्यङ्ग्यचित्रात्म-कस्य, द्वैविध्यमिति च सख्याविप्रतिपत्तिनिरासाय । ते च द्वे विधे आह—
दृश्यश्चैव्येति । तत्रेदमवधेयम्—'कठिनः ध्वनित्वग्यो दृश्यनिबन्धस्तु

भवति सुकुमारः । पुरुषमहिलानां यावदन्तरं तावदेतेषाम् ॥ भगवान्
भरतोऽप्याह—'मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु रूपकम् ॥१४॥

ध्वनि-गुणीभूत व्यङ्ग्य और चित्ररूप से काव्य को त्रिधा विभक्त करके
अप्य दृश्य और श्रव्य नामक दो भेदों में फिर विभक्त करते हैं—

पुनस्तस्यैवेति—यहाँ यह भी जानना कि श्रव्य काव्य कठिन होने
चाहिये, और दृश्य काव्य (नाटक) अतीव सुकुमार—सुगम । श्रव्य और
दृश्यों में उतना ही अन्तर होता है, जितना पुरुष और स्त्री में । यही
वात भरत मुनि ने अपने नाटकशास्त्र में भी बतलाई है—मृदु=कोमल
शब्दों से नाटक का निर्माण करना कवि का कर्तव्य है ॥१४॥

(रूपकलक्षणम्)

दृश्यं दर्शनयोग्यं तद्रूपकं रूपरोपणात् ।

श्रव्यैवाभिनयाहृत्वं मग्न्यते काव्यकोविदैः ॥१५॥

दृश्यकाव्य नटो रामपुर्धिष्ठिरादि स्वरूपारोपणात् रूपकमित्यपि
कथ्यते । यथोक्तं दशरूपकेऽपि—'रूपकं तत्समारोपात्' इति । 'यथा मुखा-
दोपद्यादेरारोपो रूपकं भवेत् । तथैव नायकारोपो नटो रूपकमुच्यते ॥

दृश्यमिति—देखने के योग्य इसी दृश्यकाव्य को रूपक भी कहते हैं ।
क्योंकि नट=अभिनेता में नाटक के पात्र रामादि का स्वरूप आरोपित
किया जाता है । नट, राम सीता लक्ष्मणादि का रूप धारण करता है ।
देखने वालों को 'एष राम', 'एषा सीता' ऐसा आरोपात्मक ज्ञान होना है ।
इसीलिये इन काव्य को रूपक भी कहते हैं । इसी दृश्यकाव्य का अभिनय
(खेल) किया जाता है । अभिनय का लक्षण और भेद बताते हैं—

(अभिनयस्य लक्षण भेदाश्च)

रामाद्यवस्थानुकृतिर्भवत्यभिनयः स च ।

श्रद्धेन वचसा वखादिभिः स्वेदाविमिस्तया ॥१६॥

नटैरङ्गमङ्गला वासयत्रिग्यामेन, वखात्तङ्कुरादिभिः स्वेदरोमाश्वादि-

सात्त्विकभार्वश्च रङ्गमञ्चोपरि राममुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकृतिरभिनयो भवति । अत्र निरन्तरं रसोद्रेको भवति । रसाभिलाषावान् प्रेक्षकवर्गश्चात एव तद्दर्शनाय भृशमुत्सुकस्तिष्ठति । अयमेवार्थो मन्दारमरुदे प्रोक्तः—'उत्पादयन् सहृदये रसज्ञान निरस्तरम् । अनुकृतृस्थितो योऽर्थोऽभिनयः सोऽभिधीयते ॥ यस्य दीर्घघात्रादेः कारणविशेषेण प्रदर्शनं कर्तुं न शक्यते तत्सूच्यमपि वस्तु भवति । यदाह —

‘युद्ध राज्यभ्रंशो मरण नगरोपरोधनं चैव ।

प्रत्यक्षाणि तु काव्ये कविना नो सविधेयानि ॥१६॥

रामाद्यवस्थेति—रामादि की अवस्था के अनुकरण को अभिनय कहते हैं । वह चार प्रकार का होता है । पहला अङ्ग (देह) से किया जाता है, दूसरा वाणी से, तीसरा भूषणवस्त्रादि से, चौथा स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों से । नट लोग अङ्गमङ्गी से वाक्पाटव से वस्त्र और अलकारों से और स्वेदादि भावों से रङ्गमञ्च पर रामादि की अवस्था का अनुकरण करते हैं यही अभिनय है । अभिनय-काव्य में निरन्तर रस का उद्रेक होता है । इसीलिये रसिक जन दूर-दूर से उसको देखने आते हैं । आजकल सब से अच्छा अभिनय सिनेमागृहों में दिखाया जाता है । काव्य में सूच्य वस्तुएँ भी मानी गई हैं—जैसाकि दशरूपक में लिखा है—युद्धमित्यादि ॥१६॥

(रूपकस्य भेदा)

नाटकं च प्रकरणं भाणव्यायोगवीथिकाः ।

प्रहासाद्याश्च विज्ञेया रूपकस्य भिदा दश ॥१७॥

भिदा इति भेदा. विद्भिदादिभ्योऽङ् । 'संख्येये ह्यादश त्रिपु' इत्यनुशासनाद् दशादिशब्दानां संख्येयमात्र-वाचिताप्रवादो विशत्यादीनां तु संख्या-मात्र-वाचकत्वमिति । वस्तुतस्तु-सर्वेषामपि संख्यावच्छिन्नवाचकत्वमेव । अधिकं श्युत्पत्तिवादे । नाटकमग्रे दर्शयिष्यते । प्रकरणं—मालतीमाधव, मृच्छकटिकादि । भाणः—शृङ्गारतिलकादिः । व्यायोगः—उरुभङ्ग,

घनञ्जयविजय, फल्गुआलौगण्डिकादिः । वीयो—विष्णोर्वश्यादिः । प्रहासः
 प्रहसनम्—मत्तत्रिलास, हास्याखण्ड, सटकमेलकादि । श्रादिपदान्—समव-
 कारदिमेहामृगाङ्कु-परिग्रहः । तत्र समकारो भासकृत पञ्चरात्रम् । डिमः
 त्रिपुरवाहः । ईहामृगः कुमुमशेखरादि । अङ्कुः शर्मिष्ठायातिरिति दर्पण-
 कारः । अत्रेदमपि योध्यम् नाटके प्रकरणे च पञ्चभिर्न्यूनाददानिरपिका
 अङ्कान् नवन्ति । बातरामायण, हनुमन्नाटकादि तु महानाटकम् । नाणवी-
 श्वोरेक एवाङ्कुः । डिमेहामृगयोः अत्वारः । समवकारे त्रयोऽधिकमन्यत्र ।
 सर्वेषां प्रकरणादीनामनुकारात्मकत्वेनाभेदेऽपि वस्तुनेना रसश्च तेषां
 भेदकः ॥१८॥

अब रूपक के भेद बताते हैं—नाटक चेति । ये दश नाटकादि रूपकों
 के भेद हैं । इन सब ही रूपकों में अनुकरणात्मकता की एकता होने पर
 भी वस्तुनेता और रस ही भेदक हैं । वास्तव में पारिभाषिक भेद के
 अतिरिक्त इनमें कोई मौलिक भेद नहीं होता । अतएव ये सभी रूपक
 नाम से पुकारे जाते हैं ॥१७॥

(नाटकलक्षणम्)

पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं स्यात्-वृत्तं च नाटकम् ।

वीरशृङ्गारशान्तानामेक एवाङ्गितां श्रयेत् ॥१८॥

कथादानामवान्तरकप्रयोजन-संबन्धः सन्धिसामान्यलक्षणम् । मुख-
 प्रतिमुखगर्भविमर्शोपमंहृतयः पञ्च सन्धयः । मुखप्रतिमुखपरिणाम रत्नावल्या
 प्रथमद्वितीयाङ्कयोः । विमर्शोपमंहृत्यो शाकुन्ते चतुर्थमसमाङ्कयोश्चोदा-
 हररानि । द्विती लेखस्तथास्वप्नी नेपथ्याकाशभाषणे । सन्धन्तरालि
 सन्धीना विशेषास्त्वेकविंशतिः ॥ इति चात्र भरतमातृगुप्तौ । स्यात्—रामा-
 यणभारतादि प्रसिद्धं वृत्त यत्र । यथा—रामचरितानर्धराधव, प्रसन्नराधव,
 बेणीसहार, शाकुन्तल, बातभारतादि । यथा वा मम दुर्गान्मुदयम् । दशा-
 नामनि रूपकारा कथानेदेन भेदप्रयं सम्भवति । ऐतिहासिक पौराणिक
 आत्यन्तिकभेदान् । तत्रतिहासिकानि—रामचरित, बेणीसहारादीनि । पौरा-

णिकानि—पावंतीपरिणय, कंसवध, दुर्गाम्युदयादीनि । काल्पनिकानि—
 मालतीमाधव, नागानन्द, प्रबोधचन्द्रोदयप्रभृतीनि । हिन्दां चन्द्रगुप्त,
 रुद्रगुप्तादीन्यतिहासिकानि । सत्यहरिश्चन्द्र, सगरविजयादीनि पौराणि-
 कानि । कामनाप्रभृतीनि काल्पनिकानि ॥ नाटकप्रशंसामाह भरतः—
 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न ताः कलाः । नासौ नयो न तत्कर्म
 नाटके यत्र दृश्यते ॥ अन्येऽपीह श्लोका भवन्ति । 'वेदं वेद द्विजादन्यः क
 आकाशमिवाद्भुतम् । नाट्यवेदो विजयते सर्वेषां रक्षयन्मन ॥ 'ग्रहो
 प्रभावो वादेव्या यदस्या नाट्यदर्पणो । स्वभावः सर्वलोकस्य प्रत्यक्ष इव
 दृश्यते ॥' कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः । कविप्रजापतीस्त्य-
 प्त्वा नाट्यनिर्माणशालिनः ॥ यानेव शब्दान्धयमुल्लसाम., 'यानेव शब्दान्
 धयमुल्लिखामः । तैरेव नाट्यस्थितिमात्ररम्यः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥
 अतएव हि—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्त कवित्वमि'त्याद्यावाल-
 चूढ प्रसिद्धम् ॥१८॥

अब नाटक का लक्षण कहते हैं—पञ्चभिरिति—पाँच सन्धि=मुख,
 प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति नामक सन्धियों से युक्त, रामायण-महा-
 भारतादि प्रसिद्ध चरितों से पूर्ण, नाटकवृत्त होना चाहिये । जो कथानक
 केवल कविकल्पित है वह नाटक नहीं हो सकता । वीरशृङ्गार या शान्त
 इनमें से कोई एक रस यहाँ प्रधान रहता है । अन्य सब रस उसके
 अङ्गभूत होते हैं ॥ अब सन्धि का सामान्य लक्षण बतलाते हैं—कथा-
 शानामिति—अचान्तरक प्रयोजन वाले कथाशो का एक जगह सबन्ध
 सन्धि कहलाती है । भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में—सन्धि के इक्कीस
 भेद बताये हैं । नाटक को तीन प्रकार से विभक्त किया जा सकता है ।
 ऐतिहासिक, पौराणिक और काल्पनिक । नाटक की प्रशंसा भरत मुनि ने
 की है न तज्ज्ञानमिति—वह ज्ञान नहीं, वह शिल्प नहीं, वह विद्या और वे
 कलाएँ नहीं, वह कर्म और वह नीति नहीं जो नाटक में न हो । ब्राह्मण
 दानिय और वैश्य के अतिरिक्त कोई भी वेद को नहीं जान सकता

जैसे द्विज पक्षी के अतिरिक्त कोई आकाश को नहीं जान सकता । जेप सब स्पष्ट हैं ॥१८॥

(अञ्जलक्षणम्)

यत्र प्रत्यक्षचारित्र्यं नेतृ रससमन्वितम् ।

प्रसङ्गतोऽन्ते पात्राणां निर्गमः सोऽङ्ग इष्यते ॥१९॥

प्रत्यक्षं = प्रत्यक्षवत् — नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियवद इति-
लक्षितस्य धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्तात्मकस्य, राम,
भोम, वत्सराज, माधवादेश्वरित यत्र तत् । भरतश्चाह 'प्रस्तुतार्थोपसंहारो
यत्राङ्गः सोऽभिधीयते । अर्थप्रसङ्गमादाय पात्रनिर्गम इष्यते ॥१९॥

अब अङ्ग का लक्षण करते हैं । प्रकृतार्थेति—जहाँ प्रकरण के सब
अर्थों का उपसंहार किया जाय और अन्त में अर्थ-प्रसङ्गवदा मव पात्र
निवृत्त जायें, वह अङ्ग होता है । अब आमुख का लक्षण करते हैं ॥१९॥

पूर्वरङ्गस्तु पूर्वं स्यात्ततः सन्धानुकूलता ।

कवेर्नामादिकथनं यत्र नाट्यस्य तन्मुखम् ॥२०॥

यत्रेति नाटके—सन्धानुकूलता—विनीतवचनादिना सन्धानामभिमु-
खीकरणम् । कवेर्नामादीत्यादि-पदात्कविगोत्रग्रहणम् । 'गोत्र नाम च
वप्नीयादिति भरतोक्तेः । मुखमामुख प्रस्तावना । यथोक्तं रसार्णवमुधा-
करे- 'विधेर्यथैव सकल्पो मुखता प्रतिपद्यते । नाटकादिप्रबन्धस्य तथा प्रस्ता-
वना मता ॥२०॥

पूर्वरङ्ग इति—जिसमें पहले पूर्वरङ्ग हो फिर सन्धानों की अनुकूलता
और कवि के नामादि का कथन, वह आमुख कहलाता है ॥२०॥

(पूर्वरङ्गलक्षणम्)

रङ्गविघ्नोपशान्त्यर्थं नाटकीयस्य वस्तुनः ।

नटा यं कुर्वन्ते पूर्वं पूर्वरङ्गः स कथ्यते ॥२१॥

वाच्यार्थाभिन्नयो नाट्य, यत्कारिषु नटव्यपदेशः । तत्र 'नट अथस्यन्द-

ने' इति नटः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्विकबाहुल्यम् । नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वा-
दाङ्गिकाभिनयबाहुल्यं तत्कारिणु नर्तकव्यपदेशः । गात्रविक्षेपार्थत्वे समाने-
ऽपि पदार्थाभिनयकर्तुर्नर्तकादन्य एव वाक्यार्थाभिनयकर्ता नट इति विवेकः ।
नाटकीयस्य वस्तुनोऽभिनयारम्भात्पूर्वं रङ्गे नाट्यशालायाः सभाव्यमानो
यो विघ्नः तस्य शान्त्यर्थं य कुर्वन्ति नटाः स पूर्वरङ्गः । नाट्यवस्तुपोद्घात
इति यावत् । उपोद्घातत्व च प्रकृतसिद्धधनुकूलचिन्ताविषयत्वम् । अत्रेद-
मपि बोध्यम्—भारतीय-नाट्यशास्त्रानुसारमेकैव नाट्यशाला विकृष्ट-चतु-
रश्र-त्र्यलभेदेन त्रिधा विभज्यते । विकृष्टा—विदुषा राजां धनिकानां, चतु-
रश्रा सर्वसाधारणजनतायाः, त्र्यश्रा-स्वकीयकार्यकारिणा च कृतेऽभवत् ।
नाट्यशालायाः पश्चाद्भागे ध्वनिका भवति । अस्या रूपरेखा नाटकीय-
रसानुसार परिवर्तते । तद्यथा—शृङ्गाराय श्यामा, करुणाय चित्रा,
हास्याय श्वेता, अद्भुताय पीता, वीर्याय कपिशा, रोद्राय रक्ता, भयान-
काय कृष्णा, बीभत्साय नीलेति । ऋग्वेदानुसार नाटकस्य श्रीणि मूलानि
गीतकाव्य, आख्यात, कथोपकथनकाव्यानि । नाटकोत्पत्त्यारम्भस्थानं च
सर्वप्रथमं भारतवर्षमेव मन्यते भारतीयविद्वद्भिः मेकूदानल, कीय, प्रभृति-
भिर्पूरोपीयविद्वद्भिर्रूप्येतत्स्वोक्तम् ॥२१॥

अत्र पूर्वरङ्ग का लक्षण करते हैं । रङ्गविघ्नेति—नाटकीय वस्तु के
पूर्व रङ्ग (नाट्यशाला) के विघ्नों को दूर करने के लिए नट लोग जो
कुछ करते हैं वही पूर्वरङ्ग कहलाता है । अत्र नट और नर्तक में भेद
दिखाते हैं । यद्यपि नट और नृत् घातु का गात्रविक्षेप अर्थ समान है
तथापि दोनों का यह भेद बिल्कुल स्पष्ट है । पदार्थ का अभिनयकर्ता
नर्तक और वाक्यार्थ (काव्य) का अभिनयकर्ता नट होता है । यहाँ यह
भी ज्ञातव्य है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार पहले एक ही नाट्यशाला में
तीन प्रकार का विभाग होता था । एक तरफ उसमें विद्वज्जन, राजा लोग
और धनिक बैठते थे । दूसरी तरफ साधारण लोग । तीसरी तरफ अपने
कर्मचारी लोग । उसके पीछे के भाग में ध्वनिका (पर्दा) होता है ।

इच्छानुसार सब रसों का इसमें अभिनय होता था । पर्दे का रूप रमानुसार होता था । नाटक की उत्पत्ति सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही हुई ॥२१॥

(नान्दीलक्षणम्)

आशीवदिन सहितः क्रियते यत्र संस्तवः ।

गोब्राह्मणनृपादीनां संपा नान्दी प्रकीर्तिता ॥२२॥

सस्तव इति च नमस्कारस्याप्युपलक्षणम् । तच्च स्वबोधकत्वे सति परबोधकत्वम् । यदाह कोहलः 'आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोक. काव्यमुखोदितः । नान्दीति कथ्यते तस्मा पदादिनियमोऽपि वा ॥ अपिवैत्यनेन पदनियमाभावो ध्वनितः । तथाह विद्यानाथः—'केश्चिन्नान्द्या पदनियमो नान्द्युपगत इति । 'यद्यप्यङ्गानि भूयाति पूर्वरङ्गस्य नाटके । तेषामवश्य कर्तव्या नान्दी नन्दीश्वरप्रिया ॥ 'सूत्रधारः पठेन्नान्दी' इति भरतोक्तेरिमा मङ्गलाचरणात्मिका पूर्वरङ्गाङ्गभूता नान्दी सूत्रधारः पठति । केचिदाहुः—नाटकेषु पूर्वं मङ्गलाचरणपद्य रङ्गद्वारमेव, न नान्दी । सा तु रङ्गद्वारात्पूर्वमेव नटैः सम्भूय पठधते ग्रन्थेषु नोपनिबध्यते इति तदसत् । तत्र प्रमाणाभावात् ॥२२॥

नान्दी का लक्षण करते हैं । आशीरिति—जिममें गौ, ब्राह्मण तथा राजादिकों की आशीर्वाद नमस्कारयुक्त स्तुति की जाय, वह नान्दी कहलाती है । और भरत मुनि के अनुसार उसको सूत्रधार ही पढता है । कुछ विद्वान् कहते हैं कि नाटकों में जो पहला मङ्गलाचरण का पद्य होता है वह रङ्गद्वार है, न कि नान्दी । नान्दी तो रङ्गद्वार से पहले ही नटों से पढी जाती है, ग्रन्थों में उसका उल्लेख नहीं होता । यह कहना प्रमाण-शून्य है ॥२२॥

(प्रस्तावनालक्षणम्)

सूत्रधारप्रभृतयः संलपन्ति परस्परम् ।

प्रकृतं कार्यमादाय यत्र प्रस्तावना हि सा ॥२३॥

प्रभृतिपदेन नटीविद्वेषकारिषांशिकादयो गृह्यन्ते । सूत्रधार-पारि-

पाश्विकी भरतेन लक्षितौ । 'भाटकीय कथामूत्र' प्रथम येन सूच्यते । रङ्ग-
भूमि समाव्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥ सूत्रधारस्य पाश्वे यः प्रवचनं कुर्वते-
ऽर्थनाम् । काव्यार्थसूचनालाप स भवेत्पारिपाश्विकः ॥ प्रकृतं कार्यं = प्रस्तुत-
कथामादायोद्दिश्येत्यर्थः ॥ २३ ॥

सूत्रधारेति—जहाँ सूत्रधार, नटी, विदूषक, पारिपाश्विक सब मिल-
कर प्रकृत कार्य के सवन्ध में वार्तालाप करें, वह प्रस्तावना कहलाती है ।

भावनाम्ना सूत्रधारं कथयेत्पारिपाश्विकः ।

सूत्रधृद् मारिषेत्युक्त्या पारिपाश्विकमेव वा ॥ २४ ॥

यथा—दुर्गाभ्युदये प्रथमांके सूत्रधृद् मारिष शृणु । पारिपाश्विकः—
भाव, श्रुतपूर्व मया ।

भावनाम्नेति—पारिपाश्विक सूत्रधार को भाव नाम से पुकारे और
सूत्रधार उसको मारिष नाम से ॥ २४ ॥

वयस्येतिमिथो वाच्यौ नृपश्चैव विदूषकः ।

नटी च सूत्रधारश्च आर्येतिवदतां मिथः ॥ २५ ॥

यथा—शाकुन्तले पचमांके—राजा-सखे गच्छ । विदूषकः—भो वयस्य,
किं तावत् ।

शाकुन्तले प्रथमांके—आर्ये कथयामि ते भूतार्थम् । नटी—सविनयम्
आर्य ॥ २५ ॥

वयस्येति—विदूषक नृप को और नृप विदूषक को वयस्य कहकर
सम्बोधित करे । नटी और सूत्रधार आपस में हे आर्य, हे आर्य, कहकर
बोलें ॥ २५ ॥

भगवन्नितिशब्देन वाच्या देवपिभूसुराः ।

पितापुत्रौ तातवत्सो देवः स्वामोतिभूपतिः ॥ २६ ॥

यथा—दुर्गाभ्युदये प्रथमांके—राजा ऋषिं प्रति भगवन् विदितवेदि-
तस्य । पितृपदं पितृभ्रातुः पुत्रपदं शिष्यानुजानामुपलक्षणम् । उदाहर-

एगान्धेयामुत्तररामचरिते द्रष्टव्यानि । दुर्गाम्बुदये पंचमांके धूम्रलोचनः—
देवः कः खलु इति ॥२६

भगवन्निति—देव, ऋषि, ब्राह्मण और संन्यासियों को भगवन् कह-
कर पुकारे । पिता पुत्र को वत्स कहें और पुत्र पिता को तात, राजा
को सभी लोग हे देव ! हे स्वामिन् ! कहकर संबोधित करें ॥२६॥

आर्यपुत्रं पतिं पत्नीं प्रियामिति सतां चदेत् ।

भद्रेति च सदा ब्रूयात् स्त्रीमात्रं पुरुषः परः ॥२७॥

यथा—शाकुन्तले सप्तमांके—हृदय, समाश्वसिहि, आर्यपुत्र एव एयः ।
तत्रैव—राजा प्रिये, स्मृतिभिन्नमोहृतमसो दिष्ट्या प्रमुद्धे स्थितासि मे
सुमुखि । तत्रैव तृतीयांके—राजा प्रियवदां प्रति भद्रे, साधारणोऽयं
प्रणयः ॥२७॥

पत्नीति—धर्मपत्नी पति को आर्यपुत्र कहकर और पति उसको
प्रिये कहकर बोले । अन्य सभी पुरुष स्त्रीमात्र को भद्रे कहकर पुकार
सकते हैं ॥२७॥

(विष्कम्भ-प्रवेशकयोर्लक्षणम्)

विष्कम्भको हि संप्रोक्तो भूतभाव्यर्यसूचकः ।

प्रवेशको भवत्यत्र नीचपात्रप्रयोजितः ॥२८॥

भूतभाव्यर्यसूचक —वृत्तवर्तिध्यमाण-कथानिदर्शकः । प्रवेशकोऽपि
विष्कम्भक सहजेव भवति । प्रवेशश्चास्य नीचपात्रद्वारेति विशेषः । इमौ
द्वारपि विष्कम्भकप्रवेशको दुर्गाम्बुदयस्य द्वितीये पठे चाङ्गे द्रष्टव्यौ ।

विष्कम्भक इति—भूत और भविष्यत्कथाओं का सूचक विष्कम्भक
कहाता है । प्रवेशक भी इसी के सदृश होता है, किन्तु इसका प्रयोग नीच
पात्रों के द्वारा कराया जाता है ॥२८॥

(कंचुकिविदूषकदूताना लक्षणम्)

कंचुवपन्तःपुरचरो हास्यकर्ता विदूषकः ।

सन्ध्यादिकार्यकुशलो दूत इत्यभिधीयते ॥२९॥

अन्तःपुरचरो वृद्धो ब्राह्मणादिः कंचुकी भवति । यथा शाकुन्तले पञ्चमाङ्गादौ-कंचुकी-ग्रहो बत कीदृशीभवस्यामापन्नोऽस्मि । 'आचार इत्यधिकृतैः न मया गृहीता या वैश्रयष्टिरयरोधगृहेषु राज्ञ इत्यादि । विदूषकोऽपि तत्रैवाके-विदूषकः-भो वयस्य किं तावदस्या गीतिकाया अपि गृहीतो भवताऽक्षरायः राज्ञा-सस्मितमिति । सन्ध्यादिकार्यकरणनिपुणो दूतः । यथा दुर्गाम्बुदये चतुर्थाङ्गादौ-ततः प्रविशति देवदूतः यथा वा तत्रैव पष्ठाके दूतः-पत्रमुद्घाट्य श्लोक पठति-'भो भोः शुम्भ निशुम्भ, सन्दिशति वा सिंहस्थिता चण्डिका, स्वाराज्यं लभतां शचीपतिरथो सर्वाधिकारान्पुराः । पातालं द्रुतमेतमद्य युवयोर्यज्ञोवनाय सृष्ट्वा, सन्देहादथ चेन्निषोद्धुमनसौ शीघ्रं समागच्छतम् ॥२६॥

कंचुकीति—अन्त पुर (रनिवास) में आने-जानेवाला वृद्ध ब्राह्मण कंचुकी कहलाता है । जैसे शाकुन्तल के पञ्चमाङ्ग के आदि में । बात-बात में हंसनेवाला राजमित्र विदूषक कहा जाता है । सन्ध्यादि कार्य कराने में निपुण दूत कहलाता है । साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थों में इसके अनेक भेद दिखाये गये हैं । विस्तार भय से ग्रन्थकार ने वे नहीं दिखाये ।

सूत्रधारः कमप्यर्थं पात्रं वादाय किञ्चन ।

कृत्वा प्रस्तावनां गच्छेद् वस्तुपस्थापयेत्ततः ॥३०॥

अर्थमादाय वेणीसंहारे । पात्रमादाय दुर्गाम्बुदये । गच्छेत्-तिःसरेत्, ततः कविः वस्तु-इतिवृत्तम्, उपस्थापयेत्=आरभेत, वस्तु च द्विविधं मन्यते । यदुक्तमाचार्यनलकृद्देन-'इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् । गौणमुख्यविभेदेन तच्चापि द्विविधं भवेत् ॥ रामादेश्चरितं मुख्यं सुप्रीवादेस्तु गौणकम् ॥३०॥

सूत्रधार इति—सूत्रधार प्रस्तावना द्वारा किसी भी अर्थ या पात्र की सूचना देकर प्रस्तावना के अन्त में निकल जाय । इसके बाद कवि नाट्य-वस्तु का आरम्भ करे । नाट्यवस्तु के दो भेद हैं—गौण और मुख्य ॥३०॥

(नाट्योक्तयः)

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं भवेत् ।

कुर्यात्तु नाटकस्याख्यां गर्भितार्थप्रकाशिकाम् ॥३१॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते, यत्तु सर्वश्राव्यं तत्स्वगत-
मिति । यथा दुर्गाम्बुदये षष्ठेऽङ्के दीर्घजानु—स्वगतम्, अहो अद्यापि
शुभस्य जयाशा । प्रकाशम्—वक्रमुख इत्यादि । किञ्चिन्नियतश्राव्यमपि
भवति । विस्तरभयात्तत्र लक्षितमुदाहृत चास्माभिः । श्राव्यामिति यथा
रामाम्बुदयादि । यथा वा मम दुर्गाम्बुदयम् ॥३१॥

सर्वश्राव्यमिति—जो सबके सुनने योग्य है वह वस्तु प्रकाश, और
न सुनने योग्य स्वगत कहलाना है । नाटक का नाम नायक के नाम से
करना चाहिये—जैसे रामाम्बुदय, दुर्गाम्बुदय ॥३१॥

नामप्रकरणादीनां नायिकानायकाख्यया ।

नाटिकादेर्भवेदत्र नाम नायिकयैव हि ॥३२॥

प्रकरणादीनां यथा—मालतीमाधवादिः । नाटिकादेर्यथा—रत्ना-
वत्पादिः ॥

नामैति—नायिका और नायक के नाम से ही प्रकरणादिकों का
नाम रक्खना चाहिये । जैसे 'मालतीमाधव' आदि । नाटिकादि का नाम
उसकी नायिका के नाम से रक्खे जैसे रत्नावली । अब काव्य-संहार और
प्रशस्ति के लक्षणोदाहरण दिखलाते हैं ।

(काव्यसंहारप्रशस्त्योर्लक्षणम्)

कथ्यते काव्यसंहारः प्रदानं यद्वरस्य च ।

देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः शुभशंसनम् ॥३३॥

यथा दुर्गाम्बुदये—किन्ते भूयः प्रिय करोमि । इदमस्तु नरतवाक्यम् ।

विप्राणां वदनेषु वेदभगवानास्ता समस्ताशतः,

त्वत्पादाम्बुजयोः समस्तमुखयोर्निर्व्याजैर्मक्तिर्भवेत् ।

वाग्देव्या सममस्तु वास्तुनि सतां लोकाभिरामारमा,
धृद्धिं यान्तु सुखानि सन्तु मतयो धर्मं नृणां सर्वदा ॥

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद्द्विज उच्यते । विष्टया याति विप्र-
त्वम्' इति स्मृतिलक्षण-लक्षितानां विप्राणां वदनेषु मुखेषु, भगवानंश्वर्या-
दिवद्गुणसंपन्नः प्रशंसायां मनुष्यः । वेदो जंमिनिसूत्रितो मन्त्रब्राह्मणात्मकः
शब्दराशिः । स च न पुरुषनिर्मितः । 'वेदस्याध्ययनं नित्यं शुर्वध्ययन-
पूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा ॥' इत्यादिना वेदापोदये-
यत्वस्य साधितत्वात् । 'यः कल्पः स कल्पपूर्व' इति न्यायेन सतारस्या-
नादित्वादीश्वरस्य च सर्वज्ञत्वादीश्वरो गतकल्पीय वेदमस्मिन् कल्पे
स्मृत्योपदिशतीत्येतावतंबोध्यत्तेर्निर्मितत्वकल्पनानुपपत्तेः । समस्ताशतः
समस्तैरङ्गोपाङ्गैः सहास्ता विराजताम् । सतां विदुषां सञ्जनामा वा वास्तु-
नि गृहेरमते इति रमा लक्ष्मी, वाग्देव्या सरस्वत्या सहास्तु वसत्विति
प्रार्थनायां लोद स्पष्टमन्यत् ॥३३॥

कथ्यत इति—वर-प्रदान काव्य-संहार सभी नाटको मे होता है ।
देवता और ब्राह्मणादि की शुभ कामना प्रशस्ति होती है । जैसे दुर्गा-
शुद्धय मे—विप्राणामिति—ब्राह्मणो के मुख मे वेद विराजें । हे देवि,
तुम्हारे चरणों मे निष्कपट भक्ति होवे । विद्वानों के घरों मे सरस्वती और
लक्ष्मी दोनों निवास करें । सुख बड़े और सब की धर्म में निष्ठा हो ॥

(भाषाविभागः)

संस्कृतं चैव हिन्दी च द्वे भाषे काव्यवर्त्मनः ।

संस्कृते संस्कृतकविहिन्द्यां हिन्दीकविलिखेत् ॥३४॥

अर्थात् काव्यमिति । काव्यनिर्माणाय साम्प्रतं द्वेभाषेस्त इति शेषः ।
अस्ति भवन्तीपरोऽप्रगुज्यमानोऽप्यस्तीति भाष्योक्तः । यदाह वामनश्च 'न
प्रतिद्वे क्रियायां हारदोषः । न च 'त्रयः काला' इत्यादौ कस्याश्चिदपि क्रियाया
अप्याहारः कर्तुं न शक्यते, 'यत्मानकालिकसत्ताया भूतकालिकसत्ताया

भविष्यत्कालिकसत्ताया वा कालत्रये बाधितत्वादिति दाक्ष्यम् । 'ज्ञापन्ते' इत्यध्याहारेण ज्ञानविषयताश्रयत्वस्य तत्र सत्त्वेनादोषात् । सतीत्यध्याहारोऽपि कर्तुं शक्यते लक्ष्मणासक्तवर्तमानत्वस्याविवक्षितत्वादित्यलमप्रकृतेन । आन्तरिकविचाराणा भावानां चान्धान्त्रनि स्पष्टतया प्रकटीकरणाय सरलसाधन भाषा । साम्प्रतिकद्वयव्यहारीद्वेदोनाह द्वे इति । 'संस्कृत नाम देवीवाग्न्वाख्याता महर्षिभिरित्युक्त्या संस्कृत-देववाणी विद्वद्वाणीति यावत् । 'विद्वानो हि देवा' इति श्रुतेः । संस्कृतभाषा त्रिविधा—वैदिकी, पौराणिकी, साहित्यिकी च । हिन्दी हिन्दुस्थानस्य भाषा । साचापि त्रिविधा—'भाषावैदिकी' इति ह्यचरिते वाणीक्ते.—'ईशानकालिकी, चन्द्रकानिकी संस्कृतनिष्ठासंस्कृतिकी च । सर्वोत्कृष्टा मधुरा च हिन्दी-भाषा दिल्लीनगरस्य । प्राकृतभाषा तु साम्प्रतिकं कविभिर्नाटकेषु नोपयुज्यते । उदाहरण मम दुर्गान्मुदयम् । यद्योतर मुनीनां श्रामण्यमिति भाष्योक्त्या साम्प्रतिकं मिथ्यान्तर्स्पन्दानुसरणं करिष्यन्ति कविचरा इति वददृढ विश्वमिम । उभयेषां भुनित्व तु 'नानृषिं कुरुते काव्य'मिति देवी-भागवते व्यासवचनान् ॥३४॥

अब भाषावा का विभाग करते हैं—संस्कृत संबन्धि—दाव्यों के लिये अब दोही भाषाएँ मानी गई हैं । एक संस्कृत दूसरी हिन्दी । संस्कृत कवि संस्कृत में और हिन्दी कवि हिन्दी में काव्य-नाटकादि लिखते हैं । अब य दोनों ही काय भाषाएँ हैं । प्राकृतवादि का निखना प्रचलित नहीं है ॥ प्राकृत भाषा का काव्यादि में प्रयोग बौद्धों के समय से चला था । उस समय बौद्धा का बोलवाग था । उसी का प्रयोग नाम आदि को भी करना पडा । गौतमि-प्रवाह-याग त वही बन्त समय तक चलता रहा । आन्तरिक विचारा एव भावों के स्पष्टीकरण का सरल साधन भाषा बहाराती है । आजकल दो ही भाषाएँ व्यवहृत हैं । य दोनों प्रयकार ने तीन-तीन कालों में विभक्त की हैं । संस्कृत वैदिकी, पौराणिकी, साहित्यिकी, और हिन्दी-ईशानकालिक, चन्द्रकालिक तथा संस्कृतनिष्ठ सर्वाधिक व्यवहारोपयोगी, श्रेष्ठ तथा मधुर हिन्दी संस्कृतनिष्ठ मानी जाती है ॥३४॥

(श्रव्यकाव्यानि)

श्रोतव्यमात्र श्रव्य स्याद् गद्यपद्यमय च तत् ।

वृत्तबन्धोजिह्वत गद्य पद्य वृत्तं प्रकल्पितम् ॥३५॥

श्रोतव्यमात्र—श्रवणमात्रविधय न तु प्रक्षणाहमभिनेय च । यदाह भोजोऽपि—'श्रव्य तत्काव्यमाह्वय-नेक्ष्यते नाभिनीयत । श्रोत्रयोरेव सुखर भवेत्तदपि सुन्दरम् ॥ वृत्तमनुष्टुबादि । दण्डीस्त्वाह— अथाप्यपदसत्तानो गद्यमाख्यायिका कथा । पद्य पादेन सयोगात्पादो भागश्चतुष्क ॥ तत्र कस्मैव गद्यस्य घटकलशादिद्वयपदेशवत्कथास्याधिकादिसत्तातरमिति नेहोक्तम् । तत्र गद्यकाव्यानि—यासवदत्ता कावम्बरी हृषचरित दश कुमारचरित, शिवराजविजय पञ्चतत्र हितोपदेशादीनि । हिंदी पद्य काव्यानि—हिंदीमहाभारत प्रमत्तागर बालरामायण प्रमाधम चन्द्र-कान्तादीनि । पद्यकाव्यानि द्विविधानि—महाकाव्यानि खण्डकाव्यानि च ।

अथ श्रव्यकाव्यो का निरूपण करते हैं—श्रोतव्यमात्रमिति—जो केवल सुने जा सकें जिनका प्रक्षण और अभिनय न हो सके वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्यकाव्य होते हैं । वृत्तबन्ध से रहित काव्य गद्य काव्य और वृत्तो में लिखे गये काव्यों को पद्यकाव्य कहते हैं । जिस तरह एक ही घट के घटकलशादि अनेक नाम हैं इसी तरह गद्य के भी कथा भाख्यायिकादि अनेक नाम हैं । हमने वे नहीं दिये ॥३५॥

(महाकाव्यखण्डकाव्य चम्पूकाव्यलक्षणम्)

सगबन्धो महाकाव्य खण्डकाव्य ततोऽन्यथा ।

गद्यं पद्यैश्च समिध चम्पूकाव्य प्रकीर्तितम् ॥३६॥

महाकाव्य तदेवोच्यत यत्र कस्यापि महापुरुषस्य चरित्रचित्रण पूरा स्योपलम्पत । तस्यक देशवरणन यत्र भवति तत्खण्डकाव्यमिति विवेक । महाकाव्यमीशानसहितानुसारम्—अष्टसर्गैभ्यो न 'यून त्रिंशत्सर्गैभ्यो ना धिक प्रतिसर्गं भिन्नवृत्त च । किञ्चि-पूनापिष्यमपि हरविजय वामुदेव-विजयादी विपर्यासदशनात् । मुक्तकाव्यनामत्रयात्तर्भावात् । तत्र पद्य-

महाकाव्यानि—बुद्धचरित, रघुवंश, किरातार्जुनीय, भट्टि, माघ, हरविजय, नवसाहसार्जुचरित, विक्रमार्जुचरित, श्रीकण्ठचरित, नैपथ्यचरित, पृथ्वी-राजविजय, सुलतानचरितादीनि । हिन्दीमहाकाव्यानि—पृथ्वीराम-रासो, रामचन्द्रिका, रामचरितमानस, साकेत, कामायनीप्रभृतीनि । खण्डकाव्यानि-सर्गबन्धादि नियमरहितानि । मेघदूत, भर्तृहरिशतकत्रय, मयूरशतकामरुशतकादीनि । मम वा शतकत्रयं सस्कृतैतिहासः । हिन्दी-खण्डकाव्यानि—सूरसागर, विहारीसतसई, जयद्रथवध, पथिकादीनि । मम वा द्वादशपञ्चाशिका । चम्पूकाव्यानि—नलचम्पू, रामायणचम्पू, भारतचम्पू, घुन्दावनचम्पू, नीलकण्ठविजय, विश्वगुणादर्शप्रभृतीनि । हिन्द्या यशोधरा, चित्राधारप्रभृतीनि । काव्यस्य द्वौ परिपाकौ प्रसिद्धौ यथोक्तम्—
‘अयं गम्भीरिमा पाकः स द्वेषा कविसम्मतः ।
द्राक्षापाको नारिकेलपाकश्च प्रस्फुटान्तरो ॥
द्राक्षापाकस्तु विज्ञेयः स्फुरदन्तर्वहीरसः ।
स नारिकेलपाकः स्यादन्तर्गूढरसोदयः ॥
आद्यस्य—शाकुन्तलादि नाटकानि ।
द्वितीयस्य—किरातार्जुनीयादि-काव्यान्युदाहरणानि ॥

सर्गबन्ध इति—जिसमे सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है ॥ काव्य के एक देश का वर्णन जिसमे हो वह खण्डकाव्य, और जिसमे गद्य और पद्य दोनों हों वह चम्पू काव्य कहलाता है ॥ महाकाव्य मे ईशानसहिता के अनुसार आठ सर्गों से ऊपर, और तीन सर्गों से कम सर्ग नहीं होने चाहिये । और प्रत्येक सर्ग मे भिन्न-भिन्न छन्द होते चाहिये । कही-कही पर इस नियम के विपरीत भी देखा जाता है । जैसे—हर-विजय मे पचास सर्ग हैं, वासुदेवविजय मे चार, और सुलतानचरित मे पाँच । काव्य के मुक्तक भेद का महाकाव्य मे ही अन्तर्भाव माना है । काव्य के दो परिपाक प्रसिद्ध हैं । शाकुन्तल, किरातार्जुनीयादि दोनों के उदाहरण हैं ।

इति साहित्यबिन्दु के प्रथमबिन्दु की हिन्दी टीका ॥

अथ द्वितीयो बिन्दुः

काव्य-शब्दार्थयोः पूर्वयो विमर्शः प्रदर्शितः ।

स एवात्रातिसंक्षिप्य लिख्यते बुद्धिवृद्धये ॥१॥

काव्यशब्दार्थयोरिति काव्यलक्षणप्रविष्टशब्दार्थयोः, शब्दत्वजाति-
मत्त्वं शब्दस्य तदभिधेयत्वं चार्थस्य प्रसिद्धमेव लक्षणम् । सवन्धश्च तयोः
सादात्म्यमेव, तच्च पदे वाक्ये च, यदाह न्यायभाष्यकारः—‘संबन्धज्ञानार्थं
चेदं पदलक्षणाया वाचो वाक्यलक्षणायादचेति । न च शब्दार्थयोः सादात्म्य-
स्वीकारे मध्वादिशब्दोच्चारणे मुखे माधुर्याद्यपत्तिरिति शकनीयम्,
बौद्धे मध्वादादर्थे माधुर्यादि शक्तिमत्त्वाभावात् । अतएव ‘शब्दज्ञानानुपाती
वस्तुशून्यो विदल्पः, इति योगभूत्रं संगच्छते । वस्तुशून्यो बाह्यार्थ रहितः ।
विकल्पो बुद्धिपरिकल्पित इति तदर्थः । अतएव च—‘एष बन्ध्यासुतो यार्ति
खपुष्पकृतशेखरः । क्रमंक्षीरचये स्नातः शशशृङ्गघनुर्धरः ॥ इत्यत्र बन्ध्या-
सुतादेर्बाह्यार्थशून्यत्वेऽपि बुद्धिपरिकल्पित बन्ध्यासुत-शब्दवाच्यार्थमादा-
यार्थत्वात्प्रातिपदिकत्वमन्ययार्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाभावात् स्वाद्यु-
त्पत्तिर्न स्यादित्यलं विस्तरेण । पूर्वैरिति मम्मटादिभिर्यो विमर्शो विचारः
प्रदर्शितः स एवेति विशेषजिज्ञासुभिस्तेषामेव ग्रन्थेषु द्रष्टव्य इति ध्वनयितुम्,
अतिसंक्षिप्येत्यनेन तस्य ग्रहणधारणमुक्तता प्रदर्शिता । ‘समाक्षोक्तस्य
चार्थस्य सुखं ग्रहणधारणे’ इत्यभिप्रेत्युक्तेः ॥१॥

काव्यशब्देति—अब यहाँ पूर्व आचार्यों से प्रदर्शित काव्य भवन्धी
शब्द और अर्थ का विचार संक्षेप में लिखा जाता है । शब्दत्वजातिमाद्
शब्द का और तदभिधेयत्व अर्थ का प्रसिद्ध लक्षण है । शब्द और अर्थ
का संबन्ध सादात्म्य (भेदाघटितत्व) है । वह पद और वाक्य दोनों में
ही रहता है । शैनों का सादात्म्य संबन्ध मानने से मधुशब्द के उच्चारण
होने पर मुख में भीटापन घ्रा जाना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होना

क्योंकि बुद्धि-कल्पन में वह शक्ति नहीं होनी जैसाकि योगसूत्र में दिख-
लाया है । वस्तुशून्य इति—वाह्य अर्थ से रहित, विकल्प इति—अर्थात्—
बुद्धि से परिकल्पित किया हुआ । इमीलिये—आकाश-गुणों की माला
पहने हुए, बछुवे के दुग्ध में स्नान किये हुए, शरा के शृङ्गो का घनुर्वाण
धारण किये हुए यह बन्ध्या का पुत्र ज्ञा रहा है यहाँ पर बन्ध्यामुन
आदि श-शों का बाह्य अर्थ न होने पर भी बुद्धि-कल्पित अर्थ को मानकर
प्रातिपदिक सज्ञा होने से स्वादि विभक्ति आ गई अन्यथा नहीं आती ।
पूर्वरिति—मम्मटादि आचार्यों ने जो विचार शब्दार्थ के सबन्ध में दिख-
लाए हैं, वे ही यहाँ दिखाये गये हैं अति संक्षेप में, जिससे वे सुखपूर्वक
जाने जावें ॥१॥

(शब्दभेदा ।)

वाचकोऽथ लाक्षणिको व्यञ्जकस्त्रिविधो मतः ।

शब्दस्तदर्थो वाच्यादिः तात्पर्यं कस्यचिन्मते ॥२॥

शब्द-त्रिविधो मतस्तदुपाधीना त्रिविध्यात् । ननु विभागादेव त्रिवि-
धत्वे सिद्धे त्रिविधग्रहण व्यर्थमिति चेन्न । तस्य न्यूनाधिकसत्प्राध्यत्रच्छे-
दार्यत्वात् । तेषां शब्दानामर्था अपि वाच्यतद्व्यञ्जनात् । स्यु । अभि-
हितान्वयवादि-प्राचीननैयायिकमते तात्पर्यार्थोऽपि, न सर्वेषां मत इति
कस्यचिदित्यनेन ध्वन्यते । अभिहितान्वयवादिभिर्वाक्यार्थबोधाय तात्पर्य-
नान्नी वृत्तिः स्वीक्रियते । तदर्थश्च तात्पर्यार्थः । यथा—‘घट करोती’त्यत्र
घटवृत्तिर्नमत्वातु कृत्वाकृतिरित्यर्थो बुध्यते । तत्र घटपदस्य घटोऽयं ।
अप्रत्ययस्य च नमता, वृत्तित्वा तु न कस्याप्यर्थ इत्यपवादार्थोऽपि वृत्तित्वा
तात्पर्यवृत्त्या भासते । एव ‘देवदत्तो ग्राम गच्छती’त्यस्य ग्रामकर्मकगमना-
नुकूलकृतिमान् देवदत्त इति शब्दबोधेऽनुकूलत्वञ्च । अर्थान्—एवमादि-
स्थलेषु तात्पर्यवशादशक्योऽप्यर्थो वाक्यात्समुद्भवति । नव्यनैयायिक-शदा-
धरप्रभृतयस्तु स्युषत्तिवादादाविना तात्पर्यवृत्ति सतर्गमर्थादाभावक्षते ।
अन्विताभिधानवादिमीमांसकविद्वांसस्तु—क्रियाकारकयो प्रथमत एवा-

न्ययबोधो जायते ततः शक्तिग्रहः । पदविशेषसाहचर्यात्तु विशेषस्मरणमिति
कितात्पर्यवृत्त्यङ्गीकारेणेत्याहुः ॥२॥

वाचक इति—साहित्यशास्त्र मे शब्द तीन प्रकार का होता है ।
वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक, अर्थ भी तीन ही प्रकार का होता है—
वाच्य, लक्ष्य और व्यञ्ज्य । अभिहितान्वयवादि प्राचीन नैयायिकों के मत
में वाक्यार्थ-बोध के लिये तात्पर्य नाम्नीवृत्ति भी एक मानी है । उसका अर्थ
है—तात्पर्यार्थ । जैसे—‘घट करोति’ इस वाक्य में—‘घटवृत्ति-कर्मत्वा-
नुकूलाकृति’ यह अर्थ जाना जाता है । यहाँ घटपद का तो अर्थ घट ही है,
अम्प्रत्यय का कर्मत्व, वृत्तित्वा अर्थ किसी भी पद का नहीं है । वह केवल
तात्पर्यवृत्ति से ही भवभासित होता है । इसी प्रकार ‘देवदत्त ग्राम को
जाता है’ इस वाक्य का शब्द-बोध होता है—ग्रामकर्मकगमनानुकूल-
कृतिमात्र देवदत्त, यहाँ अनुकूलत्व अर्थ भी तात्पर्यवृत्ति से ही निकलता
है । गदाधरादि नव्यनैयायिक विद्वाव तात्पर्यवृत्ति को ससर्ग-मर्यादा नाम
से पुकारते हैं । अन्विताभिधानवादी मीमांसक तात्पर्यवृत्ति को नहीं मानते ।
वे पद विशेष साहचर्य से विशेषार्थ का भान मानते हैं ॥२॥

(शब्दस्य व्यञ्जकतावदन्ययोरपि व्यञ्जकत्वम्)

सर्वेषामपि चार्थानां व्यञ्जकत्वं मतं बुधैः ।

न केवलं शब्दस्यैव व्यञ्जकत्वमपितु सर्वेषां वाच्यलक्ष्यव्यञ्जघाना
व्यञ्जकत्वं बुधैर्मन्मटादिभिर्मतम् । तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

भवलोक्य निष्पन्दो धितिनोपश्रे बको भाति ।

निर्मलमरकतभाजन-परिस्थितो विमलशङ्ख इव ॥

भवलोक्येति विध्यर्थे लोट् । विधिश्च प्रवर्तनारूपः । प्रवर्तनात्वं च
प्रवृत्तिजनकतानविषयतावच्छेदकत्वम् । तच्च-इष्टसाधनत्वस्याप्यस्तीतीष्ट-
साधनत्वमेव विध्यर्थं । ‘क्रियापि कृत्रिमं कर्मत्यादिभाष्योक्तेः’ पश्य मृगो
धावतीतिवत् यकपदे न द्वितीयापत्तिः । श्लोच्यं प्रति गोप्याः कस्याश्चि-
दुक्तिरियम् । अत्रनिष्पन्दशब्दस्मार्येन क्रियाविरहेण यकगतमाश्वस्तत्वं

व्यग्नये । अतः सकेतस्यानमेतत् ॥ लक्ष्यार्थस्य यथा—

साधयन्ती प्रिये, कृष्णमतिदूनासि मत्कृते ।

सद्भावस्नेहकर्तव्यं तावद् विरचितं त्वया ॥

हे प्रिये, प्रियसखि, मत्कृते मदर्थं, श्रीकृष्णं साधयन्ती, साधिष्यन्ती गमनार्थं प्रयुज्यते । तत्समीपे गच्छन्तीत्यर्थः । अतिदूनासि=परितप्तासि दूहपरितापे कर्त्तरि क्त व्योदितश्चेतिनत्वम् । अत्र मरिप्रियं श्रीकृष्णं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् । तेन च श्रीकृष्णविषयक सापरायत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—

‘कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग मीनाहताः पञ्चमिरेव पञ्च ।

एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चमिरेव पञ्च ॥

पञ्चमिरिन्द्रियैः पञ्चविषयान्, स्पष्टमन्यत् । अत्रेन्द्रियाणामतिप्रमादित्वं व्यग्नये । तेन तेषां वशीकरणं कथञ्चित्कैर्पात्रिदेव जायते इति व्यग्नये । यत्रेदमुच्यते ‘ईश्वरानुग्रहादेया पुंसांमिन्द्रियवासना । महानर्थं प्रकुर्वाणा द्वित्राणामेव नश्यति ॥

तीनों की व्यङ्ग्यकता दिखलाते हैं—सर्वेषामिति—मम्मटादि आचार्यों ने वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीनों को ही व्यङ्ग्यक माना है । वाच्य की व्यङ्ग्यकता का उदाहरण—श्रवणोच्येति—कमलिनी के पत्ते पर निष्पन्द=चेष्टाहीन वगुजा इस तरह बैठा हुआ है जैसे निर्मल मूंग के पात्र पर स्वैत शङ्ख रक्खा ही । श्रीकृष्ण के प्रति यह किसी गोपी की उक्ति है । यहाँ निष्पन्द का अर्थ है—क्रिया-विरह । उसने बक आश्वस्त है अतः यह सकेत-स्थान ठीक है । लक्ष्यार्थ का उदाहरण—साधयन्तीति—हे प्रिय सखि, तू मेरे लिये श्रीकृष्ण के पास जाने में बटू पाकर बहुत पतली-दुबली हो गई है । यहाँ पर व्यङ्ग्य है कि तू ने श्रीकृष्ण के पास जाकर स्वयं स्नेहभाव प्रदर्शन किया अतः तू मेरी शत्रु है । उस कृष्ण को भी मैं इसका फल चखाऊँगी । व्यङ्ग्य का उदाहरण—कुरङ्गेति—जब हरिण, हन्ती, पतङ्ग, भ्रमर और मछली ये पाँच एक-एक इन्द्रिय से मारे जाते हैं

तत्र मनुष्य पाँचो इन्द्रियो से पाच विषयो का भोक्ता क्यों न मरे ! अतएव इन्द्रिया बड़ी प्रमाथो है इनका वशीकरण बड़ा कठिन है यह व्यङ्ग्य हुआ ।

(वाचकलक्षणम्)

यो वै गृहीतसकेतमर्थं यत्किं स वाचकः ॥३॥

य शब्दो यत्राध्यवधानेन गृहीतसकेतमर्थं यत्किं—अभिधत्ते सोऽत्र वाचकः । सकेतश्चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति भगवदिच्छारूपः । सोऽयं पदविशेष्यकोऽयं विशेष्यको बोधविशेष्यकश्चेति शक्तिवादे विचारः । स एव शक्तिः । इयं शक्तिः पदपदार्थयोर्याच्यवाचकभावरूपः सन्नप्येवेति वैयाकरणेन आलङ्कारिकाश्चाहुः । सकेतग्रहणसति वाचके व्याकरणोपमानकोषात्प्रवाश्यादितः ।

वाचक का लक्षण करते हैं—यो वै इति—जो शब्द गृहीत सकेत अर्थ को कहे वह वाचक कहलाता है । सकेत का स्वरूप वतलाता है—सकेतश्चेति—इस शब्द से यह अर्थ जानना यही सकेत कहाता है । शक्तिवाद में यह तीन तरह का माना गया है । पदविशेष्यक अर्थविशेष्यक और बोधविशेष्यक । वैयाकरण और आलंकारिक पदपदार्थ के वाच्य-वाचक-भावरूप सब अर्थ को ही सकेत मानते हैं । वह सकेत व्याकरणादि से गृहीत होता है ॥३॥

(अभिधालक्षणम्)

योऽर्थो गृहीत सकेतः तद्विधी प्रथमाभिधाः ।

गुरो जातौ च सकेतो गृह्यते द्रव्यकर्मणोः ॥४॥

गृहीतसकेतो मुख्यार्थं वाच्यार्थं इति यावत् । मुख्यत्वं च मुख्यव्यङ्ग्यापेक्षया प्रथमोपस्थिति विषयत्वम् । बोद्धी—शाब्दबोधजनविप्रीत्यर्थः । तथा चाभिधीयते कथ्यते साकेतिक शब्दार्थोऽनघेति निर्वचनावत् सकेतितार्थबोधजनिका शक्तिरभिधेत्युच्यते । सा च त्रिविधा केवलसमुदायशक्ति, केवलावयवशक्ति, समुदायावयवशक्तिश्च । एता एव विधा रुडि, योग, योगरुडि-शब्देष्वपदिश्यन्ते । अवयवार्थमनपेक्ष्य समुदाय-

शक्तिमात्रेणार्थबोधकत्व एद्वित्वम् । अवयवार्थसबलित समुदायशक्त्याय-
 बोधकत्व योगएद्वित्वम् । श्रवणवशक्त्या समुदायशक्त्या चार्थबोधकत्व
 योगिकरुद्वित्वम् । आद्याया द्वित्यादि । द्वितीयाया पाचकादि । तृतीया-
 या पञ्चजादिरुदाहरणम् । 'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति रिति ऋलृक् सूत्र-
 भाष्यरीत्या शब्दो जात्यादिभिश्चतुर्धा भिद्यते । तत्र गोत्वाभि-सम्बन्धा-
 द्गौरितिवाक्यपदीयोक्ते जातिर्गोविण्डादिषु गोत्वादिका । 'सत्त्वे निवि-
 शतेऽपेति पृथग् जातिषु दृश्यते' इत्यादि बोधोत्पत्त्यवचनादिति सूत्रभा-
 ष्योक्त लक्षणो गुणो विशेषाधानहेतु शुक्लादि । द्रव्यशब्दा देवदत्त, यज्ञदत्त
 विष्णुमित्रादय । कर्म—क्रिया साध्यत्वेनाभिधीयमाना पचति पाकादि ।
 'यावत्सिद्धमसिद्ध वा साध्यत्वेनाभिधीयते सा क्रिया' इति ह्युक्ते । 'नहि
 क्रिया क्रियान्तरसमवाय गच्छतीति सार्वधातुके यगितिसूत्रभाष्योक्ते
 क्रियान्तराकाक्षानुत्पापकतावच्छेदकधर्मवत्त्व साध्यत्वम् । अन्यसिद्ध-
 त्वमिति । एष्वेव व्यक्तेरुपाधिषु सकेतो गृह्यते न व्यक्तिमात्रे । सर्वासु
 व्यतिषु सकतग्रहस्वीकारे व्यक्तीनामानन्त्यात् युगसहस्रेणापि सर्वासा
 तासा नानासभवात्, सामान्यलक्षणानङ्गीकारात् । एकस्या व्यक्तौ सकेत-
 स्वीकारे तदतिरिक्ताया व्यक्ते तच्छब्दाद्भान न स्यादिति व्यभिचारात् ।
 नापि जातिमात्रे व्यक्ति विना जातिभानस्यासभवात् । तस्माज्जात्यादि-
 विशिष्टव्यक्तौ स इति न्यायविद । सरूपसूनव्याकरणभाष्यादपि जाति-
 विशिष्टव्यक्तिरर्थ इति बुध्यते । अधिकमस्माभिर्न्यायमुक्तावलिटीकाया
 प्रतिपादितम् ॥४॥

अभिधा का लक्षण बतलाते है—योग्यं इति—गृहीत-सकेत अर्थ को
 कहनेवाली पहली शक्ति अभिधा है ।

गृहीत सकेत का अर्थ है—मुख्यार्थ—उसी को वाच्यार्थ कहते हैं । मुख्य
 वह इसीलिय कहा जाता है कि लक्ष्य और व्यङ्ग्य की अपक्षा वह पहला
 है । 'अभिधीयते' इत्यादि से अभिधा का निवचन किया है । वह प्रथम
 तीन प्रकार की मानी है । केवल-समुदाय-शक्ति, केवलावयवशक्ति और

समुदायाभ्यवशात् । रुद्रि, योग, योगरुद्रि, ये नाम भी इन्हीं तीनों शक्ति-
यो वे हैं । पहली का उदाहरण—रुद्रियादि है, दूसरी का—पाचकादि ।
तीसरी का—पचजादि । चतुष्टयीति—महाभाष्यवार के मत में शब्द चार
प्रकार का होता है—जातिशब्द, गुणशब्द, द्रव्यशब्द और क्रियाशब्द ।
जातिशब्द = गोत्वादि हैं । गोत्व = गोपिण्ड (गोव्यक्ति) में रहता है ।
क्योंकि वह गोनिष्ठ जो भेद उसकी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक धर्म
है । जाति और व्यक्ति मलग नहीं रह सकती क्योंकि गोत्वादिमत्त्व भाषे-
यता संबन्ध सं गवादि-व्याप्य है । गुणशब्द = गुहादि हैं । जो कृष्य
गवादि से व्यावृत्ति कराने वाले हैं । द्रव्यशब्द = देवदत्तादि हैं । क्रिया-
शब्द = पचति-पाकादि रूप से दो प्रकार के हैं । पचत्यादिसाध्य पाकादि-
सिद्ध ॥ नहोति—क्रिया क्रियान्तर की प्रपेक्षा नहीं रखती—इस भाष्योक्ति
से क्रियान्तर की आकाशा का अनुत्प्रापक तावच्छेदक धर्मसाध्य होता
है । अन्यसिद्ध । एवमेवेति—इन्हीं चारों व्यक्ति की उपाधियों में सकेत का
ग्रहण होता है न कि व्यक्ति में । केवल व्यक्ति में सकेत ग्रहण करने से
मानन्त्य और व्यभिचार-दोष प्राता है । इसलिये जात्यादिविशिष्ट व्यक्ति
में सकेत करना चाहिये ऐसा नैयायिकों का मत है । व्याकरण भाष्यकार ने
पहले तो जाति और व्यक्ति दोनों ही गवादि पदों के धर्म माने हैं परन्तु
सरूप सूत्र भाष्य में वे भी विशिष्ट में रहमत हो गये हैं ॥४॥

(लक्षणालक्षणम्)

मुख्यार्थबाधे तद्योगे हृदयरथप्रयोजनात् ।

पर्यार्थो लक्ष्यते ह्यन्य. सोच्यते लक्षणा बुधैः ॥५॥

मुख्यार्थस्य = वाच्यार्थस्य, बाधे = ध्वस्ततात्पर्याविषयत्वे, तद्योगेऽमु-
ल्येन लक्षणायोगेन मुख्यार्थस्य योगे संबन्धे सति, हृदियप्रयोजनान्यतरहेतु-
कत्वे च सति यथा वृत्त्याऽन्यो मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्माविच्छिन्नो-
र्थो लक्ष्यते सा लक्षणा । दर्पणकृतात्वत्र यथान्योऽर्थं. प्रतीयते इत्युक्तं
तदसत् । प्रतीतेर्व्यञ्जनरूपत्वात् । 'पचाप सुन्दर' इत्यादौ पञ्चापादिशब्दो

देशविशेषे स्वार्थेन सम्भवति । विवक्षितस्याङ्गप्रत्यङ्गादि निरूपित सौन्दर्यस्य तत्राभावात् । यथा शब्दशक्त्या स्वोत्पन्नान् स्त्रीपुरुषात्लक्षयति । यथा च 'कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहम्' इत्यत्र चत्वारिंशत्कोशपरिमिता भूमि कुरुक्षेत्रपद-वाच्या, तत्र सर्वदेशावच्छेदेनास्मद्गृहासम्भवात् अस्मद्गृहाधिकरणत्वयोग्य तदेकदेश लक्षयति सा लक्षयते, स्वाभिमतार्थोऽन्येति निर्वचनात् लक्षणा मन्यते । पूर्वत्र हेतुऋद्धि प्रसिद्धिरेव । द्वितीयप्रयोगे स्वगृहस्य पवित्रत्वादि-बोधन प्रयोजनम् । इयमेव नैव्यायिकं स्वारसिक्लक्षणोच्यते । मुक्तावलि-कारा मुख्यायंस्यान्वयानुपपत्ति तात्पर्यानुपपत्ति च लक्षणावीजमाहु । वेदान्तपरिभाषाकारा केबला तात्पर्यानुपपत्तिमेव । मीमांसकाश्चान्वयानु-पपत्तिम् । 'सति तात्पर्ये सर्वे शब्दा सर्वार्थवाचका' इति कि लक्षणयेति भाष्यकारोक्तिस्तु योगिदृष्ट्या नास्मद्दृष्ट्या, शास्त्र त्वस्मदभिप्रायेणेति चंयाकरणंरदि सा मन्यते ॥५॥

अब लक्षणा का लक्षण करते हैं—मुख्यार्थबाध इति—पूर्वोक्त अमिधा शक्ति के द्वारा जिसका बोध न किया जाय वह मुख्यार्थ है । इसका बाध=वक्तृतात्पर्या विषयत्व होने पर अमुख्य से मुख्यार्थ का योग होने पर और रूद्धि (प्रसिद्धि) के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के लिए जिस शक्ति द्वारा अन्य=मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मा-वच्छिन्न, अर्थ लक्षित=ज्ञात हो वह शक्ति लक्षणा कहाती है । यहाँ लक्षणा के चार कारण बतलाय हैं—मुख्यार्थ का बाध, उसका माय सदयार्थ का सवन्ध, रूद्धि और प्रयोजन । इनमें पहले दो तो सर्वत्र आवश्यक हैं, पिछने दो में से किसी एक का होना आवश्यक है । उदा-हरण—पचापमुन्दर' है । यहाँ पचाप शब्द दश-विशेषार्थ में अनुपपन्न है क्योंकि विवक्षित अङ्ग प्रत्यङ्ग-निरूपित सौन्दर्य उसमें नहीं । वह अपने में उत्पन्न स्त्री-पुरुषों को लजित करता है ।

दूसरा उदाहरण—'कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहम्' हमारा गृह कुरुक्षेत्र में है । चालीस कोस की भूमि 'कुरुक्षेत्र' कहलाती है । उस सम्पूर्ण भूमि के एक

गृह का होना असम्भव है। अतएव हमारे गृह को अधिकरणता की योग्यता रखने वाला उसका एक देश सक्षित होता है। 'पचाप सुन्दर' इस प्रयोग में कारण है—रुद्धि प्रसिद्धि। क्योंकि पचाप में होने वाले स्त्री-पुरुष जितने सुन्दर होते हैं, वैसे कहीं भी नहीं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है और अक्षरशः सत्य भी है। द्वितीय प्रयोग—'कुरुक्षेत्र में हमारा घर है' यहाँ प्रयोजन कारण है, जिसके द्वारा निज गृह को पवित्रता बोधन करना प्रयोजन है। कुरुक्षेत्र की पवित्रता के कारण ही ब्रह्मादि देवों ने यहाँ हजारों यज्ञ किये थे और यह तपस्या तथा धर्म का केन्द्र था। नैयायिक, वेदाङ्गी, मीमांसक और वैयाकरणों ने भी लक्षणा को माना है। सभी शब्द सब अर्थों के कहने वाले हैं भाष्यकार का यह वचन केवल योगियों की दृष्टि से है, सवसाधारण की दृष्टि में नहीं। शास्त्र सवसाधारण के लिए है अतः वैयाकरणों को भी लक्षणा माननी पड़ती है ॥

व्यङ्ग्यार्थरहितारूढौ व्यङ्ग्ययुक्ताप्रयोजने ।

व्यङ्ग्यं गूढमगूढं च तद्विद्य त्रिविधा मता ॥६॥

रुद्धिलक्षणाया न किञ्चिद् व्यङ्ग्यं भवति । प्रयोजनवत्या तु पवित्रत्वादि व्यङ्ग्यमस्त्येव । सहवयमाप्रवेद्य व्यङ्ग्यं गूढम् । तदेव हि चमत्करोति । यथा ममच्छायापद्ये—

भवतोपकृतं यन्मे बहु तत्र किमुच्यते ।

एवमेव सखे कुर्वन् सुखमास्व शतं समा ॥

शतं समाः—शतवर्षपर्यन्त, 'शतायुर्वं पुरुष इति श्रुते' । योजनिक जीवति स वर्षंशत जीवति' इति भाष्योक्तेश्च । न चैव स्त्रीकारे कथमथर्ववेदे—'सहस्रायु सुकृतं सञ्चरेमिति वाच्यम् । यस्केन निदत्तप्रन्थे शतसहस्रादिशब्दानां अद्भुत्वसत्यावाचकत्वस्य निर्धारणात् । एतेन 'षष्टिवर्षंसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' इत्यादि रामायणाद्युक्तं धारयातम् । सुखं सुखपूर्वकं यथा स्यात्तथा त्रियाविशेषणानां कर्मत्व स्वीयत्व च । 'अथवादिसर्वनाम-सामान्यवाचीति भाष्योक्तेरियं बहुभिः

कारंस्तव्यमानस्य कस्यचित्कंचिदपकारिणं प्रत्युक्तिः स्वविह्वलमपकारादि-
द्वयमर्थं लक्षयति । निरपरायस्यापि सत्युर्ममानिष्टभाचरतस्तव दुष्टत्वं
स्वस्य साधुवद्योतनं व्यङ्ग्यम् । तच्चातितरां निगूढं सहृदयमात्रवेद्यत्वान् ।

तथाचोक्त-श्लोक एवं कलितः—

भवताऽपकृतं यन्मे बहु तत्र किमुच्यते ।

एवमेवाऽसत्त्वे कुर्वन् दुःखमास्व शतं समाः ॥

अगूढं सहृदयात्सहृदयवेद्यं, तच्च वाच्यापमानतया न चमत्करोति ।
यथा मर्मव छायापद्ये—

लक्ष्मी-परिचयान्मूढा हादंज्ञा विदुषामपि ।

यीवनस्य भदः स्त्रीणां ललितान्युपशिक्षति ॥

लक्ष्म्यानोरीप्रत्यये मुडागमे च लक्ष्मीः प्रतिद्वैव तस्याः परिचयो
तामः तस्मान्मूढाः 'मुहू वंचित्ये' वंचित्यमविवेक इति कौमुदीकारः । मूर्खा
अपि विदुषां हादंज्ञा अभिप्रायवेदिनो भवन्ति । स्त्रीणां स्त्रीन्यः चतुर्थ्यर्थे
पठ्यते । स्त्रियस्त्रिविधा भवन्ति । स्वस्त्री, परस्त्री, साधारणस्त्री च, स्वस्त्रियाः
प्रयोदशभेदा दर्पणं द्रष्टव्याः । परस्त्री द्विविधा, परोडा कन्यका च ।
साधारणस्त्री वेदयापि द्विविधा अनुरक्ता विरक्ता च । प्राया मृच्छकटिकादौ
यमन्तसेनादिः । द्वितीया लटकमेलकादौ भदनमङ्गर्यादिः । स्त्रीणां पद्मिनी,
हस्तिनी, शङ्खिन्यादयो भेदाः शास्त्रान्तरादवगन्तव्याः । अश्रोपशिक्षतीत्य-
नेनाविष्करोतीति लक्ष्यते । चेतनयर्मस्योपशिक्षणस्य यीवनमदे वाप्रात् ।
गाढादिष्कारोऽनायासेन ललितज्ञानं च व्यङ्ग्ये तयोर्वाच्यवत्प्रतीतेर-
गूढत्वम् । वाच्यश्रुत्वनातिङ्गितसर्वेव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारजनकत्वात् ।
एवं चैवा लक्षणावृत्तिः—अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या, अगूढव्यङ्ग्या
चेतिभेदान् त्रिविधा । तत्र व्यङ्ग्यपरहिता दृष्टिलक्षणं कविर्षय । प्रयोजन-
यतो—प्रथमतो द्विविधा, शुद्धा गौणो च । शुद्धा चतुर्विधा—उपादान-
सदस्या, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना च । गौण्यपि सारोपा
साध्यवसाना चेति पञ्चविधा । गूढागूढत्वेन द्वादशधा १. मितित्त्वर अश्रो-

दशविधा लक्षणा । तत्र रुद्धिप्रयोजनयोः पादानलक्षणायाः श्वेतो
 धावति । 'कुन्तान् प्रवेशय' इति भाष्योक्ते उदाहरणे । रुद्धिप्रयोजनयो-
 संक्षालक्षणायाः 'पचापः सुन्दरः' कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहमिति चोदाहरणे ।
 'आयुधं तम्' 'आपुरेवेदम्' इति च सारोपा साध्यवसानयोः । इमे भेदाः
 शुद्धायाः । 'गौर्वाहोकः' 'गौरयम्' इति च गोण्याः । अत्रायुधं तमापुरेवेद-
 मित्यादौ जन्यजनकभावादिः संबन्धः । तत्पूर्वके सारोपासाध्यवसाने ।
 गौणभेदयोस्तु 'गौर्वाहोक' इत्यत्र सादृश्यं लक्ष्यतावच्छेदक गवाभेदप्रत्ययः
 प्रयोजनम् । गौरयमित्यत्र सर्वथाऽभेदावगमश्च ॥६॥

रुद्धि-लक्षणा व्यङ्ग्यार्थं से रहित होती है और प्रयोजनवती व्यङ्ग्य
 से युक्त । व्यङ्ग्य दो तरह का होता है—गूढ़ और अगूढ़ । इसलिए यह
 लक्षणा तीन प्रकार की हुई—एक अव्यङ्ग्य, दूसरी सूढव्यङ्ग्य, तीसरी
 अगूढव्यङ्ग्य । जैसे गूढ (छिपा हुआ) कोई शरीराग चमत्कारजनक
 होता है वैसे ही गूढव्यङ्ग्य । इसका उदाहरण—भवतेति । तुने मेरा
 बहुत उपकार किया इसी तरह करते हुए तुम सौ वर्ष तक जीओ । यहाँ
 विशद अर्थ है ।

वही पूर्वोक्त श्लोक इस तरह फलित हुआ । भवतापकृतमिति—
 अर्थात् हे दुष्ट, तू ऐसा पापाचरण करता हुआ संकड़ो वर्ष तक दु लित
 रह । अगूढव्यङ्ग्य का उदाहरण—लक्ष्मोपरिचयादिति—लक्ष्मी की
 प्राप्ति से मूर्खातिमूर्ख भी चतुर हो जाते हैं । जैसे यौवन का मद ही स्त्रियों
 को ललित (हावभाव) आदि का ज्ञान करा देता है । यहाँ उपशिक्षण
 का अर्थ प्रवृत्त करना लक्षित होता है । अनायासेन ललित भाव व्यङ्ग्य
 है । वह स्पष्ट होने से अगूढ़ है । क्योंकि वाच्यवृत्ति से अनालिङ्गित
 (अस्पृष्ट) व्यङ्ग्य ही चमत्कारजनक अर्थात् गूढ़ होता है । यहाँ यह
 ज्ञातव्य है कि व्यङ्ग्यरहित रुद्धि लक्षणा एक ही प्रकार की होती है ।
 प्रयोजनवती—पहले दो प्रकार की है—एक शुद्धा, दूसरी गौणी । शुद्धा के
 चार भेद हैं—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा और साध्यव-

साना । गौणी भी सारोपा और साध्यवसाना होती है । अतः छ भेद हुए । व्यङ्ग्य को गूढ और अगूढ होने के कारण वह फिर बारह प्रकार की हो गई । रूढि और प्रयोजन में उपादानलक्षणा के उदाहरण—
श्वेतो पावति । कुन्तान् प्रवेशय । आगे सब उदाहरण स्पष्ट हैं ॥६॥

(लाक्षणिकलक्षणम्)

तद्भूर्लाक्षणिकस्तत्र ध्यापृतिर्व्यञ्जनात्मिका ।

विना सकेतमभिधा नैव हेतूँश्च लक्षणा ॥७॥

तद्भूर्लक्षणाश्रय. शब्दो लाक्षणिक कथ्यते । प्रयोजनं प्रतिपादयितुं लाक्षणिकशब्दः प्रयुज्यते । तत्र नान्यत शब्दात्तत्प्रतिपत्तिः । न च तत्र व्यङ्ग्यनिष्ठव्यञ्जनादृतेऽन्य कश्चन व्यापारोऽस्ति सहृदयहृदयसम्मत । मनु प्रयोजनप्रतिपादनेऽभिधादिरेव समर्था किं व्यञ्जनयेत्यत्राह—विना संकेतमित्यादि । 'कुरुक्षेत्रेऽस्मद्गृहम्' इत्यादौ पवित्रत्वादि-धर्मास्तदेकदेशे प्राग्विशेष्ये प्रतीयन्ते । तत्रैकदेशे सकेताभावान्नाभिधा नापि च लक्षणा मुख्यार्थवायाद्यभावात् ॥७॥

अत्र लाक्षणिक शब्द का निरूपण करते हैं—

तदाश्रय इति—लक्षणावृत्ति का आश्रय लेने वाला शब्द लाक्षणिक कहाना है । किसी भी प्रयोजन का बोधन कराना लाक्षणिक शब्द का कार्य है । उससे अतिरिक्त शब्द के उच्चारण करने से वह प्रयोजन नहीं निकल सकता । और उस प्रयोजन में व्यङ्ग्यनिष्ठ व्यञ्जना व्यापार के अतिरिक्त किसी भी वृत्ति का व्यापार नहीं रहना । अब आश्रय करते हैं कि उस प्रयोजन को यदि अभिधा और लक्षणा वृत्ति ही निकाल सके तो व्यञ्जनावृत्ति की क्या आवश्यकता । उत्तर—'कुरुक्षेत्र में हमारा घर है' इस प्रयोग से गृह-पवित्रत्वादि प्रयोजन निकलता है, इसको निकालने में दोनों ही धर्ममर्थ हैं । 'कुरुक्षेत्र प्रान्त में हमारा घर है' कहने से गृह में उतनी पवित्रता द्योतित नहीं होती । अतः 'कुरुक्षेत्रे' कहा ॥७॥

(व्यञ्जनालक्षणम्)

विरामे सति वृत्तीनां ययान्योऽर्थः प्रकाशयते ।

शब्दनिष्ठार्थनिष्ठा च व्यञ्जनावृत्तिरिष्यते ॥८॥

अभिधा-सक्षणा तात्पर्यवृत्तीनां स्वस्वमयं बोधयित्वा विरामे सति यया वृत्त्याऽन्योमुख्यतत्पर्याभिन्नोऽर्थः प्रकाशयते व्यञ्जयते सा वृत्ति-
व्यञ्जयते विलक्षणोऽर्थोऽजयेति निर्वचनान् व्यञ्जनेत्याख्यायते—

अचारम्य विरं साधो नि शङ्कुमिह संचर ।

रेवाकुञ्जे मृगेऽत्रेण स श्वाद्य प्रतिघातितः ॥

अत्र भिक्षुं प्रत्येवंदग्त्याः कुलटायाः प्रतिवेदिनं प्रति निःशङ्कुरत्य-
भिधानं व्यङ्ग्यं तदेतद् व्यञ्जनां विना नैव लभ्यव्यम् । व्यङ्ग्यता चेदा
शब्द-तदर्थ-पद-पदकदेश-वर्णरचना-चेष्टादिष्वपि तथैवानुभवात् । इयं च
मुख्यतयाऽलंकारिकव्याकरणैरेव च स्वीक्रियते । परन्तु द्योतकत्व-तात्पर्यप्रा-
हकृत्वादि-शब्दवैधर्म्यहरिद्रुस्ताकिंकरपि व्यञ्जना स्वीकार्येव । अनुमित्येमा
गतायंयतो भट्टमहिमादेस्तु मतं सर्वथैव न युक्तं, सत्वेतन्नामनं कान्तिकादि-
दोषप्रसवेनाभासत्वात् । सा व्यञ्जना द्विविधा—शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च ।

विरामे सतीति—अपना-अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि
वृत्तियो के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है वह
शब्द मे तथा अर्थ मे रहने वाली चौथी वृत्ति-व्यञ्जना मानी जाती है ।
इसका उदाहरण—अचारम्येति—हे साधो, तू आज से लेकर सदा के
लिये इस उद्यान मे निःशङ्कु विचर क्योंकि इस रेवा नदी के कुञ्ज मे
आये हुए एक सिंह ने उस वृत्ते को मार डाला जो तुम्हे भौकता था ।
यहाँ डरपोक भिक्षु के लिये उस कुलटा का यह कहना (रेवाकुञ्ज मे सिंह
का होना) भिक्षु के आगमन का निषेधक है और अपने प्रेमी के
निःशङ्क रमण का विधायक । अर्थान्—वाक्यार्थ-संचरण की विधि
व्यङ्ग्यार्थनिषेध मे परिणत हो जाती है ॥९॥

(गन्धनिष्ठ-व्यञ्जना-नशाणम्)

नानार्थस्य च शब्दस्य संयोगार्थनियंत्रणे ।

एकार्यस्यान्यथी कृत्वा शाब्दी सा व्यञ्जना मता ॥६॥

नानार्थस्य = अनेकप्रगृहीतशक्तिस्य शब्दस्य, न च नानार्थेषु तस्यै-
कस्या एव शब्देऽन्यमात्मस्य नानार्थत्व, नाना-शक्तिमत एव नानार्थत्वा-
दिनि वाच्यम् । शब्दप्रतावच्छेदकभेदेन शक्तिभेदस्यावश्यवशात् । अन्यथा
ह्यादिपदेऽपि शक्यं कदापत्तेः । निदन्त्रणमपराधोपस्थितिप्रतिबन्धः ।
वाच्यार्थातिरिक्तार्थपोषरो व्यापारः शाब्दी व्यञ्जनं च नामिपादिकम् ।
इतिरेकशब्द विनापि तदर्थ-प्रत्ययोद्भवशो वायुमत्त इतिवत् । अथ एव
मशयानि वायुमेव मशयतीति भाष्योक्तेः । यत्त्वत्र रसगङ्गापरकारेण
नानार्थस्याप्रावरणिवैज्यं व्यञ्जनेति मम्मटादिविद्वान्तो न युक्त इत्युक्तं
तत्र समीचीनम् । तादृशार्थस्य व्यञ्जनेऽन्यम्यतायाः सकलाचार्यमम्म-
सतगन् । मयोगार्थरिचिच्छ-शब्दादिप्रयोगादयो प्राह्यान्ने चोक्त्य हरिणा
वाप्यनदीये—

सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थ. प्रहरणं तिङ्गं शब्दस्यान्यस्य मन्निधिः ॥

गामम्यंमौविनी देश. बालो व्यक्तिः श्वरादयः ।

शब्दार्थस्यान्यस्येदे विरोधस्मृतिहेतवः ॥

तत्र सयोग = प्रतिद्वसंबन्ध., विप्रयोगो विरोध, साहचर्यं = साहचर्यं,
साहचर्येव सप्रयोग इति कर्मप्रवचनोपपुक्ते द्वितीयेति मूलभाष्ये ध्वन-
नान् । विरोधिता = प्रतिद्वसंभन्ध, अर्थः = प्रयोजनम्, प्रहरणं = वचन-
धोतुवृद्धिपदम् तिङ्गम् = पण्यप्रवचनार्थो धर्म, मप्रिधिरैकार्यता,
गामम्यं = शक्तिः बालता वा, मौविनी = योग्यता, व्यक्तिः = पुंसुम-
वादि, एते तादर्थ्यमन्देशिनिरामदारा शब्दार्थस्य विविदिनापञ्ज्ञानजनना
मर्थानि । अनेकोदाहरणानि—'मगद्भवो हरिः', 'अगद्भवो हरिः',
अथ गद्भवगदेः बदादिदिग्गदिना पररत्समयेऽपि तिङ्गुमात्रनिष्ठत्वेन

प्रसिद्धेः तत्संयोगवियोगी विष्णुमेव बोधयतो नखिन्द्रादिकम् । 'भीमार्जुनो
 इत्यर्जुनः पार्थ एव, भ्रातृत्वेन साहचर्यात् । नचेन्द्रपुत्रत्वाद्विष्णोरंशत्वाद्वा
 शर्म्यहितं चेति पाणिनिसूत्रेणार्जुनस्य पूर्वनिपातो युक्त इति वाच्यम् ।
 'भ्रातृज्यायस' इत्यनुशासनेन भीमस्य पूर्वनिपातात् । 'कर्णार्जुनो' इति कर्णः
 सूतपुत्रो नतु श्रोत्रम् । तयोर्वैरस्य लोकप्रसिद्धत्वात् । 'स्याणु' चन्दे
 भवच्छिदे' इति स्याणुः शिवो नतु शुष्कवृक्षः । 'तमेव विदित्वातिमृत्यु-
 भेतीत्यादिश्रुत्या भवच्छेदन-कर्तृत्वप्रयोजनस्य शिवादेव सिद्धेः । 'सर्वं
 जानाति देव', इति देवः प्रकृते भवान् । 'कुपितो मकरध्वज.' इति मकर-
 ध्वजः कामो नतु समुद्रः । तत्र कोपरूप-सिद्धाभावात् । वेदान्त-
 सूत्रितोऽभिमानि-व्यपदेशस्तु नात्र विवक्षितः । नच कामेऽपि कोपकर्तृत्वं
 न संभवति । तस्यानङ्गत्वप्रसिद्धेः । 'अशरीरं वावसग्नं न प्रियाप्रिये
 स्पृशत इति श्रुतेश्चेति वाच्यम् । 'हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं
 बलम् ।' धावत्यग्रे कलितललिताकाण्डकोपो मनोभूः' इत्याद्यभियुक्तोक्त्या
 शौर्यकोपादिगुणानां तत्राङ्गीकारात् । 'देवः पुरारिः' इतिपुरारिदेवपव-
 सन्निधेः त्रिपुरारिः शिव एव नतु 'पुरं देहेऽपि दृश्यते' इत्यनुसारं देहादिः ।
 'मधुना मत्तः पिक.' इति मधुर्वसन्त । कोकिलत्वजात्यवच्छिन्नकोकिल-
 मादने मधोरेव शक्तिर्नतु मधुनः । 'पातु वो दपितामुखम्' इति मुख-
 मोचित्या साम्मुख्यम् । नच मुखशब्दस्य घदनवाचकत्वमस्तु चुम्बनादिना
 वदनस्यापि कामत्राणजनकत्वोचित्यादिति वाच्यम् । असम्मूलो नदयितावद-
 नस्य कामत्राणजनकत्वोचित्याभावात् । 'विभाति गगने चन्द्र.' इति चन्द्रो
 गगनदेशस्यः चन्द्रमा नतु कर्पूरपूरः । तस्याकाशशुद्धित्वाभावात् । 'निशि
 चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्बह्लिः । रात्रिकाले सूर्यभानस्यासम्भवात् । 'भाति
 रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम्, नतु रथाङ्गपक्षी तद्वाच-
 कस्य युस्त्वात् । स्वरस्तु 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वे'त्यादौ वेद एव विशेषप्रतीतिकरो
 नतु काव्ये इति तस्य विषयो नोदाहृतः । आदिपदादभिनयादिः । यथा—

एतावन्मुखपद्ये - मेतावन्नेत्रपङ्कजा ।

पङ्कजाक्ष, भवत्यस्य तव वक्षस्यलङ्कृति ॥

कस्याश्चिद्व्योप्या श्रीकृष्ण प्रत्युक्तिरिपम् । अत्र मुलाद्याकारव
हस्तचेष्टयाभोधितम् । 'न मुने', इति सूत्रमाप्येषुक्तम्—'इहेङ्गितेन
निर्मिपितेन चेष्टितेनाप्यभिप्रायो गम्यते । इत्यमनेकार्यस्य शब्दस्य यया
कृत्वा द्वितीयार्थो बुध्यते सा शाब्दी व्यञ्जनव । यया—शालकादिप्रयुक्ते—
'सुरभिमास भक्षयतीत्यादी । अत्र सुगन्धिमासभोजनप्रकरणे द्वितीयार्थ-
गोमासोपस्थितो भोक्तुर्जुगुप्सा जायते । नच प्रथमार्थबोधानन्तर तादृश-
पदज्ञानस्य विरामात्कथं व्यञ्जनयापि द्वितीयार्थधीरिति चेत् । प्रथमार्थ-
प्रतीतेर्ध्यापारस्य शृङ्खलायाः अविच्छिन्नत्वात् । इत्येव द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्व-
मेककालत्वं च, इहेवस्य वाच्यत्वमपरस्य व्यङ्ग्यत्व मिश्र-कालत्व च ।

अब शब्दनिष्ठा व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—नानार्थस्येति—
समोप आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के प्रकृतोपयोगी एक अर्थ के
निर्णय ही जाने पर भी जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है । वह
शब्दनिष्ठा व्यञ्जना समझनी चाहिये । शब्दा—अब कहते हैं कि जब
नानार्थों में शब्द की एक ही शक्ति का मान होता है तब नानार्थता
कैसे ? नाना शक्ति वाला ही तो नानार्थ हो सकता है । उत्तर—शक्यता-
वच्छेदक भेद से शक्ति का भेद होना है, क्योंकि अवच्छेदक भेद
अवच्छेदक भेद पर नियत होता है । ऐसा न मानन पर ह्यादि पद में
(जो अनेकार्थक है) भी एक शक्ति माननी पड़ेगी—जो अनुपपन्न है ।
अतएव शास्त्रतावच्छेदक भेद से शक्ति भेद मानना आवश्यक है ।
कारिका में नियन्त्रण शब्द का अर्थ है, अर्थ शब्द का निषेध । कारिका
के द्वितीय भाग का अर्थ यह है कि वाच्यार्थ से अर्थ अर्थ की प्रतीति
कराने वाला व्यापार शाब्दी व्यञ्जना ही है न कि अभिप्रादि । यह रस-
गङ्गापरकार ने मम्मटादि के इस सिद्धान्त का लण्डन किया है परन्तु
वह भ्रमगत है क्योंकि यह सिद्धांत सबल-मम्मत है । वहाँ पर उसने
दोनों अर्थों की उभया में व्यञ्जना स्वीकार की है वह भी गलत है जब
वहाँ व्यञ्जना व्यापार स्पष्ट है तो उभय पढ़ने ही क्यों न मान लिया जाये ।
गयोवादि कारिका व आद्यपद स विप्रयोग आदि का ग्रहण है । य सभी

संयोग विप्रयोगादि शब्द के अर्थ का अनवच्छेद (अनिर्णय अथवा तात्पर्य में सदेह) होने पर विशेष ज्ञान के कारण होते हैं। अर्थात् जब कहीं किसी अनेकार्थक शब्द का तात्पर्य सन्दिग्ध होता है तो प्रकरणादि के द्वारा विशेष ज्ञान हुआ करता है। सशङ्खचक्र इत्यादि—शङ्खचक्र का प्रसिद्ध संबन्ध विष्णु के ही साथ है, अतः शङ्खचक्र के संयोग में हरिपद विष्णु का ही बोध कराता है। वियोग (विश्लेष) वहाँ ही होना है जहाँ संयोग हो 'अशङ्खचक्रो हरिः' कहने पर भी हरिपद विष्णु को ही कहता है। 'भौमार्जुनो' कहने से दोनों भाई सहचर पाण्डवों का ही बोध होता है। 'कर्णार्जुनो' कहने पर प्रसिद्ध वीर होने के कारण कर्ण शब्द से सूत-पुत्र ही का ग्रहण होता है कान का नहीं। अर्थ नाम प्रयोजन का है—'स्थाणुं वन्दे भवच्छिद्रे' यहाँ संसारोच्छेद रूप प्रयोजन शिव भगवात् से ही सिद्ध हो सकता है न कि शुष्क वृक्ष में, अतः स्थाणु पद का अर्थ यहाँ शिव ही है। 'सर्वे जानाति देवः' यहाँ देव पद का अर्थ प्रकरणगत राजा आदि है। 'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य में मकरध्वज पद से कामदेव का ही ग्रहण है समुद्र का नहीं। क्योंकि कोपरूप लिङ्ग समुद्र में नहीं रहता। यद्यपि काम को भी अनङ्ग माना है तथापि अभियुक्तोक्तियों से उसमें कोपादि का होना सिद्ध है। 'देवः पुरारिः' यहाँ कोशबल से पुर नाम देह का भी है, परन्तु देवपद की सक्षिप्ति से पुरारि का अर्थ 'शिव' ही है देहादि नहीं। 'मधुना मस्तः पिकः' इस वाक्य में मधु पद का अर्थ बसन्त ही है क्योंकि कोकिल को मस्त करने में उसी का सामर्थ्य है, शहद आदि का नहीं। 'पातु वो दयितामुखम्' यहाँ औचित्य के कारण मुखपद का अर्थ साम्मुख्य (अनुकूलत्व) ही है केवल मुख नहीं। विभातीति—यहाँ चन्द्रमा का ही बोध होता है कर्पूर समूह का नहीं; क्योंकि आकाश में चन्द्रमा ही रहता है कर्पूर नहीं। 'निशिचित्रभातुः' यहाँ चित्रभानु का अर्थ अग्नि है, सूर्य नहीं, क्योंकि रात्रि में अग्नि ही रहती है। 'भाति रथाङ्गम्' यहाँ नपुंसकत्व के कारण पहिये का ही ग्रहण है चक्रवाक पक्षी का नहीं। स्वर उदात्तादि वेद में (इन्द्रशत्रु बद्धे इत्यादि) में ही निर्णायक है काव्य में नहीं; अतः

वह छोड़ दिया । आदि पद से यहाँ अभिनयादि लेना । उदाहरण—एता-
वदिनि—यह किमी प्रकृत्य दूती की श्रीकृष्ण के प्रति उक्ति है । यहाँ
अङ्ग-प्रयत्नों का हस्तचेष्टा से बोधन किया है । द्वितीयार्थ—व्यङ्ग्यार्थ
का उदाहरण—सुरभीति—यहाँ वाच्यार्थ—मुग्नित माम और
व्यङ्ग्यार्थ गोमास है ॥६॥

(आर्योऽनञ्जनालक्षणम्)

वक्त्रादीनां च वैशिष्ट्यादार्यां सा व्यञ्जनेष्यते ।

यः परबोधनाय वाच्यमुच्चारयति स वक्ता, स च कवि. तन्निबद्धो
नायकादिश्च । आदिपदात् प्रतिपाद्य वाकुचेष्टादेश्च परिग्रहः । एषा
सक्रे यस्य प्राधान्यं तेन व्यपदेशः । प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति
सिद्धान्तात् । प्राधान्यं च चमत्कार-प्रयोजकत्वम् । वैशिष्ट्याद्विशेष-
योगात्सदृशकारादिति यावत् । तत्रभावे व्यञ्जनानुदयात् । एवं च वक्त्रादि-
वैशिष्ट्यहेतुका वाच्यार्थधीः तद्धेतुव्यापारत्वमार्था व्यञ्जनेति फलितम् ।
यथा—'गतोऽस्मिन्मर्क.' इति वाक्येन द्विजाती वक्त्ररि प्रतिपाद्ये वा सन्ध्या-
वन्दनस्याप्यमवसर इति । गोपालवातके वक्त्ररि प्रतिपाद्ये वा 'सहियन्ता
गावो गृहं प्रति निवर्तामहे' इत्यादिका अर्थावकाशवैशिष्ट्याद् व्यन्यन्ते ।

अब शब्द की व्यञ्जना का निष्पन्न करने अर्थ-मूलक व्यञ्जना कहते
हैं—अप्येति—वक्त्रादीति—जो दूसरे को बोधन करने के लिये वाक्य
उच्चारण करे वह वक्ता कहा जाता है । आदि पद से ग्राह्य हैं प्रतिपाद्य—
निसर्ग प्रतिपादन किया जाये । वाकु—कण्ठ की विशेष ध्वनि, और
चेष्टा आदि की विशेषता के कारण । जो शब्द-वक्ति अन्य अर्थ का बोधन
कराती है वह अर्थमूला व्यञ्जना है । जहाँ इन सब का मकर है वहाँ
त्रिमका चमत्कार अधिक है उसी का प्राधान्य होने से व्यपदेश होता है ।
वक्ता और प्रतिपाद्य (बोद्धव्य) दोनों का उदाहरण—'गतोऽस्मिन्मर्क.' इति
वाक्य अर्थ तो यही होगा कि 'मूर्ख भस्त्र हो गया' परन्तु व्यङ्ग्यार्थ—मूर्ख
द्विजाति (ब्राह्मणादि) वक्ता अथवा प्रतिपाद्य है वहाँ सन्ध्यावन्दन का

समय हो गया, जहाँ गोपाल बालक वक्ता अथवा प्रतिपाद्य है। वहाँ गायो को घर पर लाया जावे—इत्यादि ॥

(व्यञ्जकलक्षणम्)

तद्युक्तो व्यञ्जकस्तत्त्व द्वयोश्च सहकारत ॥१०॥

तथा व्यञ्जनया युक्त शब्दो व्यञ्जक इत्युच्यते। तत्त्व व्यञ्जकत्वम्। द्वयो शब्दार्थयो, यथा शब्दो व्यञ्जकत्वेऽथमपेक्षते तथार्थ शब्दमपि न सौऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते इति वाक्यपदीयोक्ते। शब्द-पूर्वको ह्यर्थे सप्रत्यय इति भाष्योक्तेश्च। तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सह कारोऽवश्यमङ्गीकृतव्य। अथासत्यभेदस्यापि ध्वनेर्ध्वनिकारविशा केपि विशेषा प्रदश्यन्ते। तथाहि द्विविधो ध्वनिः। शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्ति मूलश्च। तत्राद्यस्त्रिविधो रसवत्स्वल्पकारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरग्रे च विद्यते। वस्तुध्वनिर्यथा वेणीसहारे—

निर्वाण वरिदहना प्रशमादरीणा
नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माघधेन।
रक्त-प्रसाधितभुव क्षतविप्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुहराजमुता सभृत्या ॥

निर्वाण शमित वरिरूपोऽग्निर्येस्ते पाण्डुतनया शत्रूणां प्रशमाद्यवन्तु। अत्र कुरूणां क्षतशरीरादिक वस्तु शब्दशक्त्यैव प्रतीयते। अलकार-ध्वनिर्यथा भट्टत्रिविक्रमस्य।

‘नलोऽपि मां प्रत्यनलोऽसि

यत्तद् भवाद्दृशा नैषध नैष धर्म ॥

भवांस्त्व नलोऽपि स-मां दमयतीं प्रत्यनलोऽग्निरसि—भवसि, हे नैषध, भवाद्दृशा दयालूना नैष धर्मे कर्तव्यम्। अत्र विरोधाभासालकारो व्यञ्ज्यते। वस्तुत्वस्य केवलत्ववित्त्वेनालकारस्यापि वस्तुत्वे गोवली-वदग्नायेन वस्तुत्वकारोर्भेद। अलकार्यस्यापि साहाय्यमण-पायेना-लकारत्वम्। अर्थशक्तिमूलश्च द्विविधः। अर्थांतरसकमित्वाद्योऽत्यंत

तिरस्कृतवाच्यश्च । आद्यो यथा ध्वन्यालोकै—

त्रोश्च ।

एवमेव जनस्तस्या ददाति वदनोपमायां शशिविम्बम् ।

परमार्यतो विद्यारे पुनश्चन्द्रः चन्द्र एव वराकः ॥

एवमेव = विनैव विद्यारम् । जनो लोकः शशिविम्बं = चन्द्रम्, परमार्यतो वस्तुतः, अत्र मुख्यार्थतावच्छेदकं द्वितीय-चन्द्रत्व लक्ष्यतावच्छेदके क्षयित्व-रूपेऽयं परिणमति । द्वितीयो यथा भगवद्गीतायाम्—

‘या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संपत्नी ।

यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥’

निशेति च, निशेव निशा = आत्मनिष्ठा, सयमी = योगी, तस्यां जा-
गर्ति = जागरणशीलो दृश्यते । यस्यान्तु विषयनिष्ठायां भूतानि = सर्वे
प्राणिनो जागर्ति, सा आत्मतत्त्व पश्यतो मुनेर्निशा । अनेन हि वाक्या-
र्थेन न निशासौ नया जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः । किन्तुहि तत्त्व-
ज्ञानावहितत्वमतस्त्वपराद्मुख्यत्वं च ।

तद्युक्तः—व्यञ्जना मे युक्त (व्यञ्जनोपाधिक) शब्द व्यञ्जक बहुलात्ता
है । शब्द अर्थ की ओर अर्थ शब्द की अपेक्षा करता है । मतः एक की
व्यञ्जकता में दूसरे की सहकारिता अवश्य माननी पड़ेगी । यद्यपि ध्वनि
के अनेक भेद हैं तथापि ध्वनिकार की शैली से कुछ भेद यहाँ दिखाये
जाते हैं । ध्वनि पहले दो प्रकार का है—शब्द-शक्ति-मूलक और अर्थ-
शक्ति-मूलक । पहले के तीन भेद हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-
ध्वनि । रसध्वनि की चर्चा आगे करेंगे । वस्तुध्वनि का उदाहरण—
निर्वाणवरीति—अनुषो की शान्त (नष्ट) कर देने से अनुसूय अग्नि जिन्हों-
ने गुभा दी ऐसे पाण्डव लोग, श्रीकृष्ण सहित मानन्दित हों । और रक्त
मे जिन्होंने भूमि को घसट्टन कर दिया और दात शरीर कोरव स्वस्य =
गान्ध हों । यहाँ कोरवों का दातशरीरादि वस्तु = शब्द-शक्ति से व्यञ्जित
होना है ।

अनकार-ध्वनि का उदाहरण—ननोऽपीति—हे ननप = नन ! नू नल

भमय

अमरोति—ज५ कोई ब्राह्मण, अमणव (जैनसाधु) हो जाय तो ब्राह्मण नहीं रहता । परन्तु पहली दशा के अनुसार उसे 'ब्राह्मणोऽय अमणव' कह देते हैं । इसी प्रकार अलकार्य होने पर भी विरोधाभासादि में अलकार पद का प्रयोग जानें । अर्थमून भी दो तरह का है । पहले का उदाहरण—एवमेवेति—लोक उम नायिका वी मुखोपमा में चन्द्र को रखते हैं परन्तु वह ठीक नहीं ।

अत्रेति—यहाँ मुख्यार्थतावच्छेदक है द्वितीय चन्द्र व अर्थात् दूसरा चन्द्रप्रयोग, वह लक्ष्यतावच्छेदक क्षयित्व अर्थात्—क्षयशालिरूप अर्थ में परिणत हो जाता है । द्वितीय उदाहरण—या निशेति—जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है कौन—आत्मनिष्ठा उसमें योगिजन जागते रहते हैं । जिस विषयनिष्ठा में सब प्राणी जागते हैं उममें योगिजन सोया करते हैं । अत्रेनेति—यहाँ न तो निशा से तात्पर्य है और न ही जागरण से किन्तु योगी तत्त्वज्ञान में सावधान होते हैं और अतत्त्वों से पराङ्मुख यह अर्थ विवक्षित है । अर्थात् निशा और जागरण में दोनों अत्यन्त तिरस्कृत हैं ॥ १० ॥

(रसध्वनेरात्मनो रसस्य लक्षणम्)

विभावरनुभावंश्च व्यक्तः सचारिभिस्तथा ।

स्यायिभावो हि रत्यादिः प्राप्नोति रसरूपताम् ॥ ११ ॥

नायकादिनिष्ठोऽपि प्रीत्यादिर्ज्ञानसवन्धेन सहृदयनिष्ठो रसो भवतीति भावः । विभावादयोऽप्ये चञ्चल्यन्ते । व्यक्तोऽभिव्यक्तिविषयोऽकृत । यथा शरायादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सनिहितान् पदार्थान् प्रकाशयते

स्वयं च प्रकाशते । एवं रस आत्मर्चतन्त्रं विभावादिसवलितां रत्यादींश्च ।
 भरतोऽपि सूत्रयति—विभावात्नुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति ।
 अस्य सूत्रस्य चत्वारो व्याख्यातारः । तत्र मीमामकरोत्या भट्टलोहटमते
 स्यामिना विभावेनोत्पाद्योत्पादक-भावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद्
 व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावरूपात्सवन्धात् सुख्या वृत्त्या रामादावनु-
 कायं तद्रूपतानुमन्धानात् रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिः । परमत्र मते रामादावेव
 रसनिष्पत्त्या सहृदये रसनिष्पत्त्यभावाच्चमत्कारानापत्तिरिति दोष ।
 चमत्कारश्च काठकजीवानुः । तात्त्विकरोत्या श्री-शुक्रमते स्यामिनी
 विभावादिभिः संयोगादनुमाप्यानुमापकभावरूपात् सवन्धाद्रसस्य निष्प-
 त्तिरनुमितिः । प्रथमसमेतं ज्ञान चमत्कारजनकं नातुमित्यादिकमिति लोक-
 प्रसिद्ध्याऽप्रापि दोषः । सायरीत्या भट्टनायकमते विभावादिभिः संयोगाद्
 भोज्यभोजक-भावरूपात्सवन्धाद् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिरिति । प्रपूर्वं = भो-
 ज्यभोजक-भावरूप-व्यापारद्वयकल्पने मानाभावोऽप्रापि दूषकः । साहित्य-
 रोत्या अभिनवगुप्तवादमते विभावादिभिः सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात्स-
 वन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिः । अतवद्यमेतन्मतम्—एवमभिधया ज-
 मिधेयस्य, लक्षणयापि चालक्षणोपस्य, परमानन्दाविनाभावितया केवलं
 व्यञ्जनया प्रतीयमानस्य चास्य रसस्य विकासक्रमस्त्वेषः । भरतेन नाट्य-
 शास्त्रे रसः पूर्णरूपेण निरूपितः । भामहभट्टोद्भूटान्यामस्य रसवदाद्य-
 संकारतया परिस्थितिः कृता । दण्डिनासावंकुरितोऽपि न पञ्चवितः ।
 ध्वनितोच्चनकारान्यामेतस्य प्राधान्यं प्रवर्तितम् । मम्मट, विश्वनाथ,
 जगन्नाथ, प्रभृतिभिरेव पराकाष्ठा नोतो विजयतेनराम् ॥११॥

अब रसध्वनि के आभास रस का निरूपण करते हैं—विभावात्-
 नुभावंश्चेति—महदय पुरुषों के हृदय में स्थित वासनास्य प्रीत्यादि
 स्यामिभाव हा विभाव, अनुभाव और सचारिभावों के द्वारा अभिव्यक्त
 होकर रस के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं ॥

नायक आदि में रहने वाले भी प्रीत्यादि भाव ज्ञानसवन्ध से सहृद-
 गोचर होकर रस बन पाते हैं । विभावादि की चर्चा आगे करेंगे । व्यक्त

का तात्पर्य यहाँ अभिव्यक्ति का विषय किया हुआ है। जैसे शराव (शराई) से ढका हुआ दीपक शराई के हटा लेने से अपने समीप के सब पदार्थों का प्रकाशित कर देता है, और स्वयं भी प्रकाशित रहता है, इसी तरह रस भी आत्मचैतन्य और विभावादियुक्त रत्यादि को प्रकाशित करता है। भरत भी कहते हैं—विभाव अनुभाव और संचारि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र के चार व्याख्याता हैं। मीमांसक भट्ट-सोह्रद के मत में विभाव से उत्पाद्योत्पादक संबन्ध द्वारा अनुभाव से—गम्यगमक भाव संबन्ध द्वारा और संचारी से पोष्यपोषक संबन्ध द्वारा रामादि में तद्रूप का अनुसन्धान होने में रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। परमवैति—परन्तु यहाँ यह दोष है कि ऐसा मानने से श्रीरामादिको में ही रस की उत्पत्ति हो सकेगी सहृदयो में नहीं। ताकिक थीशकुक के मत में विभावादिको के साथ स्थायि (प्रीत्यादि) के संयोग (अनुमाव्या-नुमापक भाव रूप संबन्ध) से रस की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति होती है। परन्तु लोक में प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार-जनक माना है अनुमित्यादि नहीं। यहाँ यह दोष है। साध्य-भतावलम्बी भट्टनायक के मत में भोज्य-भोजक रूप संबन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) मानी है। परन्तु इस संबन्ध में अर्थात् ऐसे ध्यापार द्वय कल्पन में कोई प्रमाण नहीं यह दोष है। अत्र साहित्याचार्य अभिनव गुप्तपाद का निष्पत्ति = अभिव्यक्तिवाद ही सर्वमान्य सिद्धान्त है। रसका विकास क्रम यह है—नाट्यशास्त्र में भरत ने रस का पूर्ण रूप से निरूपण किया है। भामह और भट्टोदमठ ने रस की रसवदादि प्रलकार माना है। ध्वनिकार ने इसका प्रवर्तन किया है। और मम्मटादि ने इसको पूर्णतः प्रचलित कर दिया ॥११॥

कार्यकारणसंचारिरूपा लोके हि ये मताः ।

विभावाद्या रसोद्बोधे कारणानि भवन्ति ते ॥१२॥

रसोद्बोधे = रसव्यञ्जने, कारणानीत्यस्य समानलिङ्गत्वाभावेऽपि समानवचनवत्त्वं 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणनीतिवत् । सामग्री-

भेदेन तन्निष्ठकारणत्वस्य भेदाद् बहुवचनान्तता । 'वेदाः प्रमाणमित्यत्र तु विशेषणपदोत्तरविभक्त्या बहुत्वविरुद्धमेकत्वं विवक्षितं, तच्च—प्रकृत्यर्थ-
तावच्छेदके प्रमितिकरणत्वेऽवेति । एवमेव 'इति हेतुस्तदुद्भवे' इत्यत्र काव्य-
प्रकाशे । ननु यदि विभावादीनां मिलितानामेव रसनिष्पत्ति प्रतिहेतुता-
वच्छेदकत्वं तदा क्यकार तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि रसः स्यादि-
त्युच्यते ।

कार्यकारणोति—लोक में कार्य, कारण तथा सचारी रूप होने पर भी रस के उद्बोधन करने में विभाव, अनुभाव और सचारी तीनों ही कारण माने जाते हैं । क्योंकि पूर्वोक्त अलौकिक विभावनादि व्यापार के द्वारा तीनों ही रस का उद्बोधन करते हैं । महा 'कारणानि' पद में भिन्नभिन्नता होने पर भी समान वचनता है, 'प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दा प्रमाणानि' इसकी तरह । सामग्री भेद से तद्बोधन कारणता का भेद होने से बहुवचनता हुई । शब्द—फिर 'वेदाः प्रमाणम्' यह कैसे, उत्तर—
यहां तो प्रमाणोत्तर विभक्ति का बहुत्व-विरुद्ध एकत्व विवक्षित है । वह प्रकृत्यर्थनावच्छेदक प्रमितिकरणत्व रूप एक वस्तु में अन्वित है । शब्द—
नन्विति—यदि विभाव, अनुभाव और सचारी इन तीनों के मिलने पर ही रस व्यक्षत होता है तो जहां वही एक अथवा दो ही का वर्णन है वहां कैसे होगा । उत्तर—मध्ये यदि इति—विभावादिको में से दो अथवा एक होने पर भी दोष का मध्याहार ही जाता है ॥१२॥

मध्ये यदि विभावादेर्द्वयोरेकस्य संभवः ।

अन्याध्याहारतस्तत्र स दोषो विनिवर्तते ॥१३॥

मध्याहारः समाक्षेप, स च प्रकरणादियद्वात् । यथा—

स्वमुत्त यदि भो राधे, युवा अन्ध्रमतः कथा ।

रग्नेत्रे यदि रग्भोद, शोच्यमग्भोदह बहू ॥

अत्र राधामात्रविभाववर्णनेऽपि सञ्चारिणामौत्सुव्यादीनामनुभावानां
त्रैविष्टारदीनामौचित्यादेवाक्षेप इति संक्षेप ।

यहा अन्य का अध्याहार प्रकरणादि से लेना । इसका उदाहरण—
यथेति स्वन्मुखमिति—हे सुन्दर नेत्रोवाली राधे ! तेरे मुख के रहते चन्द्रमा
की क्या कहनी व्यर्थ है । और तेरे नेत्रों के आगे कमल वृथा हैं । यहा
राधा नायिका मात्र विभाव है । उसके औत्सुक्यादि सचारियों का और
नेत्रों का विकास औचित्य से ही ममक लिया जाता है ॥१३॥

(रसे प्रमाणम्)

चर्वणं रसे मान स्वस्याभिन्नतयेष्यते ।

स्वस्याभिन्नतया=स्वतादात्म्येन, तादात्म्य च भेदा घटितत्वम् ।
चर्वणा काव्यायंज्ञानजन्य स्वाद । स च परब्रह्मास्वादात्समाधेरपि
विलक्षण । न-वस्या चर्वणाया सुखाशभाने किं मानमिति चेत् । समा-
धावपि तद्भूतानि किं मानमिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् । 'समा विप्रति
पत्ति स्यादिति जमिनिसूत्रात् । 'यत्रोभयो समो दोष परिहारोऽपि
तादृश । नैकस्तत्रानुयोक्तव्य ' इति तत्र—वातिकोक्तेश्च । सुखमात्यन्तिक
यत्तद् बुद्धिप्राप्तमतीन्द्रियमित्यादि शब्दोक्ति प्रमाणमिति चेत् । अत्रापि
'रसो वं स' रस लब्धवानब्दी भवतीत्यादि धृति प्रमाणम् ॥

अब रस को प्रमाणित करते हैं—चर्वणं चेति—रसज्ञान में अभेदबुद्धि
से चवणा ही प्रमाण है । काव्य के अर्थज्ञान से जो आस्वाद आता है वही
चवणा है । वह आस्वाद परब्रह्म का है स्वाद जिसमें उस समाधि से भी
विलक्षण है ।

अथ के ते विभावादय इत्याशकाया विभावादीनाह—

लोके रत्यादि-जनका विभावा काव्य एव ते ॥१४॥

ये नाम लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सोत्तादयस्त-
एव काव्ये नाटके च निबद्धा स-तो विभावा कथ्यन्ते ।

अथेति—रस निरूपण में विभावादिकों का नाम बार बार आया
है अत उनका लक्षण करना प्रसङ्ग-प्राप्त है—लोक इति—लोक में जो
रत्यादि के जनक (उद्बोधक) हैं वही काव्य और नाटक में विभाव

कहना है । लोक में सीता आदिक जो रामचन्द्रादि की रति आदि के उद्बोधक माने जाते हैं वे ही यदि काव्य और नाटक में निवेशित किये जायं तो विभाव-पदवाच्य होते हैं । अर्थात् सीता आदि के दर्शन या श्रवण से ही सहृदयों के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादि भाव रसरूप में परिणत हो जाते हैं ।

(विभावलक्षणम्)

आलम्बनोद्दीपनाख्ये तद्भूदे कविभिर्मते ।

नायकोपवनादीन्या लम्बनोद्दीपने क्रमात् ॥१५॥

तदिति—तस्य = विभावस्य, नायक इति नायिकाया अप्युपलक्षणम् ।

भेदद्वयमिदमग्निपुराणोऽप्युक्तम् ।

विभाव्यने हि रत्यादियंत्र येन विभाव्यने ।

विभावो नाम स द्वेषाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ॥

पमुद्दिश्य रत्यादिः प्रवर्तते स आलम्बनम् । नायकनिष्ठे रते नायिका-
लम्बनं नायिकानिष्ठे च तस्मिन्नायक इति न विस्मर्तव्यम् । निमित्त-
लोद्दीपकं तच्च चन्द्रिणोपवन-पवनरमणोगान-रहःस्थान-प्रभृति ॥१५॥

विभाव के दो भेद हैं—आलम्बनेति—आलम्बन और उद्दीपन, उनमें आलम्बन विभाव नायक (श्रीराम) आदि होते हैं क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर रस की निष्पत्ति होती है । यही बात अग्निपुराण में निम्न है । उद्दीपन = चन्द्रिका (चादनी), उपवन (बगीचा), स्त्रियो का गान और रहः (एकान्त) स्थान आदि ।

(प्रनुभावलक्षणम्)

स्य-स्य-हेतुभिरद्भूतं बहिर्भाव्यं प्रदर्शयन् ।

कार्यरूपो हि यो लोकेऽनुभावः सोऽत्र मन्वते ॥१६॥

आलम्बनोद्दीपनकारणरद्भूतं श्रेय्यादिभावं 'रामोऽयं सीताविषयक-
श्रीनिमान्' इत्येवं वृत्तिः प्रदर्शयन्तदनुमायन् यः सन्तु कार्यनिष्ठिनाम्ना

अपदिश्यते लोके सोऽनुपध्याद्भूवो यस्येति ध्युत्पत्त्या काश्ये नाटकं
चानुभावः ॥१६॥

अब अनुभाव का लक्षण बहते हैं—स्वस्वहेतुभिरिति—सीता आदि
आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से रामादि के हृदय में उद्भूत
रत्यादि को बाहिर प्रदर्शित करने वाला लोक में जो रति का कार्य
कहलाता है वही काव्य नाटक में अनुभाव कहा जाता है ।

(सचारिलक्षणम्)

सम्मुखे चरणादेते संचारि-पदवीं श्रिताः ।

स्यायिन्पुन्यमन-निर्मग्नाः त्रयस्त्रिंशन्मताबुधैः ॥१७॥

स्यायिनि=प्रीत्यादौ, उन्मग्ना बुद्बुदवत्, विद्युद्विद्योतबद्धा, भटिति
प्रतीताः । निर्मग्ना विलम्बप्रतीतिफलत्वेन तिरोहिता ये घर्मास्ते त्रयस्त्रिंश-
संख्याकाः संचारिणः कथ्यन्ते रससहचारित्वात् ।

सम्मुखे इति—रस के सम्मुख में सचरण के कारण इन्हें सचारि
पदवी प्राप्त है । ये स्थिरता से विद्यमान प्रीत्यादि स्यायि भाव में उन्मग्ना-
विद्युत्प्रकाशवत् भाविर्भूत, निर्मग्न=विलम्बतया तिरोभूत होकर अनु-
कूलता से व्याप्त रहते हैं । ये तैंतीस सचारी भाव अथवा व्यभिचारी भाव
कहलाने हैं । रस के सहचारी होने से ये सचारीभाव कहे गये हैं । अब
नेतीसों का नामोल्लेख करेंगे ।

(सचारिभेदा)

आलस्यं दीनता चैव मोहचिन्ते धृतिस्मृती ।

निर्वेदश्च तथा ग्लानिः शकासूया मदश्ममाः ॥१८॥

लज्जा चापत्य-गर्वो च जड़ताऽवेग एव च ।

अभिमानो विषादश्च निद्रापस्मार उत्कता ॥१९॥

स्वप्नं प्रबोध उपत्वममर्षश्चाव हित्यकम् ।

व्याध्युन्मादौ भतिस्तर्को मरणं त्रास एव च ॥२०॥

एषु मरण न प्राणवियोगात्मकं ग्राह्यं चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु मुख्यमरणस्यासभवात् । ननु मान्मर्षं क्षमा-सशयादीनामपि लक्ष्येषु दर्शनात्प्रथमेतत्परिगणनं पर्याप्तमिति चेन्न । उक्तेष्वेषामन्तर्भाविसभवात् यस्त्वन रसगङ्गाधरकारो मुखदेवनृप पुत्रादिविषया प्रीतिं मेलयित्वा सचार्तिणं चतुर्दशशतसख्यामाह तन्न युक्तम् । मुनिगणना भङ्गप्रसङ्गात् । मम्मटादिभिर्देवादिविषयपरतेर्भाजत्वेनोक्तीर्तनाच्च ॥

प्राप्तस्यमिति—१ प्राप्तस्य, २ दीनता, ३ मोह, ४ चिन्ता, ५ धर्म्यं, ६ स्मरण, ७ निर्वेद, ८ ग्लानि, ९ शका, १० असूया, ११ भद, १२ श्रम, १३ लज्जा, १४ चपलता, १५ गर्वं, १६ जडता, १७ आवेग, १८ अभिमान, १९ विषाद, २० निद्रा, २१ अपस्मार (रोगविशेष), २२ उत्कण्ठा, २३ स्वप्न, २४ प्रबोध, २५ उग्रता (क्रूरता), २६ अमर्ष (असहन), २७ अकृत्या (हर्षादि वै आकारकी छिपाना), २८ व्याधि (वात-पित्त-कफजय-ज्वरादि), २९ उन्माद (चित्त मोह), ३० मति (अर्थ-निर्यारण), ३१ तर्क (मदेहात्मक विचार), ३२ मरण, ३३ प्राप्त । इनम मरण (प्राण-वियोग) नहीं लेना, अपितु चित्तवृत्त्यात्मक भाव । शका—मात्सर्यादिक अग्न्य भाव भी देखने में आते हैं फिर ये ही क्यों ? उत्तर—इन सब का पूर्वकथितों में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

(रसभेदा)

शृङ्गारो हास्य-करुणो रौद्रो वीरभयानकी ।

घोभत्सोऽद्भुतशान्तौ च काव्ये नव रसाः स्मृताः ॥२१॥

अत्र नयेति रसा इति च द्वेऽपि पृथक्पदे । अन्यथा समाहारसमाप्ते—
'ध्वारा-नोत्तरपदो द्विषु छिपामिष्ट' इति भाष्यकारेष्टया प्रितोकी-
तिशत् नवरसोत्थापत्ते । कामस्य सफलजातिमुत्सभतपाऽर्पन्तपरिचितत्वेन
गर्वाग्रनि हृष्येति पूर्व शृङ्गारस्य, तदनुगामित्वात् हास्यादीना पश्चात्त्रि-
बेदा । न च प्रीतेः परमाह्लादजनकत्वेन रामादाविव सहृदयेऽपि सुख-
जनपरवादस्तु शृङ्गारस्य रसत्व, कदल्यादीनां तु स्यादपि शोशादेर्दुःख-

सभिन्नत्वेन कथं रसत्वमिति धाच्यम् । शोकावच्छिन्नस्य चैतन्यानन्दस्याधिकत्वात् । शोकांशस्य न्यूनत्वात् । अतएव हि कहरणादि-रसप्रधानेषु रामायणादि-प्रबन्धेषु रामलीलादिषु च सर्वेषां प्रवृत्तिर्दृश्यते । सत्यस्यैव शोकादेर्दुःखजनकत्व प्रतिनिपत न कल्पितस्येति तु न शक्यमभिधातु रज्जुसर्पादीनामपि भयकम्पानुत्पादकत्व-प्रसङ्गात् । न च रसस्य काल्पनिकत्व, सकलसामाजिकानां रसास्वादानुभवात् ।

यत्त्वत्रेति—रसगङ्गाधरकार ने ३४ व्यभिचारी भाव माने हैं परन्तु वे मुनिगणना भङ्ग होने से ठीक नहीं । और मम्मटादि ने ३४वें को भाव माना है सचारी भाव नहीं । अब रसो का भेद दिखाते हैं—शृङ्गार इति—शृङ्गार आदि नौ रस हैं । पहला रस शृङ्गार इसलिये माना है कि वह सब योनियो के जीवो को प्रिय है । शङ्का—प्रीति को आनन्द-जनक होने से उसके रस शृङ्गार मे रस (सुख) है । परन्तु शोक दुःख-मय होने से कहरणादि मे रस (सुख) कैसे माना जा सकता है । उत्तर—उनमे भी चैतन्यानन्द बहुत है शोकांश बहुत कम । इसीलिये रामायणादि के पढ़ने-सुनने मे और रामलीला देखने मे सचकी प्रवृत्ति देखी जाती है । सहृदयो को रस आने से रस को काल्पनिक भी नहीं कह सकते ।

(शृङ्गारलक्षणम्)

परस्परबलोकेन स्पर्शनालिङ्गनादिभिः ।

स्त्रीणां च पुरुषाणां च शृङ्गारो जायते रसः ॥२२॥

यूना परस्परबलोकनादिभिः शृङ्गाररसो भवति । उदाहरण मम—

शून्य कुक्षगृहं हृत्वा पत्यु सुसस्य छद्मना ।

स्पृश्यमाना मुख राधा स्मित्वा कृष्णेन धीक्षिता ॥

शून्य = सख्यादिरहितम् । अनेन मुखस्पर्शन-प्रवृत्तिषोष्यता ध्वन्यते रागहेतुकोऽधरकरणक सयोगानुकूलो व्यापार. मुखस्पर्शन-पदार्थं । 'मुहं नेत्र, आहमूल, कपोलीष्टद्वयराङ्गाग्यष्टौ स्पर्शन-स्थानानि, रागत सर्वाण्यपीति कामशास्त्रम् । स्मित्वा = स्मित कृत्वा, स्मित चोत्तमानां हासं

यदुक्तं नाट्यशास्त्रे—‘स्मितहसिते श्रेष्ठाना मध्याना विहसितोपहसिते च ।
प्रथमानामपहसितं ह्यतिहसितं चेति विलेपम् ॥ अत्र भगवानृष्यो राधा
चालम्बनविभावी । शून्य लतागृहमुद्दीपनविभावः । मुखस्पर्शनमनुभावः ।
हासः सञ्चारोभावः तज्ज्ञे सामाजिके शृङ्गाररसव्यक्तिरेवमग्रेऽपि । एष
शृङ्गारो द्विविधः । सयोगो विप्रलम्भश्च । रतेः सयोगकालावच्छिन्नत्वे
प्रथमो नत्वेऽत्र स्थितिरूप ईर्ष्यादिसञ्ज्ञावे विप्रलम्भस्य वर्णनान् । वियोग-
कालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः । नतु स्यानान्यत्वम् । मनसि प्रीतिसत्त्वे स्याना-
न्यत्वेऽपि संयोगस्यैव वर्णनान् । उदाहरणं मम सुलतानचरिते—

‘अभिनय नयने निमीलितान्न, कृतकसमाधिरयं तव प्रतीतः ।

अलमलघुतमाज्ज भाभनङ्गज्वरदवधुं स्ववधुं कुरुष्व कण्ठे ॥

अभिनयोद्घाटय, कृतकसमाधिः=अलघुतिसमाधिः । अलघुतया=

विलम्बेनाल, विलम्बो न कर्तव्यः, गम्यमानापि क्रिया कारक-विभक्तौ प्रयो-
विनेति नृनीया । यद्यपि स्थियो विलासरेषानुराग प्रकटयन्ति नतु कण्ठनः,
सपाप्यतिशामातुररवादेवमुक्तिः । एषोऽभिलाषहेतुको विप्रलम्भो विरह-
हेतुको वा । न च यमकालंकारघटितत्वेन तवेद पद्य नास्योदाहरणं
भवितुमीष्टे । ‘ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् । शक्तावपि
प्रमादित्वं विप्रलम्भे विद्योपत. ॥ इति ध्वनिकारोक्तेरिति वाच्यम् । एता-
दुदाहरणायाः सहृदयहृदयानुद्देजकत्वेन रसपीयकत्वेन च रसागानर्हत्वात् ।
शृङ्गाररसो वारणादिप्रयोगे प्रकृष्यति । ‘बहु वार्यने यनः सतु यत्र
प्रच्छन्नबाधुत्वं च । या च निपो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः ॥
इति भरतोक्ते ॥२२॥

शृङ्गाररस का लक्षण—परस्परैति—स्त्री पुरुषों के परस्पर देखने
एव स्पर्शन से शृङ्गाररस होता है । उसका क्रम निम्न प्रकार से
है—स्त्री और पुरुषों का परस्पर एका-दूसरे को देखना, अभिलाषा
करना, परस्पर में राग होना, स्नेह (प्रेम) होना उसके बाद प्रीति और
शृङ्गार, ये सयोग के भेद हैं । दृष्टि और मन के अनेक प्रकार के उल्ल-
विकृतर होना, जापने रहना अर्थात् जिज्ञा न जाना, अत्यन्त कृच हो घाना,

किसी भी वस्तु में चित्त न लगना, लज्जा का नाश, और मूर्च्छा, ये दस वियोग (विप्रलम्भ) के भेद हैं। 'रति-रहस्य' ग्रन्थ में भी लगभग यही क्रम है। शृङ्गार का उदाहरण—शून्यमिति—श्रीराधा, कुञ्जगृह की शून्य (सख्यादि-रहित) देख कर, कपटनिद्रा की मुद्रा से सोते हुए श्रीकृष्ण के मुख को देखने और स्पर्श करने लगी। तत्काल ही श्रीकृष्ण हम पड़े और उन्होंने प्राणप्यारी राधा के मुख का अपने मुख से स्पर्श किया। कामशास्त्र में—मुख, नेत्र, स्तन, बाहुमूल, कपोल, दोनों ओष्ठ, और वराङ्ग ये आठ स्पर्श स्थान माने हैं। राग (प्रत्यासक्ति) से पुरुष किसी भी अङ्ग का स्पर्श कर सकता है। स्मित=उत्तम (थोष्ठ) पुरुषों का नाट्यशास्त्र में हास्य कहा गया है उन सब के भेद यहाँ स्पष्ट दिखाये गये हैं। इस पद्य में भगवान् कृष्ण और राधा दोनों परस्पर आलम्बन विभाव है। शून्य कुञ्जगृह उद्दीपन विभाव है। परस्पर स्पर्श=अनुभाव, और हास्य सञ्चारीभाव है। इनसे सहृदय के हृदय में शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी प्रकार सब रसों में जानना चाहिये। शृङ्गार दो तरह का है—सयोग और विप्रलम्भ, अन्य स्पष्ट है।

सयोग-काल यहाँ एक जगह दोनों की स्थितिरूप विवक्षित नहीं अपितु सयोग काल, ईर्ष्यादि रहने पर एक जगह स्थिति रहते भी विप्रलम्भ ही माना है। इसी प्रकार वियोग भी स्थान की भिन्नता नहीं, स्त्री-पुरुषों के मन में प्रीति रहने पर अन्य स्थान में भी सयोग ही माना है। विप्रलम्भ का उदाहरण हमारे सुलतानचरित काव्य में है। अभिनयति—हे व्यर्थ ही नेत्रों को भीचे हुए भद्र पुरुष ! अपने नेत्रों को सोलो यह तुम्हारी कपट-समाधि में जानती हूँ ॥२२॥

(हास्यलक्षणम्)

स्याविभावो यत्र हासः स हास्यः श्वेतवर्णकः ।

आत्मस्यश्च परस्यश्च द्विविधो मन्यते युधैः ॥२३॥

मुक्तविकारो हासः । स च द्विविध आत्मस्यः परस्यश्च । द्वयोर्लक्षणं

नाट्यशास्त्रे—'विपरीतात्मकारिविचृताचाराभिधानवेदंश्च । विचृतरङ्ग-
विकारं हंसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ विचृताचारं वा विचरङ्गविकारंश्च
विचृतवेदंश्च । हास्यपति जनं यस्मात्स्माग्नेयो रसो हास्यः ॥ श्वेतः=
श्वेतवर्णः, 'मालिग्यं श्वोम्नि पापे यशसि घबलता गीयने हासकी-
र्यो रिति कविसम्प्रदायात् । अत्रेदमपि बोध्यम्—'भृङ्गारो विष्णुदेवतयः
हास्यः प्रमथदेवतः । रौद्रो रुद्राधिदेवतयः करुणो यमदेवतः । श्रीभक्तस्य
महाकालः कालदेवो भयानकः । वीरो महेंद्रदेवः स्यादद्भुतः शक्ति-
देवतः ॥' उदाहरणं मर्मव—

'मयाद्भुतैस्मिन्नध्ये वाच्ये युक्ति प्रदर्शिता ।

सञ्जना हि यथा सेव्या न कथं दुर्जनास्तथा ॥

सर्वशारत्रेषु सञ्जनानामेव सेव्यत्वमुक्तं परन्तु मदीये मध्यकाव्ये
दुर्जनतोष्यत्वोक्तिरदनुनेति परिहासः । अप्राभिनवताकिक आलम्बनम् ।
तदीयाद्भुतोक्तिरहीनम् । स्मितायेगानुभाव-सचारिणी । यथा वा—

किं चक्रे कालिदासेन मागधी येन यजिता ।

किं चक्रे भारदिव्येन मातरिख्या नियोजितः ।

उभयत्र किं चक्रे निन्दितमेव तौ चक्रतुरिति प्रश्नकाकुरपहासार्था ।
चक्रे इति कर्मणि कर्तरि च परोक्षेतिट् । परोक्षत्वं च साक्षात्करोमीत्येतादृश
विषयतानालिगाना विषयत्वम् । तेन चक्रे सुवन्तः मुजनेकवन्धुरित्यादि-
कमसाध्वेयेति भ्रूणकारः । न चात्र द्विष्याद्वये पुनरुक्तिदोष इति वाच्यम् ।
तस्योद्देश्य प्रतिनिवेश्यभिन्नविषयत्वान् । अत्र मागधीत्यस्य प्रथमोऽयं
गुरुरिणा, द्वितीयस्तु हास्यस्यऽङ्गकः ' एवं मातरिश्येत्यत्रापि बोध्यम् ॥२३॥

हास्य रग वा सशक्त—स्याविभाव इति—जिम रस वा स्याविभाव
हास है, स्वेत वर्ण है और प्रमथ देवता है, वह हास्य रग दो प्रकार का
होता है । अग्ने-घान हँमनेवाला और दूगरो को हँमानेवाला । यहाँ
दोनों के भेद और सब रगों के देरना भी स्पष्ट दिग्याये गए हैं । हास्यरग
का उदाहरण— मयेंद्रि—मैंने एक नवीन वाच्य में यह नवीन युक्ति
दिग्याई है जैसेकि मेवा सज्जनों की ही बयों की जाय, दुर्जनों की बयों

नहीं। इस उदाहरण में अभिनवताकिक आलम्बन-विभाव है, उसकी अपूर्व उक्ति उद्दीपन विभाव, स्मित (ईपद्हास्य) और आवेग, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हैं। हास्य रस का दूसरा उदाहरण—कि चक्रे इति—कालिदास ने मायपी (मुदक्षिणा) का वर्णन करके क्या किया, भा को गधी बना दिया। एव भारवि ने अपने काव्य में जगह-जगह पर मातरिश्वा वायुका प्रयोग किया है भयवा मातरि (माता पर) श्वा (कुत्ते) को नियुक्त किया—लगाया है। आशका—इस उदाहरण पद्य में एक ही 'चक्रे' क्रिया का दो बार प्रयोग क्यों है? उत्तर—दो बार प्रयोग वहाँ द्रुपित होता है जहाँ उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य भाव नहीं हो, यहाँ दोष नहीं ॥२३॥

(करुणारसलक्षणम्)

अनिष्टादिष्टनाशान्न जायते करुणो रसः ।

कपोतस्य मतो वरुणो देवोऽस्य भगवान् यमः ॥२४॥

अनिष्टमिष्टान्यस्व नञ्सुप्रभाष्ये तथैव सिद्धान्तितत्वात् । ताकि-कास्तु—सर्वप्रात्यन्ताभावमेव नञर्थमाहु । करुण.—करुणपदवाच्य, भरतोऽप्याह—'इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य सशवाद्वापि । सस्वन-वदित्तर्मोहागमंश्च भवति करुणरसः ॥ यथा मम दुर्गाम्युदये—

'प्रभूनास्तीर्णतल्पे योऽशेतानल्पेऽमुरेश्वरः ।

क्षितो शेते सकीर्णोऽप्य विवरुणो घूलिघूसर ॥

प्रसून पुष्पम्, अनल्पेमहति, कीर्णं प्रक्षिप्त, स्पष्टमन्यत् । अत्र—मृत-क्षुभासुर आलम्बनम् । क्षितिशयनकालावच्छिन्नप्रदर्शनादिकमुद्दीपनम् । रोदनमनुभावोर्दन्वारय. सचारिणः, यथावा मर्मव—

'सुशील सोमदत्तास्यौ हा सुतो विनयान्वितौ ।

किमतो दुःखवाहूल्य पश्यतो मे दिवगतौ ॥'

करुण का लक्षण—अनिष्टादिति—अनिष्ट—इष्ट से, अन्य की प्राप्ति से, इष्ट के नाश से, और विप्रिय वचन आदि के श्रवण से, करुण रस की

अभिव्यक्ति होती है। इसका रङ्ग कपोत (कबूतर) जंठा है। इसके देवता भगवान् ममराज हैं। इसमें स्थायी भाव शोक' है। उदाहरण हमारे दुर्गाभ्युदय नाटक में—**प्रमूनेति**—कहाँ तो महान् शौर पुष्पो से ढके हुए सुवर्णं मञ्च पर सोना और कहीं इम असुरों के सम्राट् शुभ का पृथ्वी पर फेंके जाने से धूलि में सोना। यहाँ मृत शुभ आलम्बन विभाव है, उसका पृथ्वी पर शयनकालीन दर्शन उद्दीपन विभाव, रोना अनुभाव, और दीनता आदि सञ्चारीभाव हैं। दूसरा उदाहरण—**सुशीलेति**—हे सुशील और सोमदत्त त्रिनयपूर्णं पूजो ! तुम मेरे देखते देखते स्वयं गत हो गये, इससे अधिक दुःख क्या हो सकता है ॥२४॥

(रौद्ररसलक्षणम्)

स्यापिभावो यतः क्रोधः स रौद्रो रद्रदेवतः ।

वर्णस्तु रक्त एवास्म्य प्रोक्तो रसविशारदः ॥२५॥

क्रोधः सप्रामहेतुवः प्रकोपः । मह्यकुपितः क्रुध्यतीति भाष्योक्तेः । रद्रः शिव । स च चेतनोऽपि जीवाद्भिन्नः । माण्डूक्यादी 'एष सर्वतः एष सर्वेश्वर' इत्यादिना तस्य जीवकोटि-प्रवेशनिरासात् । 'शिव एको ध्येय' इत्यादि श्रुत्या तस्य ध्येयत्वोक्तेश्च । न च देवीभागवते रद्रस्य ब्रह्मपुत्रत्व महोपनिषदि विष्णुपुत्रत्वं महाभारते शिव एव भगवानित्युप-सम्प—'सोऽमृजद्दक्षिणादङ्गान् ब्रह्माण लोकसम्बन्धम् । वामपार्श्वोत्तया विष्णुं लोकेश्वरार्थमद्भुतम् ॥ इत्यादिना शिवस्यैव ब्रह्मविष्णुजनकत्व-मुक्तमिति परस्पर विरोध इति वाच्यम् । देवता इतरेतरजन्मानो भवन्ति कर्मजमान इति निरक्षणे समाधानात् ।

उदाहरणं मम दुर्गाभ्युदये—

रे भूट ! त्व तावदेव यावत्सुरां पिबामि ।

गर्जं तर्जं वाऽन्तर त्वा यमस्य नयामि ॥

सुरा=मदिरा, सा चानेकविधा भवति । न च तस्याः 'यो ह्य-जानन्नपि ब्राह्मणं हन्यात् सुरा वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्या'दि-

स्यादि-शास्त्रेण निषेधात् कथं परमपवित्राया भगवत्यास्तत्पानकर्तृत्व-
संभव इति वाच्यम् । युद्धोपयोगित्वेन तत्पानसंभवात् । रागत. पाने
दोषाच्च । अत्र महिषासुर आलम्बनम् । लच्छ्छ्रोद्यमनमुद्दीपनम् । भगवत्या-
स्तद्व्यादिकलक प्रतिज्ञानुभावः । अग्न्यनैरपेक्ष्य गम्य-गर्वो व्यभिचारी ॥

रौद्ररस का लक्षण—स्थायिभाव इति—जिसका स्थायीभाव क्रोध
हो वह रौद्र रस होता है । इसका वर्ण लाल और देवता रुद्र है । यहा
क्रोध, संग्रामहेतुक कोप विवक्षित है । रुद्र नाम शिव का है । वह चेतन
होने पर भी जीव से भिन्न है, क्योंकि माण्डूक्य आदि श्रुतियों में वह
ईश्वर माना है । शङ्खा—देवीभागवत में वह ब्रह्मा जी का पुत्र माना है,
महोपनिषद् में विष्णु वा पुत्र, महाभारत में ब्रह्मा और विष्णु दोनों ही
शिवपुत्र कहे हैं ऐसा क्यों ? उत्तर—निरुक्त में लिखा है कि यह शक्ति
देवताओं में ही है कि एक आत्मा अनेक प्रकार से वर्णित किया जाय,
और वे कार्यवशात् परस्पर-जन्मा हो सकते हैं ।

रौद्ररस का उदाहरण—रे मूढेति—रे मूढ महिषासुर, तू तभी तक
अपनी निर्भीक गर्जना वा तर्जना कर सकता है जब तक मैं मदिरा पीऊँ ।
उसके अनन्तर तुझे क्षण में ही यमराज का अतिथि बना दूंगी ।
शङ्खा—पवित्र भगवती ने सुरापान क्यों किया, क्योंकि ब्राह्मण हनन
और सुरापान को शास्त्रों ने महादूषित कहा है । समाधान—जैसे मास
खाने के लिये पशु-हिंसा दूषित है परन्तु यज्ञ में पशुहिंसा दूषित नहीं,
इसी प्रकार भ्रानन्द के लिये मदिरापान दूषित है युद्ध के लिये नहीं, यहा
'महिषासुर' आलम्बन है, उसका शस्त्र उठाना 'उद्दीपन', उसके वध की
प्रतिज्ञा 'अनुभाव', गर्व 'व्यभिचारी' ॥२६॥

(रौद्ररसलक्षणम्)

गौरवर्णो भवेद् धीर उत्साह स्थायिभावकः ।

दानेन दयया युद्ध धर्माग्या स चतुर्विधः ॥२६॥

उत्साहो हि परपराक्रमादि-स्मरणजन्य उत्प्रतिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषः ।

उत्साहप्रधानो गूढगर्भो वीररत्नध्वनिरित्यभिमन्विः । उदाहरणं मम
दुर्गाम्बुदये, अरे रे, दानवापत्तद, अलमलं बहु प्रलय्य—

‘मनुष्यत्वस्य गर्भेण स्त्रीत्वं त्वं मन्यसे नृणाम् ।

तदहं पुद्गतुलया निर्लंघ्याम्यद्य यद्गुरा ॥

देवता उक्तिरित्यम् । अथ गुंभासुर आलम्बनम् । तद्गर्वोक्तिरुद्दीपनम् ।
सर्वप्रोपेशानुभावो गर्भो व्यभिचारी । अयं वीररत्नः चतुर्विधो दानदया-
पुद्गमस्तदुपाधेः चतुर्विपरवान् । तत्र दानवीरो बिरला, गोपनकादिः ।
बिरला गोपनबोदाहरणे मन्वेष—

‘स जयति युगलकिशोरो-बिरला मन्दिरविधानेन ।

‘य इन्द्रप्रस्थनगरे लक्ष्मीसाफल्यमात्मनः चक्रे ॥

इन्द्रप्रस्थनगरे=नवीनदेहत्यां लक्ष्मी-साफल्यं-चक्रे=कृतवान् ।

स गौरीनाकरो घन्धो येन दिङ्घी-महामते ।

मार्गद्विलशरूप्याणां सौर्यां दक्षिणा ददे ॥

महामत इति । अयं शतमुत्तबोधिहोमात्मको महायज्ञः दिङ्घीस्य-
निगमबोधनाग्नि यमुनातटे मम तत्त्वायधाने विश्रमीये द्विसहस्रमिनेसंबरसरे
जातः । सौर्यां=मुक्तांविचारभूता, गिन्नोतिभाषायाम् । दक्षिणा दसतेः
समर्द्धंयति कर्मण इति निरुक्तकारः । यज्ञे दक्षिणाया एव प्राधान्यं ‘हतो
यज्ञस्तवदक्षिणा’ इत्यभियुक्तोक्तेः ।

दयावीरा हिन्दुजातीयाः । यथा मम—

अविश्वनस्य गोमातृपनस्य यययारणे ।

प्राणा अपि नृणातीव दातव्या हिन्दुवन्पुमिः ॥

गोमातृवर्गस्य=गर्वा समूहस्य, न च गच्छन्तीनि गौरिति व्युत्पत्ति-
संहिष्यादायनि प्रगच्छा गमनचर्तृत्वस्य महिष्यादिसाधारणत्वादिति
वाच्यम् । दातव्यावच्छेदकगोत्रस्य महिष्यादायमत्वेनाति प्रसङ्गान्नावान् ।
पुष्यभादी तु गोत्रस्यानिप्रसङ्गत्वेऽपि शक्यत्वोपगमे क्षतिविरहान् । नृणा-
मोत्तमाननिष्ठमिन्नतिङ्गता न रूपनमनुद्देशकत्वान् । अथ गाय
यामम्बनम् । प्रतिदिनं सशतपिठयथा यथ उद्दीपनम् । सदास्तरप्रतिजा-

करणमनुभाव । प्राणैरपेक्ष्य गम्य-गर्वो व्यभिचारी ॥ युद्धवीर
श्रीरामविक्रमादि । यद्यपि युद्धवीरो घोरानातिरिच्यते । तथाप्यय-
दुदाहरण ममैव—

किमह वरुण्ये वीर्यं रामविक्रमयोस्तथो ।

याम्पा जितौ महावीरो लकेश्वरशकेश्वरो ॥

अत्रालम्बनादिविभाषादप्य स्वयमवगतव्या । धर्मवीरो युधिष्ठि-
रादि । यथोक्त व्यासपादे ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।

निदशन तयो साक्षाद् दुर्योधनयुधिष्ठिरो ॥

उदाहरण यथा मम—

नास्या योगे नच वसुधये रम्यराभोपभोगे ,

यद्यद्भाव्य भवतु सकल तत्स्वकर्मानुसारम् ।

एतप्रार्थ्यं मम तु विबुधानो मुघा वच्मि किञ्चिद् ,

धर्मो श्रद्धा प्रसरतु सदा निश्चला निश्चला मे ॥

युधिष्ठिरस्योक्तिरियम् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः तथैव योगसूत्रात् ।

धर्मो—वैदिकधर्मो य 'सनातनमेतन्माहुरित्यथर्वश्रुते सनातनधर्ममपि कथ-

यति । सनातनस्वमत्स्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम् । स च दशविधो मन्वा-

दिषु द्रष्टव्य । वस्तुतस्तु घोरस्य बहवो भेदा अतएव पाण्डित्यवीर-

स्वात्त्र्यवीरादयोऽपि भवन्ति । तत्र पाण्डित्यवीरो यथा मम—

मपि कुर्वन्ति शास्त्रार्थं चार्वाकस्तु भवत्यवाक् ।

जैन श्रयति मौनस्व बोद्धो बुद्धि विमुञ्चति ॥

आह—लोकसम्मत् वक्तोति चार्वाक । यन्मते—

'अङ्गनालिङ्गनाजग्य सुखमेव पुमयता ।

लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापर स्मृत ॥

जैन-बोद्धो प्रतिद्धो, यथावा—

प्रलवंगवंहारके श्रुतिस्मृतिप्रचारके,

अनल्पकल्पनावति प्रजल्पतीह शक्रे ।

बृहस्पतिर्न जल्पति प्रसपंतोव संपराट्,
अमम्मुसदव पण्मुसः चतुर्मूलदव दुर्मुसः ॥

पूर्वपत्रे चार्वाकादिरालम्बनम् । समादशंमुहोपनम् । शंकराचार्यं कृतं कः
सर्वविद्वत्पराजयोऽनुभावो गर्वो व्यभिचारी । अत्रस्वयमूह्यम् । स्वातन्त्र्यवीर
प्रताप, निलक, गाधि, अवाहरादिः । उदाहरणमस्मिन्मित्रमपुराप्रताद-
दीक्षितस्य वीरप्रतापनाटके—

‘यावन्मे घमनीमुखेषु खिरवनेदोऽपि सनिष्ठने,
मासं वास्यनि निष्ठनि वज्रिदपि प्राणाः शरीरे स्थिताः ।
तावन्स्लेच्छपने क्यच्चिदपि न प्राप्स्याम्यहं निघ्नताम्,
स्वातन्त्र्यस्य पदे समस्तवसुधा नेतुं यत्तिये भूशम् ॥

मे—मम प्रतापगाव्यिज्ञवाहरादेः । स्लेच्छपतेरकञ्चराप्रेजादेः ।
निघ्नतामघोनताम् । स्पष्टमन्यत् । अत्राकञ्चराप्रेजादिरालम्बनम् ।
तत्कृतं क-सर्वव्यनेच्छादिदृष्टोपनम् । भूमिस्पर्शपुर.सरं तदधीनत्वा-स्वी-
कारप्रतिज्ञानुभाव । ममस्तवसुधाया स्वातन्त्र्यकरणगर्वो व्यभिचारी । समे-
धामेषामुद्देश्यतावच्छेदक स्वातन्त्र्यप्राप्तित्वमेकमेवेत्येकमेवोदाहृतम् ॥२६॥

अत्र वीर रस का निरूपण करते हैं—गौरवरं इति—वीर रस का
वरं गौर होता है, उल्साह इसमें स्थायीभाव है । वीर यह दान, दया, युद्ध
और धर्मभेद से चार प्रकार का है । उदाहरण दृगाम्मुदय में—मनुष्यत्व-
स्येति—अरे दानवापमद, तू मनुष्यत्व—(मनुष्य जाति) के अभिमान से
मत्रोत्व (स्त्रीजाति) को तृणवत् मानता है, मैं आज युद्धायी लड़कों से
निरुण्य वर दूंगी कि दोनों में बड़ा कौन है । दानवीर बिरला, गोयनकादि ।
बिरला का उदाहरण—सज्जपतीति—बिरला श्रीयुगलकिगोरजी, धन्य हैं
जिन्होंने दिल्ली में कई लक्ष रुपयों से बिरला-मन्दिर बनवाकर अपनी
सक्ष्मी को सफन किया है । एव क्रुद्धेत्र आदि पवित्र स्थानों में भी
आपने बिरला-मन्दिर बनवाये हैं । गोयनका का उदाहरण—स गौ-
रीनि—वह सैठ गोपीशकरगोयनका, धन्य है, जिसने दिल्ली के शतमुख

कोटि होमात्मव महायज्ञ में द्राक्षणा को दार्द साग रूपों की सुवर्ण दक्षिणा दी। यह रातगुण कोटि होमात्मव महायज्ञ, दिल्ली के निगमबोध नामक यमुना-तट पर हमारे तत्त्वावधान में विक्रम सवन् दो हजार के माघ मास में हुआ था। यज्ञों में भूरि दक्षिणा देकर द्राक्षणा को समृद्ध किया जाता है। स्वल्प दक्षिणासले यज्ञ मृतयज्ञ माने गये हैं।

दयावीर हिन्दुजातीय है। उसका उदाहरण—अश्विनस्येति—अत्यन्त दयनीय गोमाताओं के वध को हटाने में हिंदू भाइयों को अपने प्राण वृणवत् द देने चाहिये। शब्द—'गच्छति इति गो' इस व्युत्पत्ति से भैरव आदि भी गो हो सकती हैं। उत्तर—परन्तु उनमें गोत्व (गो-जानीयत्व) नहीं था सकता। बल आदि में गोत्व माने पर भी कोई शक्ति नहीं। भालम्बनादि स्पष्ट हैं। युद्धवीर श्रीराम आदि हैं। यद्यपि युद्धवीर वीर से पृथक् नहीं तथापि स्वतन्त्र भी उदाहरण हो सकता है। किमहमिति—विश्वविदित उन श्रीराम और विक्रम के वीर्य—अन्तु पराक्रमों का मैं क्या वर्णन करूँ जिन्होंने लक्ष्मण (रावण) और शत्रुघ्न को क्षण में पराजित कर दिया।

धर्मवीर युधिष्ठिरादि हैं। जैसाकि भगवान् वेदव्यास ने कहा है—धर्म को नष्ट करने वाला नष्ट हो जाता है, और उसका रक्षक उसी से रक्षित किया जाता है। दोनों के उदाहरण दुर्योधन और युधिष्ठिर हैं, धर्मवीर का उदाहरण—नास्त्रायोग इति—यह युधिष्ठिर की उक्ति है। मेरी (युधिष्ठिरकी) योग में आस्था नहीं, द्रव्य कमाने की कदापि इच्छा नहीं, और सुन्दर रमणी के उपभोग की भी अभिलाषा नहीं। यह जो कुछ स्वकर्तव्यानुसार हो रहा है, ठीक है। मैं सत्य कहता हूँ ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि निश्चल—दृढ और निश्चल (कपटरहित मेरी) श्रद्धा धर्म में सदा बनी रहे।

पाण्डित्यवीर का उदाहरण—मयि कुर्वतीति—मुझ शकराचार्य के शास्त्रार्थ करते हुए चावीक नास्तिक, बिलकुल अवाक् हो जाता है। जैन और बौद्ध इस विषय में प्रसिद्ध हैं।

दूजरे पद्य का बयं—अश्वत्थि—समस्त विद्वानों के गर्व को चकना-चूर कर देने वाले श्रुति स्मृति के अथक प्रचारक और अपूर्व कल्पना-शालि श्री शंकराचार्य के आत्मार्य करते हुए बृहस्पति भी बीतना नहीं चाहते । महत्तमुक्त्वांगी दूर हट जाते हैं । स्वामी कातिक्रम चल पड़ते हैं । भगवान् चतुर्भुज भी दूसरों तरफ़ मुझ कर लेते हैं ।

स्वातन्त्र्यवीर का उदाहरण—यावन्मे इति—जब तक मेरी नाडियों में रुधिर है, हड्डियों में मांस और शरीर में प्राण है तब तक श्लेच्छों के अधीन नहीं रहूँगा और सारी पृथ्वी को स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न करूँगा ।

यहाँ अक्षर और अक्षर आलोकन विभाव है । उनसे अपने को जेल में टलवा देने की इच्छा आदि उद्दीपन विभाव है । सतकी अधीनता को न स्वीकार करने की प्रतिज्ञा अनुभाव है । समस्त पृथ्वी को स्वतन्त्र बना देना स्वी गवं व्यभिचारी भाव है ।

(नयानकलक्षणम्)

भयं यत्र भवेत्स्यापि स नयानक उच्यते ।

देवः कालोऽस्य घोरस्य सत्त्वादेर्दंशानाद्भवेत् ॥२७॥

मनसो वंक्ष्य नयम् । 'रौद्रशक्त्या तु क्षणित चित्तवंक्ष्यद भय-मि युक्ते । अन्यानिनयप्रकार भरत आह—'करचरणवेपयुस्सम्म-भास-सकीचहृदयकम्पेन । शुष्कोष्ठतानुक्ष्टंनयानको नित्यमनिनेय ॥' उदा-हरण मम—

इयेनमायान्तमालोक्य नमस्त द्रस्तलोचन ।

कपोतशावकः कश्चिन् स्पन्दते स्म न किञ्चन ॥

कपोतशावक = कपोतशिशु । इयेन = बाज पक्षिणाम्, नमस्तो = नमस पञ्चम्यान्तमित् । आयान्तमालोक्य न स्पन्दते स्म = किञ्चिदपि न चंचाल । स्पन्दिरकर्मकं तस्य च व्यापारे शक्ति फलस्य घातव्यं तानु-च्छेदकत्वान् । 'फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः' इति नूयणोक्तेषु ।

(शान्तरसलक्षणम्)

स शान्ती यत्र निर्वेदः स्थायीभावः प्रकीर्तितः ।

देवो नारायणश्चास्य वर्णो रजतसंनिभः ॥३०॥

तत्त्वज्ञानादिजन्य समदृष्टित्वं निर्वेदः । उदाहरण मर्मव—

'शत्रो मित्रे मुनो म्लेच्छे लोष्टे रत्ने गृहे धने ।

दुःखे सुखे तृणे स्वर्णे समदृष्टि मनो मम ॥

समदृष्टी शरदि सरिदिव वित्त प्रसीदति । प्रसन्नचित्तस्य परमात्म-
दर्शनम् । मुनो = मननशीले महात्मनि, म्लेच्छे = यवनादौ, 'न म्लेच्छो
यवनात्पर इति स्मरणात् । लोष्टे = लोहे तृणवत्सूत्रमध्ये-लुगैर्लोष्ट लोह
इत्युक्तेः । स्वर्णे = स्वर्णसमूहे, स्पष्टमन्यत् । अत्र प्रपञ्च. सर्वोप्यात्मन्वन,
तत्त्वज्ञानजन्यसर्वत्र साम्यमनुभाव । मत्यादय सन्नारिणः । केचिदत्र—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसभवात् ।

अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

इत्याहुः । तदसत् नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात् । सामाजिकाना
असम्बन्धेन तत्र रसोद्बोधे बाधका भावात् । अतएव समीतरसनाकरे

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।

तदच्चारयत कश्चिन्न रस स्वदते नट ॥

इत्यादिना नाट्येष्वपि शान्तरसोऽस्तीतिव्यवस्थापितम् । घन्या-
लोकलोचनेचापि 'नास्त्येव शान्तरस' इति पूर्वपक्षीकृतपावसाने मोक्ष-
फलत्वेनास्य परमपुरुषार्थं निष्ठत्वात् सर्वरसेभ्य प्रधानत्वमिति-
सिद्धातितम् । एवमेव रसतरङ्गिण्या निरूपितम् । अतएव च शान्त-रस-
प्रधानानां नागानन्द-प्रबोधचन्द्रोदपादीना नाटकत्व सर्वैः स्वीकृतम् ।
स्नेहो वासत्य मध्यावन्व एते तु रतेरेव विशेषा न रसाः । तत्राय विवेक —
तुल्ययो प्रीति = स्नेह । तयोरेव निष्कामप्रीतिर्मेत्री । अथरस्य वरे प्रीति-
भक्ति । सैव विपरीता वासत्य, सचेतनानामचेतनेप्रीतिराबन्ध । दश-
रूपरुकारस्त्वेवमाह—

‘प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाभादयो रसाः ।

हृषीकेशादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न रसिनाः ॥

नगवान् व्यामस्तु—शुभ सख्यादिकं मेलयित्वा ‘मल्लानामशानि’रिति प्रमिद्वपद्ये द्वादशरसानदशंयन् । यत्तु भोजः—शृङ्गारप्रकाशनाम्निग्रन्थे ‘शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनाम’ इत्याह । तत्र । अनुभवमिदम्य चापना-
पातहंत्वमिति न्यायान्मवेषा रसानामनुभवसिद्धत्वाद्भुविमम्भनन्वाच्च ।
‘नामूया तत्र कनेध्या यत्रानुगमः द्वियते’ इति पक्ति-विशतिभूय माप्योक्ते-
भुनिवचनपालनसमवे उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात् । एतेषा रसाना
परस्पर कंरपि सहाविरोधः, कंरपि च विरोधः । तत्र वीरशृङ्गारयोः
शृङ्गारहास्ययोः वीराद्भुतयोश्चाविरोधः । शृङ्गारवीनत्मयोः शृङ्गार-
कदरयोः वीरमयानकयोः शान्तरीद्रयोः शान्तशृङ्गारयोश्च विरोधः ।
कमपि रस परिपोष्युक्तामेव कविना विद्वद्वरसाना निबन्धन न कार्यम् ।
‘प्रयनोक्ती रसो द्वौ द्वौ तन्मन्त्रं विद्वद्वेत्’ इति न्यायात् । त्रिचोत्कर्षा-
धानाय एव एव, रसोऽङ्गीकर्तव्यः । यदुक्त ध्वनिकृता—‘प्रमिद्वेऽपि
प्रबन्धानां नानारमनिबन्धने । एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः तेषामुन्कयमिच्छता ॥’
प्रबन्धानाम् = महाकाव्याना नाटकादीना च, तेषामिति = रसानाम् । स्पष्ट-
मन्थन् । अङ्गीप्रधानो यथा नैपथ्ये शाकुन्तले च शृङ्गारः । माघे दुर्गान्मुदये
च वीरः । रामायणे उत्तररामचरिते च कदरः । महानारते श्वोऽचन्द्रोऽप्ये
च शान्त एवमन्थन् । एषा रसाना प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम् ।
परम्याङ्गत्वेन गुणोभावे रसाल कारत्वमिति । ‘मिन्नी रमाद्यन्कारादल-
कार्यतया स्थित’ इति मन्मशादि-मिद्वान्नात् । अत्रेदमवशिष्यतेऽवश्यता-
तव्यम्—एतया नवरस्या जनिताः त्रिचोऽवस्था भवन्ति । त्रिचिस्तारो
विशासद्व । शृङ्गारकदरशान्तेभ्यः विसृम्य त्रुतिर्भवति । वीररीद्र-
वीनतेभ्यो विस्तारः । हाम्याद्भुननयानकेभ्यो विकाश इति ॥३०॥

शान्त रस का लक्षण—सशान्त इति—त्रिसका स्यायीभाव निवेद हो
वृ शान्त रस होता है । इसका देवता नारायण और वरुण म्वेत्त है ।
लम्बलान प्रादि से उत्पन्न त्रिपयीं न वीराम्य भवता संव्य अमदृष्टि होना

निर्वेद कहलाता है। उदाहरण—‘शत्रौ मित्र इति—शत्रु और मित्र में, पवित्र मुनि और म्लेच्छ में, लोहे और रत्न में, घर और वन में, सुख और दुःख में, तृण (तिनके) और स्त्रीसमूह में, मेरा मन अब सब में समान हो गया है। यहाँ सभी प्रपञ्च ग्रासवन है, तत्त्वज्ञान से सब में समान होना अनुभाव है, बुद्धि आदि सचारी भाव है। कुछ विद्वान् नट में शम (शान्ति) का अभाव मान कर आठ ही रस मानते हैं। शान्त को रस नहीं मानते। परन्तु यह मत ठीक नहीं क्योंकि नट में तो कोई भी रस नहीं रहता। सहृदयो के हृदय में रत्यादि रहते हैं, शमवत्ता भी रहती है अतः शान्त रस भी स्वीकरणीय है। सगीतरत्नाकर में भी यही निर्णय किया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने लोचन में भी—शान्तरस है ही नहीं, यह पूर्व पक्ष ले करके अन्त में शान्तरस को मोक्षफल के देने वाला होने से सब रसों में प्रधान माना है। सभी तो शान्तरस-प्रधान नागानन्द और प्रबोधचन्द्रोदयादि को सभी ने एकमत से नाटक माना है। स्नेह, वात्सल्य, मंत्री, आवन्ध, ये रति के ही भेद हैं, रस पदवाच्य नहीं हो सकते। यही बात दशरूपककार ने मानी है। भगवान् व्यास ने ‘मल्लानामशनि’ इस प्रसिद्ध पद्य में बारह रस माने हैं। भोज—शृङ्गारप्रकाश नामक ग्रन्थ में केवल शृङ्गार को ही रस मानते हैं। यह उनकी उच्छृङ्खलता है, क्योंकि एतच्छास्त्राचार्य भरत मुनि ने नौ रस स्वीकार किये हैं। इन सब रसों का परस्पर में किसी के साथ मेल है और किसी के साथ विरोध। जैसा कि मूल में स्पष्ट है। किसी भी एक रस को पुष्ट करने के लिये बत्रि को विरोधी रसों का निवन्धन नहीं करना चाहिये और ध्वनिवार के अनुसार नाना रसों में एक ही रस को अङ्गी—प्रधान रखना चाहिये। जैसे नैपथ्य और अभिज्ञान-शाकुन्तल में शृङ्गार प्रधान है, माघ काव्य और दुर्गाभ्युदय नाटक में वीर रस प्रधान है, रामायण और उत्तररामचरित नाटक में ब्रह्मण रस प्रधान है, महाभारत और प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में शान्तरस प्रधान है इसी तरह थोरो में भी जानना चाहिये। इन रसों की जहाँ प्रधानता होती है वहाँ ये ध्वनि,

जहाँ अन्व का अङ्ग होने से गीण हो जाते हैं वहाँ ये 'रसवदनकार' माने जाते हैं। इन नौ रसों की तीन ही अवस्थाएँ होती हैं—द्रुति, विन्तार और विकाम। शृङ्गार, करुण और शान्त से चित्त की द्रुति। वीर, रौद्र और बीभत्स से विन्तार। हास्य, मद्भुत और भयानक से विकाम ॥३०॥

(स्यादिभावमेवा)

प्रीतिहासी तथा शोकः क्रोघोत्साहभयानि च ।

जुगुप्सा विस्मयावेवं निर्वेदश्चेति ते नव ॥३१॥

स्यादित्यस्य मुक्तां दशरूपके— विरट्टरविरट्टश्च भावो विच्छिद्यने न यः ।
 आत्मभाव नपत्यन्यान्त्यापी भावः स उच्यते ॥ स्यादित्त्वं चासनात्मनया
 यावत्सं क्तं मान्त्वम् । तत्र—'प्रीतिर्भवति देवादी मुनी पुरे नृपे गुरो ।
 शृङ्गारस्तु भवेन्नेत्र या कान्तादियया प्रीतिः ॥ कान्तादियया प्रीतिवियया-
 नन्दः । केचन प्रीत्यानन्दोऽप्युन्तलोचना एवमामनन्ति—'प्रीत्यानन्दो
 महानेव बह्या नन्दान्' तत्र मालतीभाषवे प्रीतिः । लटकमेलके हासः ।
 उत्तररामचरिते शोकः । मुद्रारासने श्रयः । बेलीमहारे दुर्गाम्युदये
 घोस्ताहः । शाकुन्तलपञ्चमाशु भयम् । मालत्या इमशानि जुगुप्सा ।
 उत्तररामचरित-मत्स्यभाषे विस्मय । नागानन्दे शम इति ॥ अत्रेदमपि
 भरतेनोक्त बोध्यम्— अतना समवेताना रूप यस्य भवेद्द्रु । स मन्तव्यो
 रस स्यादो शेषा मन्त्रारिणो धना ॥३१॥

स्यादो भाव के प्रीत्यादि नौ भेद हैं—प्रीतिहासाविति । स्यादो भाव का सगुण दशरूपक से दिया है—विरट्टरविरट्टरिति—जो विरोधी तथा अविरोधिभावो में उच्छिद्य नहीं होते प्रत्युत परिपुष्ट होते हैं, और अन्यो को अपने अनुगत बना लेते हैं वे स्यादो भाव कहलाते हैं। जैसे—मालती-भाष्य में प्रीति प्रपान है बीच-बीच में श्लेष जुगुप्सादि भी वर्णित हैं परन्तु प्रीति अपने विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों में उच्छिद्य नहीं होती। अन्य सब वही प्रचारी हैं। त्रिभुजा अधिक समन्वार हो वही स्यादो है शेष सब प्रचारी।

रसो भायस्तदाभासो भायस्य प्रशमोदयो ।

सन्धिश्च शवलत्यं च सर्वे चैते रसा मताः ॥३२॥

शृङ्गारादी रसः प्रोक्तो देवादिविषया रतिः ।

भायस्तयोरनौचित्यादाभासो परिकीर्तितौ ॥३३॥

तयोरसभावयोरनौचित्याद्रसाभासो भावाभासश्च भवतः । अनौचि-
स्पन्तु सहृदयस्यवहारतो ज्ञेयम् । यत्र तेषामनुचितयोः । सा च शृङ्गारस्य
परपुरुषगतत्वेन स्थिरः, परस्त्रीगतत्वेन पुंसः । गुरुवृद्धविप्राद्यालम्बनतया
हासस्य । वीतरागाद्याप्रपतया क्लेशस्य । गुरुवृद्धाद्यालम्बनतया रौद्र-
वीरयोः । वीरगतत्वेन भ्रमानकस्य । ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनतयाऽद्भुतस्य ।
घाण्डालादिगतत्वेन शान्तस्फेति । विनश्यदवस्योभावो भावप्रशमः, उत्प-
त्स्यमानो भावो भावोदयः, एतयोस्तपतिकालावच्छिन्नयोरेव चमत्कारित्वं
ननु स्थितिकालिकयोः विदग्धयोर्भावयोः परस्परस्पर्धाभावः सन्धिः । एक-
कालावच्छेदेन समकक्षयोगस्वाद इति यावत् । पूर्वपूर्वोपमर्दनवशाद्बहूनां
भाषानामुत्पत्तिर्भावशवलता । एकचमत्कृति-जनक-ज्ञानगोचरत्वमिति
भावः । सर्वे चैते रसनधर्मयोगाद्भ्रसपदवाच्याः । स्यापिनां त्वेते न स भवन्ति ।
तेषां सन्ततमविच्छेदात् । देवादीत्यादिपदान्मुनिगुरुपुत्रादिविषया ।
क्रमेणोदाहरणानि—

‘दिवि वा भुवि वा वासो नरके वा नरकान्तक ।

त्वदीय-चरणे किन्तु मरणेऽपि स्मराम्यहम् ॥

दिवि=स्वर्गं, नरके रोरवादी, ननु स्वर्गनरकयोः सद्भावो निष्प्रमाण
इति चेन्न । ‘सहस्रास्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः’ । भूमेर्लक्षक्रोशोपरीति
तदर्थः । ‘हृदिर्मरेके स्वरितः सचन्ते नेत्रिन्हायन्त्यो नरक पतामः ॥
‘ते त भुवत्वा स्वर्गलोक विशाल, सकरो नरकायैव’ इत्यादि परः शत-
श्रुतिस्मृतिषु स्वर्गनरकयोः स्पष्टतरमभिधानात् । न चैवमीश्वरस्य वंश-
म्यनेर्ष्यदायप्रसङ्गो यत्त कवित्स्वर्गं गमयति कश्चिच्च नरकमिति वाच्यम् ।
तस्य कर्माधिष्ठातृत्वेन प्राणिना कर्मत्रिसार स्वर्गनरकप्रापकत्वात्’

सांख्यसूत्रकारोप्याह—'कर्मबंधविद्याहृदि-बन्धविष्यमिति । कर्मबंधमोक्षमार्ग-
विनिर्मुक्त्याप्यम् । 'जीवहृत्पदमोक्षमपि स एव तत्तत्कृतानि विषयं विनश्यते
पञ्चम्यवशीभर इति च शारीरकभाष्यम् । भरते-भरतममये, भरतं च
देहस्य प्राणविषयः । 'न जीवो ध्रियते' 'न जायते ध्रियते वा वदाचिन्'
इत्यादि-श्रुतिश्रुतिभ्यां जीवस्य नित्यत्वान् । स्पष्टमप्यन् । अत्र पद्ये
भक्त्यय भगवत्परस्परानित्यायो भगवति परानुरक्ति व्यनक्ति । तत्र-
आत्र देवविषया प्रीतिर्भावो व्यङ्ग्यः । रसचमत्कारमत्वेऽपि भावचमत्कार-
प्रकारोद्भावप्यनित्यम् । रात्रानुगतविद्याहृत्प्रवृत्तभृत्प्रत्येव ध्वन्यमानभासस्य
प्राधान्यात् । भावशान्त्यादिध्वनिध्वनि भावस्यैव प्राधान्यं न तु शान्त्यादी-
नां भावचरणादिमेव समकारोद्भवान् । मुनिविषया प्रीतिर्भवं द्युज्जुरामानन्दे

ध्वन्याङ्गनिपुणेषु चर्के रामायणादयममृत यः ।

मुनिवर्षं वविष्यं त वन्दे यान्मोहि भरतया ॥

'अज्ञानान्यस्य तोषस्य ज्ञानाङ्गनभासात्मा ।

चक्षुरन्मीन्यते येन तस्मै श्योगुरवे नमः ॥

इयं गुरुविषया प्रीतिः । गुरुमाहात्म्यं धुनिराह—'यस्य देवे परानक्ति-
यंया देवे तथा गुरो । तस्यैने कथिता ह्यर्थाः प्रकाशने महात्मनः ॥

गुरुविषया यथा मम—

'एशुभोक्षस्य निर्मात्रे सत्यं मुद्राः ददानि यः ।

वविष्यत्पदमोक्षः प्रणस्यः कस्य नास्ति सः ॥

वविष्यत्पदः कवितनाश्रयः । 'नृपस्तु विनुषाधयः क्वि न सन्ति
कुत्रिभ्रता' इत्यमिनुक्तोक्तेः । पुत्रादिविषया यथा महावीरचरिते—
'एहं हि पुत्र रघुनन्दन पूरुषेण्ड, मिश्राणि मूर्धनि विराय परिप्यजे स्वाम् ।
घातांय वा हृदि शिषा निगमुद्रहामि, वन्देऽप्यवा चरतपुष्करकदम्बं ते ॥'

इयं हि रामं प्रति वानप्रस्थया प्रीतिः । परपुत्रविषयक-शृङ्गारामानन्दो
यथा मम मुनयानन्दलिङ्गं—

इदमद्भुतवीर्येण नय प्रमदाभिः सह पुनरेकदा,

क्षरतुमुत्तविष्टये गुणं सुप्रितो नन्द रनेः परं विदुः ।

हे कमलनेत्र सुरत्राण, इदं स्वीयमद्भुतयोवनं प्रमदाभिरस्माभिः
सहनयः—सफलप, परिवर्तितं ससारे सुखसा प्रेम्ण परं सुखं न वर्दति ।

अत्र परपुरुषस्य सुरत्राणं प्रति दानववधूना प्रीतेरनुचितत्वेनानुभय
निष्ठत्वेन चाभासत्वम् ।

परस्त्रीविषयकशृङ्गारभासो यथा प्रसन्नराघवे—
मन्दोदरीमपि विमुञ्चति राज्यमेतत्
अप्युमदं तव पदाब्जतले करोति ।
किं जल्पितेन बहूनां सुमुखि त्वदर्थं
स्वान्युच्छिन्नैः शिरसि पुनर्दशास्य ॥

सीतां प्रति रावणस्योक्तिरियम् । अत्र प्रीते परस्त्रीविषयत्वादानुभय
निष्ठत्वाच्च शृङ्गारभासोऽयम् । न चैवं भवति शृङ्गारस्योदाहरणमपि
तादृगेव, प्रीतेरनुभयनिष्ठत्वेऽपि राधाकृष्णयोरविवाहेन पतिपत्नीत्वाभावा-
दिति वाच्यम् । तस्य प्राकृतस्त्रीपुरुषविषयत्वेन दिव्यशक्तिशक्तिमद्राधा
कृष्णविषयत्वाभावात् । एव भागवतोक्तं गोपरमणीरमणमपि भग-
वत्कृष्णस्य न दुष्प्रति । ईश्वरस्य न दोषाय बहून् सर्वभुजो यथेति तत्रैव
समाधानात् । 'नेष्टायदङ्गिनि रसे कविभिः परोडा तद्रोकुलाम्बुजहृशा
कुलमन्तरेण' इत्यभिप्रेक्ष्यते । अतएव रासलीलादिसर्वान्विनोय सरससूक्ति-
समुद्भवति—'वाङ्मयेषु सधुरा हरिगाथास्तत्र कृष्णचरितान्यमृतानि ।
तेषु च प्रमददिव्यधुनि मे रामकेलिमनुमञ्जति चेत ॥ धीरामादिभिस्तु
सर्वादापुरुषावतारस्वात्तया न कृतमिति कृतं बहूना ।

यच्च साहित्यदर्पणकारेण त्रियगविषये रसाभासत्वमुक्तं तत्र युक्तम् ।
काव्यप्रकाशकृतो मम्मटस्य—प्रीवाभङ्गाभिराममिति भयानकरसस्य,
मित्रे क्वापिगते' इति विप्रलम्भ शृङ्गारस्य चोदाहरणान्यां विरोधात् ।
न ह्यत्र मम्मटोक्ति विरुद्धमाद्रियते बृहस्पतेरपि । अगम्याया प्रीतिर्भावा-
भासो यथा—

'न यात्रे गजानि न वा वाजिरानि न वित्तेषु वित्तं मदीयं कदाचित् ।
इयं सन्मुखी सम्मुखे दृश्यमाना तवङ्गी कुरङ्गी हगङ्गी करोतु ॥

कांवन यवनकन्यामभिलषतो ब्राह्मणपुत्र उक्तिरियम् । भावस्य शान्ति-
र्यया ममच्छायापद्ये—

पादानतं मामातोस्य मुञ्च कोपं भ्रमूरुदृक् ।

इत्युत्थमा तथाभं हि मुक्तमुक्तं न किञ्चन ॥

राषां प्रति वृष्ट्यस्योक्तिरियम् । अथमश्रु ह्येवमुक्तं त्यक्तं न
विमप्युक्तं स्पष्टमन्वत् । अत्राशुभोचनेनोत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य ईर्ष्याद्वय-
संचारिभावस्य शमो द्यङ्गघः । भावोदधोऽपि यथा मर्मव—

राया प्रतापमानावि नैव हर्षमदर्शयत् ।

यदा कृष्णो गन्तुमैच्छत्तदातिविलताप सा ॥

अत्र विषादस्योदयो वरुणघो न तु सत्प्रवि कोपशान्तिरचमत्कारि-
रवात् । भावस्य सन्धिरपि मम चक्ष्मापद्ये—

श्रीकृष्णचन्द्रमालोभय मनो वृथापि दुर्लभम् ।

मन्मनो मन्मयाप्रान्तं मुसं दुःखं च विन्दति ॥

अत्र लोकोत्तरशुद्धरस्य श्रीकृष्णस्य दर्शन-जन्ययोः हर्षविषादयोः
सन्धिर्यङ्गघः । भावस्य अवलता यथा मम—

वधितोऽप्यन्तश्चुपितो मनो मत्तं जनो रिपुः ।

मन्मन्मयः श्रियो नायः किं करोम्यद्य हे सखि ॥

अथ भयचपलतादाश्रीसुखयानो दयलता । इतिद्वितीयो बिन्दुः ॥३३॥

रगो भाव इति—रसभाव आदि सभो रसनधर्मा होने से रस माने
गए है । शृङ्गार आदि रस कहलाते हैं । देवादि-विषयक प्रीति भाव होता
है । उन दोनों को अनुचित प्रवृत्ति से सपाक्रम रसभास और भावा-
भास होता है । जहाँ गृहदयों को अनुचित प्रतीत हो वही अनौचित्य
होता है । परपुरुष अथवा परस्त्री में प्रेम शृङ्गारभास होता है । गुरु,
गृह, पिता आदि के विषय में हर्षना, जानी पुत्र्य में वरणा, गुरु आदि
में शीघ्रता, वीर पुरुष में भय, इन्द्रजान में आश्चर्य, चाण्डाल में शक्ति,
आभाव है ।

प्रथम और उद्रेक ये दोनों उत्पत्ति-काल में ही समत्कार-अनव
 शोउं हैं। गण्य—दोनों का एक काल में आस्वाद। शयलता—एक
 समत्कारजनक ज्ञानशालिता। ये सभी रसत्वयोग से रस कहलाते हैं।
 स्वादिभावों में उनकी निरन्तर स्थिति रहने से प्रसमोद्रेकादि नहीं रहते।
 देवादि पद में नृपादि लेने चाहिए। अथ से सब के उदाहरण—विविधेति—
 हूँ निष्णो, मेरा रहना चाहे स्वर्ग में हो चाहे नरक में, कोई परवाह नहीं,
 किन्तु मरण-गमय में तुम्हारे चरणों की स्मृति अवश्य बनी रहे। स्वर्ग
 और नरक की सत्ता में शून्य और स्वातंत्र्य संबन्धों प्रमाण हैं जो मूल में
 दिनाये गए हैं। जीव अपने-अपने कर्मानुसार स्वर्ग और नरक में जाते हैं,
 हममें ईश्वर का कोई दोष नहीं। न वह किसी का मित्र है न शत्रु।

मरण यहां शरीर का प्राणों से वियोगमात्र ग्राह्य है न कि नाश
 क्योंकि मूलोक्त श्रुति-स्मृतियों से जीव की नित्यता सिद्ध है। इस पक्ष में
 भक्त का भगवच्चरणानुराग व्यक्त होता है। अतः देवादिविषयक भाव
 व्यङ्ग्य है। जिस तरह भृत्य के विवाह में राजा ने रहने पर भी भृत्य
 की ही मान्यता होनी है उसी तरह ऐसे स्वामी में रस के रहने पर भी
 भाव का ही प्राधान्य होता है। भावशान्त्यादिकों में भी यही जानना।
 मुनिविषयक प्रीति का उदाहरण—ध्वशाङ्गल्लोति—जिसने कानरूपी
 प्रक्षलि के पुट से पेय (पान करने योग्य) रामायणरूपी अमृत पिताया,
 उस कवीश्वर मुनिवचनं वाल्मीकि को शतशः प्रणाम। गुरु-विषयक प्रीति
 का उदाहरण—अज्ञानैति—जो ज्ञानरूपी सलाई से अज्ञानान्धों के नेत्र
 खोलता है उस गुरु के लिए शतशः प्रणाम।

गुरु की महिमा अनेक श्रुति-स्मृतियों में गाई हुई है। जिस व्यक्ति
 की देवता में तथा गुरु में समान निष्ठा होती है वही शास्त्रों का मर्मज्ञ
 विद्वान् हो सकता है। जो माता-पिता तथा गुरु का भक्त है, वही विद्वान्
 आयुष्मान् और यशस्वी बनता है। नृप विषयक प्रीति का उदाहरण—
 एकश्लोकस्येति—जो राजा भोज, एक श्लोक बनाने वाले कवि को भी
 लक्ष मुद्रा (रुपयें) दे देता था, वह कवियों का आश्रय भोज आज किसीके

सुख ने प्रगल्भ नहीं, सभी से प्रयत्नशील है। नृपन्तु—नृप बही होता है जो विद्वानों का सेवक हो, अपने ही आनन्द-प्रमोद में मग्न रहने वाला नृप नहीं कहलाता। पुत्रादि-विषयक प्रीति (दान्धन्व) का उदाहरण एह्येहि पुत्रेति—हे पुत्र राम, मैं-तुम्हें देखकर प्रसन्न हूँ तुम्हारे हार्षा को चूमता हूँ, तुम्हारे चरणों का ध्यान करता हूँ, तुम सुख रहो। परपुरुष-विषयक का उदाहरण—शृङ्गारनाम इदमदनुनेति—यह सुरतान के प्रति दानव जिनों की उक्ति है।

पर-पुरुष के विषय में होने से यह शृङ्गारनाम हुआ। पर-स्त्री-विषयक शृङ्गारनाम का उदाहरण प्रथमप्रानव में देनिये—मन्दोदरी-मयीनि—यह सीता के प्रति रावण की उक्ति है। हे सीते, मैं तेरे लिये अपनी सर्वाङ्गमुन्दरी पटखनी मन्दोदरी को त्याग सकता हूँ, मार्दवीम राज्य को तेरे चरणों में अर्पित कर दूँ, अधिक क्या कहूँ, नू कहूँ तो अपने दम निरों को भी तेरे चरणों में डाल दूँ पर मुझे स्वीकार कर। यह सीता के प्रति रावण का प्रेम, अनुचित अनुभवनिष्ठ होने से शृङ्गारनाम है।

शशा—फिर तो मानके संयोग-शृङ्गार का उदाहरण भी गलत है क्योंकि श्रीशशा और श्रीकृष्ण का विवाह क्यों भी नहीं किया गया फिर उनके प्रति-वनीत्व कैसे? उत्तर—वे दोनों प्राकृत स्त्री पुरुष नहीं हैं, यह भी निदम साधारण स्त्री पुरुषों का है, वे ईश्वर हैं, ईश्वर पर मानव निदम लागू नहीं होते। इसीलिये उनके रासनीलादि रूप भी परिव्र माने गए हैं। श्रीराम ने ईश्वर होते हुए भी लंके कृत्य नहीं किये क्योंकि वे मयांश बाधने के लिए परलम्बित हुए थे। दर्पणकार ने त्रिपुंगु विषय में शशा नाम माता है वह समस्त से विरुद्ध है अतः टीक नहीं। अगम्या में प्रीति नाशनाम होता है। उसका उदाहरण—नयावे इति—यहा एक मयनगम्या में शशा-पुत्रा की प्रीति है इसलिये आभाव है। नावगान्ति का उदाहरण—पादाननधिनि—यहा वापरमांजन में ईर्ष्यादि मुखाय नाव का लय अङ्ग है। यह शशा के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति है।

भाषोदय का उदाहरण—यह प्रमाद्येति—बार-बार प्रसन्न करने पर

भी जब श्रीराधाजी प्रसन्न न हुईं तब भगवान् कृष्ण चल पड़े और श्रीराधा खूब रोने लगी। यहा विषाद का उदय-व्यङ्ग्य है, कोप शान्ति नहीं क्योंकि वह चमत्कारी नहीं। भाव की सन्धि का उदाहरण— श्रीकृष्णचन्द्रमिति—मन से भी दुर्लभ (शरीर की तो बात ही क्या) श्रीकृष्ण के दिव्य रूप को देख कर मेरा मन अत्यन्त उत्कण्ठित है (प्राप्त्याशा से) सुख और अति दुर्लभ होने से दुःख प्राप्त कर रहा है। यहा हर्ष और विषाद की सन्धि है। भाव की शक्तता का उदाहरण— दयित इति—एक गोपी कहती है कि हे सखि ! बतला क्या करूं ? मेरा पति, मेरे ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध है, मेरा मन स्वत चंचल है, मेरे घर की स्त्रिया भी मुझसे नाराज हैं, और मेरे मन को श्रीकृष्ण ने—दयित कर डाला है। यहा पति ने भय, मन की चपलता, घर की स्त्रियो से शका और श्रीकृष्ण सब-ही प्रबल प्रेम से उत्सुकता रूपी भावो की शक्तता (सन्मिश्रण) है।

इति साहित्यविन्दु के द्वितीय विन्दु की हिन्दी टीका ॥



अथ तृतीयो बिन्दुः

(दोष-सामान्यलक्षणम्)

काव्यापकर्षका दोषाः काव्यज्ञैः समुदीरिताः ।

ते मयापि प्रदर्शयन्ते छात्रबोध-विवृद्धये ॥१॥

रसोत्पत्ति-प्रतिबन्धकत्वेन काव्यापकर्षकत्वं दोषसामान्यलक्षणम् । रसगन्धेन रस्यते आस्वाद्यते इति व्युत्पत्त्या रसाभासादीनामपि ग्रहणम् । प्रतिबन्धकत्वं च क्वचित्साक्षात् सवन्धेन क्वचित्परम्परासंवन्धेन दोषश्च द्वय-पतिषात्प्रमिति व्युत्पत्त्या । न च 'गुणविपर्ययात्मानो दोषा' इति वामनोक्तेः प्रथमं गुणनिरूपणमेवोचितमिति याच्यम् । दोषसत्त्वे गुणादेरकिञ्चित्कर-त्वात् । दोषश्च सर्वस्मिन्ना व्याज्यः । यथाह दण्डी—'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये बुद्धं कथञ्चन । स्याद्बुधुः सुन्दरमपि शिष्येणैकेन दुर्भंगम् । दुष्ट दोषः । नपुं-सके भाषे क्तः । सर्वशरीर सुन्दरमपि एकावयवनिष्ठेन कुष्ठविशेषेण दुर्भंगं भवतीति दृष्टान्तायः । भोजोऽस्माह—'दोषाः पदानां चाकषानाममस्य च रसस्य ये । हेयाः काव्ये क्वचिन्नीरते सर्वेषां विदुषां मते ॥ अयत्किाप्ये पद-निष्ठा वाचपनिष्ठा अप्यनिष्ठा रसनिष्ठाश्च दोषा भवन्ति । तेऽवश्यं वर्जनीयाः । तथापि सर्वेषां निवृष्टशब्दस्यासम्भव एव यत्रेदमुच्यतेऽस्माभिः । 'सन्ति दोषा शतं भाषे रघुवंशस्तिरातयोः । नैपथे च महाकाव्ये नवीने-षु तु वा कथा ॥ 'काव्यस्य गुणदोषाणामाकरः कथ्यते युषः । नैपथं तत्र तेऽस्माभिः प्रदर्शयन्ते यथामति ॥

पहले बिन्दु में काव्य का स्वरूप धीर उमके भेद, दूमरे में तद्गन चन्द्र और धर्म का निरूपण हो चुका है । अब तीसरे में दोषों का निरूपण करने हैं—काव्येति—काव्य के अपकर्षक दोष कहे जाते हैं । रसेति—रस धीर रसाभास आदि की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होकर जो काव्य का अपकर्ष करे यह दोष कहलाता है । जैसाकि उसकी व्युत्पत्ति है

'दूषयति काव्यमिति दोष' जो काव्य को दूषित करे वह दोष है। रस शब्द से रस के अतिरिक्त रसाभास, भाव और भावाभास भी ग्राह्य है। रस की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध तीन प्रकार से सम्भव है—एक तो रसास्वाद के रुक जाने से, दूसरे रस के उत्कर्ष की किसी विघातक वस्तु के बीच में पड़ जाने से, तीसरे रसास्वाद में विलम्ब करनेवाले कारणों के उपस्थित होने से। इनमें से कोई भी लक्षण जिसमें मिले वही दोष कहलाता है। रस की रुकावट कही पर साक्षात् सम्बन्ध से होती है, कही पर परम्परा-सम्बन्ध से। प्रश्न—तब नीरस काव्यों में कोई दोष न होना चाहिये, क्योंकि वहाँ रस ही नहीं? उत्तर—शीघ्र-प्रत्यय-विघातक दोष वहाँ है इसलिए वहाँ भी दोष होता है। दोष सर्वथा हेय हैं। जैसाकि चण्डी ने कहा है—सदल्पमपीति—जैसे अतीव मुन्दर शरीर एक फोड़े या कुष्ठ से अरमणीय हो जाता है। वैसे दोष काव्य में अल्प भी क्षम्य नहीं है, यहाँ दुष्ट शब्द दोष का बोधक है इसमें क्त प्रत्यय अपुसक और भाव में हुआ है। भोज ने भी यही माना है कि काव्य में पद-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रम-दोष होते हैं। ये सभी दोष अन्य विद्वानों ने भी हेय माने हैं। तो भी सर्वथा दोषरहित काव्य का होना नितान्त असंभव है। जैसाकि हमारा मत है—सन्तिदोषा इति। सैकड़ों दोष महाकाव्य भाष्य, रघुवश, किरात और नैपथ्य में मिलते हैं, नवीनों की तो बात ही क्या है। नैपथ्य तो काव्य-सम्बन्धी दोष और गुणों का आकर (छाजाना) ही माना जाता है। पर वे आज तक किसी ने भी नहीं दिखाये थे, अब दिखाय जाते हैं ॥१॥

(दोषभेदा)

कष्टाप्रयुक्त-सन्दिग्ध-व्यर्थाश्लीला प्रतीतकाः ।

असाध्ववाचकक्लिष्टाः पदे दोषा नवोदिताः ॥२॥

कष्टं श्रुतिकटु यथा नैपथ्ये—

'ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भ्रमी ।'

‘त्रियां प्राह्लेतनीं कृत्वा नियंपन्थाणिना सखीम् ।

करान्यां पृष्ठगः तस्मान्प्रगिमीलदसौदृशी ॥’

‘कटाक्षपारास्तत्र कौकटाधिपः ।’

इत्यादियु पद्यनिष्ठु माधुपंगुणस्य शृङ्गारस्य प्रापान्यात्तत्प्रतिकूला
रचना कठोरदर्शनघटितावात् । घोर-धीमत्स-रौद्र-रसेषु तु कठोरवर्णाविन्या-
सो गुरु इति बोध्यम् । तथा नैपथ एव—

‘अबोचत ततस्कर्त्री नियमानामयोम्बरः ।

तवपाङ्गुचलत्ताराम्भरवारयशीकृतः ॥

ततः=कटाक्षविशेषानन्तरं, नचो दमयन्तीमबोचत, तस्या अर्पागे चल-
न्याः तारायाः=हनोतिवाया यश्चमत्काररूपो भूतस्कारः तेन बध्नीकृतः ।

अत्र शृङ्गारगुणे माधुप्ये इयती समाससत्ता द्युतिशेषभावहति ।
अभूतिरत्ववृत्तिर्वा माधुप्ये घटना इति तत्रानिधानात् ।

अप्रयुक्तं—तद्याम्नातमपि षविभिर्नाहितम् । यथा नैपथे—

‘मुसमयं पद्य त्रिये तावपम् ।’

हे त्रिये ! अयं पद्यः तावकं मुलमित्यन्वयः । अत्र पद्यशब्दोऽभरादिभिः
शोतकारैः प्रयुज्यमानवापन्द्येदकरूपेण पुंति आम्नातोऽपि कविभिर्न
प्रयुज्यते । तद्विषयं—सकृन्तारयं-सन्देहजनकम् । यथा नैपथे—

स्मितेन गौरी हरिणो हृदोपम् ।

धीरणावती मुखरकण्ठभासा,

हेमेव कायप्रभयाङ्गुणेः,

तन्वीमति कामति मेनवावि ॥

इयं=दमयन्ती गौर्यादि पंचप्रपारतीर्षवि पापैरपादयोऽपि, अत्र मेन-
वार्थानि शिष्य इत्यु-पहंयेति सन्नेहः । शाब्दबोधयित्त्वोऽत्र द्वयव तावीजम् ।

अयं—प्रहृतानुपपुत्रं पादपूरणैः प्रयोजनम् । यथा नैपथे—

‘येषु येषु तरुता दमयन्ती भूपरुणेषु यदिकावि सुणेषु ।’

अत्र अटनीःशब्दो अर्था केवमेवैव सक्तोऽपिद्वेः । प्रयोजनानुसन्धान-
संग्रहा हृषकतज्जम् । न सारयत्तियेकदरत्तमाज्जुनीदम् । पादपूरणै-

प्रयोजनस्यापि निष्कन्तव्य-विरहात् । 'मित्तं च सारं च ब्रह्मो हि वाग्मिर्ते'ति
नैवधपद्ये तु चादयः समुच्चयाद्यर्था न तु व्यर्था इति बोध्यम् ।

अभ्युत्थितसम्पार्यध्वजकम् । तच्च त्रिविधम् । अमङ्गल—श्रीडा
जुगुप्सा भेदात् । श्रयाणामेवोदाहरणानि नैवधे, तत्रामङ्गलस्य यथा—

तत्र वर्तन्ति वर्तता शिव पुनरस्तु त्वरित समागमः ।

अधिसाधय साधयेऽसित स्मरणीया समये वय वय ॥

हे वय, पश्विन्हेसेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् । अत्र तत्र वर्तन्ति शिव निवर्तता
निवर्तयतु । अन्तर्भावितव्ययो वृत्ति । सत्त्वं त्वरितं मा आगम इतिच्छेदे-
ऽमङ्गलव्यञ्जिता । श्रीदाया यथा—

'सभुज्यमानाऽद्य मया निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुरा धरेयम् ।'

सभुज्यमाना—कृतोपयोगा, स्पष्टमन्यत् । अत्र सभोगशब्दो श्रीडा
व्यनक्ति । जुगुप्साया यथा—

'कलाकलाप किल वंधव धमत् ।'

बंधवम्—चाण्डमस, कलाकलापम्—ज्योत्स्नासमूह, वधन्मुञ्चन् । अत्र
वधन्शब्दो घृणा व्यनक्ति । त्रिध्वपि श्रोतुर्वैमुख्य इयकताबीजम् । अप्रतीत-
मेकशास्त्रमात्रप्रतिद्वम् । यथा नैवधे—

ईशाणिसंश्रयं विवर्तमध्ये ।'

ईशस्य यदणिमलक्षणसंश्रयं, तस्य विवर्तोऽस्तात्त्विकोऽन्यथाभावो जातो
मध्यभागो मस्या तत्सबुद्धौ हे कृशोदरीत्यर्थः । अत्र विवर्तशब्दो वेदात्-
शास्त्रे प्रतिद्वो नायत्र । 'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रया विवर्त इत्युदीरित ।'
अस्य विवरण मदीय वेदात्सारटीकाया सारबोधिण्या द्रष्टव्यम् । अत्र
तच्छास्त्रानभिज्ञस्यार्थानुपस्थितिर्दूषकताबीजम् ।

व्याकरणाव्याख्येयत्वं पुण्यजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वं वा साधुत्वं
तद्विरुद्धमसाधुत्वम् । असुरादिवत् नन्नो विरोधार्थं कत्वात् । अतएव
'समानाध्यामर्थावगतौ शब्दश्चापशब्दश्च शब्दधर्म इति भाष्यम् । 'वाच-
कत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोरिति वाक्यपदीयं च सगच्छते ।
उदाहरणानि यथा नैवधे—

'बुद्धो न धर्मः सन्तु शेषबुद्धौ ।'

अत्र धर्मं इत्यस्य स्याते दध्म इति पाठधम् ।

'चेष्टा ध्यनेशप्रखिलास्तदास्याः ।'

अत्रैत्वं भाष्यकंय्यटविरुद्धम् ।

'हरेर्षदक्रामि पदं ककेन क्षम् ।'

यत्तं नभो हरेर्विष्णोरेककेन पदाऽक्राम्याव्रान्तम् । अत्र वृद्धिश्चित्त्या
अतएव प्रौढमनोरमायां दीक्षितेन 'कथं तर्हि 'हरेर्षदक्रामो'ति भोर्हर्षः ।
प्रमाद एवापनिरयुक्तम् ।

'परतुरासाहि मवयंदाज्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिवित्ते ।'

अत्र लोके सहोष्णः चिन्त्यः । 'द्यन्वसि सहः' इत्यनुशासनात् ।

'इमां जिमाचामयसौन चक्षुषो ।'

अत्र परस्मैपदिनश्चमुपात्तोरारमनेपदं चिन्त्यम् । यत्त्वत्र 'आचामये-
नितृपत्पदं 'से, इतिसयोपनमितिकश्चनाह, तत्र । छिष्ट कल्पनात्वात् ।

'प्रवागपाहृत्य निमान्निभासय ।

अत्रात्मनेपदिनोनिभासयतेः परस्मैपदं चिन्त्यम् । कति बूमः स्फु-
रन्तोऽपि बहुवोषा विस्तरभिया बुद्धंतीः ।

एष 'सत्तिना धानरेन्द्रेण' 'वृष्णस्य सत्तिरर्जुनः' 'न निवर्तन्ति भूयः'
इत्यादि रामायण महाभारतगीताप्रयोगाणामार्यत्वेऽपि व्याकरणातिष्पन्न-
त्वेनासाध्यावपेक्ष । अतएव नरीसतासुत्रे भाष्ये द्यन्वोमत्कथयः कुर्वन्ती-
सुम्बा नह्येपेदिरस्तोऽसुप्तम् । साधुत्वासाधुत्वविभागश्चाप्ये मुनि-
प्रपणनेनेवेति कथंयः । अथावर्कं प्रवृत्तार्थागतम् । यथा नेपथे—

'अग्नाभमाश्रं रितकं दधाना ।'

अग्नाभं अग्निमुच्यं, आश्रमश्रमतिस्वच्छद्वयविशेषः । सत्संबन्धि,
रितकं, दधाना = बुद्धोऽस्येत्यर्थः । अत्र दधानेतिपदं विदधानायंस्यावाचकम् ।
विगणोत्सवं विधाने तस्य नियमितगतिरुत्थान् । नच विधानं द्यन्व-
मिति भाष्यम् । अन्वितापर्यन्तं प्रतिपादयन् एव परस्मैपदं व्यभक्तवान् ।

चन्द्रालोकेऽप्युक्तम्—'अर्थे विदधदित्यादौ इषदात्तमवाचकम् ।' 'विपूर्वा
धा करोत्यर्थे, इत्यनुशासनात्तानं दूषकताबीजम् । क्लृष्टत्वमर्थप्रतीते-
र्यवहितत्वम् । यथा नैपथे—

'ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये, लोकेश लोकेशम् लोकमध्ये ।

तिर्यञ्चमप्यञ्च मृद्यानभिज्ञ रसज्ञतोपज्ञ समज्ञमज्ञम् ॥

हे कृशोदरि ! ब्रह्मलोकवातिनां जनानां मध्येऽऽनं मूर्खं तिर्यञ्चमपि ना
'सत्यं व्रूयात्प्रिय व्रूयादित्यस्य प्रथमं प्रवर्तकमञ्च विद्धि अत्रायमर्थो व्यवहितो
भवति क्लृष्टत्वात् । एवं तत्रैव उक्तमित्याद्यर्थे—अमोचि-चञ्चुपुटमौन-
निद्रा । 'द्रागभेदिमघवाननमुद्रा ।' इत्यादिव्यपिक्लृष्टत्व दोषो बोध्यः ।

अब दोषो के भेद कहते हैं—कष्टेति—कष्ट, अप्रयुक्त, मन्दिगध,
व्यर्थ, तीन प्रकार का अश्लील, अश्लील, असाधु (च्युतसंस्कृति) अवा-
चक, क्लृष्ट, ये नौ पदगत दोष हैं । इनमे से कुछ दोष कष्टत्वादि
पदाश मे भी रहते हैं अधिकांश पदो मे । कष्ट दोष श्रुतिकटु कहलाता है ।
उदाहरण जैसे नैपथ मे—ह्रीणा चेति—ह्रीणा (लजित) और हृष्टा
(प्रसन्न) भैमी (दमयन्ती) बोली । प्राञ्जितनी—पूर्वकालीन अग्निहोत्रादि
क्रियाओ को करके हस्त से सखी को हटाते हुए नल ने दमयन्ती से अर्प-
मिचौनी की । कौकट के राजा तुम्हारी कटाक्ष धारा से तृप्त होकर । इन
पद्याशो मे माधुर्य है गुण जिसमे वह शृङ्गाररस-प्रधान है । उसकी रचना
मे 'णा, टा, ह्ले, रा टा ये श्रुतिकटु कठोरवर्ण नहीं होने चाहिए इसलिए
दोष है । वीर बीभत्स और रौद्ररसो में तो कठोरवर्ण गुण हो जाते हैं ।

और भी नैपथ मे देखो—अबोधतेति—दमयन्ती के तरल कटाक्ष का
देखना हवी जो भलत्कार का चमत्कार उससे बड़ीभूत नैपथ (नल) दम-
यन्ती से बोला । यहा शृङ्गाररस के गुण माधुर्य मे इतना समास का होना
नितान्न दूषित है । क्योंकि माधुर्य का लक्षण असमासत्व, या अल्पसमा-
सत्व है । अप्रयुक्तमिति—अमरसिंहादि कौशकारों से पथ शब्द के पुल्लिङ्ग
मे होने का अनुशासन कवियो से स्वीकृत नहीं । उदाहरण—मुखनिति-
हे प्रिये ! यह पथ तुम्हारे मुख का सादृश्य प्राप्त करना चाहता है । दूसरा

वत्ता के तात्पर्य का यथायं ज्ञान न होना सन्दिग्ध दोष होता है। उदाहरण—स्मितेनेति—यह दमयन्ती हास्य से गौरी, दृष्टि से हरिणी, कण्ठ स्वर से वीणावती, शरीर-शोभा से हेमा और मेनका भी है। ये सब अप्पाराधो के नाम हैं, पक्ष में गौरी=पार्वती, हरिणी=मृगी, वीणावती=वीणायुक्त, हेम=स्वर्ण अर्थ भी है श्लिष्ट शब्द होने से। यहा मेनकापि ये दो पद हैं या चार हैं, यह सन्देह का कारण है। शब्द-बोध में विलम्ब हो जाना ही यहा दूषण है। व्यर्थ दोष वह होता है जिसमें प्रकृत में अनुपयोगी पाद की पूति मात्र प्रयोजन वाला पद हो। उदाहरण—षेपु चेत्ति—जिन-जिन भूषणों में प्रथवा गुणों में दमयन्ती इच्छुक है। यहा 'यदि' और 'अपि' दोनों शब्द व्यर्थ हैं। केवल 'वा' शब्द से ही प्रयोजन-सिद्धि हो सकती है। प्रयोजन के ज्ञान की व्यग्रता ही यहा दूषण है। व्यर्थ और अधिक पद दोनों एक नहीं हो सकते क्योंकि पादपूर्व निष्कल नहीं होता। मित चेति—मारभूत थोडा बोलना ही वाग्मिता है यहा चादि समुच्चयार्थक है, व्यर्थ नहीं।

जो असम्य अर्थ का व्यञ्जन करे उसे अश्लील कहते हैं। अमङ्गल, सत्रा, घृणा का व्यञ्जन होने से अश्लील दोष तीन प्रकार का होता है। नैपथ्य में से अमश सब के उदाहरण हैं—तत्र धर्मनीति—हे हय ! तुम्हारे मार्ग में कल्याण हो पुन धीघ्न ही तुम्हारा धाना हो। जाधो, धरने दृष्ट भी मिठ करो। समय समय पर हमारा स्मरण करते रहना। यहा पक्ष का छेद करो पर यह अमङ्गल व्यञ्जन अर्थ भी हो सकता है कि हे हय ! तुम्हारा मार्ग कल्याणरहित हो और तुम धीघ्न मउ धामो। धीघ्न का उदाहरण—समुग्धमानेति—यह दमयन्ती मेरे मन्त्रों में धार्द हुरि है। यह मत्रावनक अश्लील का उदाहरण है, क्योंकि 'यह' शब्द सत्रा का व्यञ्जन करता है।

शुण्णा (पूना) की व्यञ्जकता का उदाहरण—कतेति—कतमा-ने उपयोगना ममूह को छोडना दूषण। यहा वमन शब्द पूणा (उमठी) का व्यञ्जक है। जो किसी एक शब्द में ही प्रकट हो कर अश्लील दोष

कहलाता है। ईशेति—ईश्वर का जो अणिमा रूप ऐश्वर्य है, उसका जो विवर्त=अतात्विक अन्यथाभाव, तद्वत् है मध्य भाग जिसका ऐसी वह वृश उदर वाली। यहा विवर्त शब्द वेदान्तशास्त्र का है वही यहाँ रख दिया इसलिए दूषित है क्योंकि जो वेदान्तशास्त्र को नहीं जानता उसको इस शब्द का अर्थज्ञान कैसे हो सकता है ! यही यहाँ दोष है।

असाधु का लक्षण करते हैं—व्याकरणेति—जो शब्द व्याकरण-शास्त्र से सिद्ध हो अथवा उच्चारण किया हुआ पुण्य जनन करे वही साधु होता है उससे विरुद्ध असाधु। क्योंकि यहाँ नञ्समास विरोधार्थक है जैसे सुर-विरोधी असुर। भाष्य में लिखा है—अर्थ, शब्द और अपशब्द दोनों का ही बराबर होता है परन्तु साधु शब्द से उच्चारित किया हुआ अर्थ धर्मजनक होता है। यही बात वाक्यपदीय में कही है—वाचकता की विशेषता न होने पर भी पुण्य और पाप की विशेषता है। उदाहरण नैपथ्य में देखिये—बुद्धाविति—नल को देल कर हम अपनी बुद्धि में शेष और बुद्धावतार को भी निष्प्रयोजन मानते हैं। यहाँ 'धर्मः' प्रयोग अशुद्ध है, 'धम्मः' होना चाहिये। दूसरा उदाहरण—धेष्टा इति। यहाँ 'ध्यनेशन्' शब्द में इत्व, भाष्य और कैंयट से विरुद्ध है यही दोष है।

सारे आकाश को हरि ने एक ही पद से आक्रान्त किया था। यहाँ 'अक्रामि' पद में वृद्धि व्याकरण विरुद्ध है। प्रौढमनोरमाकार में भी हमारी इस बात का समर्थन किया है। धरातुरेति—हे हस ! किसी अन्य कार्य में सलग्न पृथ्वीपति नल के प्रति तू मेरे निमित्त याश्चा न करना कदाचित् अन्यमना होने से वह तेरी याश्चा को ठुकरा दे। यहाँ 'धरातुरासाहि' में ष्वि प्रत्यय हो नहीं सकता क्योंकि वेद में ही वह ष्वि प्रत्यय करता है। इमामिति—यहाँ 'आचामयसे' अशुद्ध है। क्योंकि यह धातु परस्मैपदी है। क्लिष्ट बरूपना होने से प्रौढमनोरमा का समाधान भी असंभव है। अपामिति—यहाँ निभालय के स्थान में 'निभालयस्व' होना चाहिये था क्योंकि यह धातु आत्मनेपदी है।

इसी प्रकार 'सलिना' यह रामायण का 'सलि' यह महाभारत का और

हे महाराज ! एषा नलाय प्रीति वितरेति ममाम्यर्थनक्रुधा ह्यधि-
परपुरुषबुद्ध्याऽथ मां कथं प्रवर्तयस्यति मां ताडयति । भ्रूणपेण चेतः
परं मावादीरिति तजंपति चेति त्वया दृष्टं दृष्टं त्वं पश्येत्यर्थः । संभ्रमे
द्विहक्तिः । अत्रपेतिकर्तृपदं न्यूनम् । यसाडयति मामेवेति पाठ्यम् ।

यथा वा मम—

लोके प्रतिद्वन्तमा सोमाऽचारस्य वेदमर्मज्ञः ।

नगरभिवानीधामा सोतारामाभिधः शास्त्री ॥

अत्र जयतीत्यादिपद नास्ति । जयति भिवानीधामा, इत्येवं तृतीय-
चरणनिर्माणे कृते तु नैव दोषः । साकाक्षत्वं दूषकताबीजम् । एवम-
धिकपदकथितपदत्वेऽपि दूषणे । तत्राधिकपदं यथा नैवधे—

‘कुहगिरः चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ।’

अत्र रजनीपदम् । ‘राकापूर्णनिशाकरे’ इत्यनुशासनात्पूर्णनिशाकरा-
वच्छिन्नकालस्मैव राकापदाथैत्वात्तद्वह्नः । अतएवाभियुक्ताः प्रयुञ्जते—
‘राकासुधाकरमुखी’, ‘राकायामकलङ्क’ चेदित्यादि । यथा वा तत्रैव—

सभावयति वंदर्भो दर्भाप्राभमतिस्तव ।

जम्भारित्त्व कराम्भोजाद्दम्भोलिपरिरम्भणः ॥

कुशाप्रबुद्धिः वंदर्भो तव दम्भोलिर्द्व्यस्तद्वारिणः कराम्भोजात्करा-
म्भोजमवेक्ष्य जम्भारित्वमिन्द्रत्व सभावयति । अत्राभपदमधिकम् ।
अतएव कविकुलगुरुः कालिदासः प्रायुङ्क्त—‘कुशाप्रबुद्धे कुशली गुह्यते ।
यथा वा तत्रैव—

‘उन्मीलञ्जीतनीलोत्पलदलदलनामोदमेदस्विपूर ।’

अत्र लीलेतिपदमधिकम् । कथितपद चापि नैवधे—

‘भासघनायक-विषण्णमुखानुमेय-भेमो विरक्तचरितानुमया तु जम्भुः ।’

अत्र भेमोविरक्त चरितेन तु जम्भुरेवेत्यदुष्टम् । विसन्धिः सन्धिविरहः ।
स च द्विविध ऐच्छिकः प्रगृह्यत्वादिनिवन्धनश्च । ऐच्छिकः सकृदपि दोषः
द्वितीयस्त्वसहृत् । तथैव कविसमयात् । ऐच्छिकस्य यथा—

‘भ्रञ्जानितेन अमुना बहुवृक्षा निपातिता ।’

भ्रञ्जानितेन = सवृष्टिकथातेन अमुना अनेनेत्यर्थं । यद्यपि अदसस्तु विप्रकृष्टे’ इति वृद्धोक्तेरद शब्दस्य परोक्षज्ञान-विषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्ने शक्ति । तथापि अमु पुर पश्यसि देवदारुम्’ अमु विच त्व पृथिवीमवातर ?’ इत्यादिप्रामाणिकप्रयोगदर्शनादद शब्दस्य प्रत्यक्षज्ञान-विषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नेऽपि शक्तिरिति बोध्यम् ॥

ऐच्छिकत्वेनाशक्तिमूलकतया सहृदयोद्वेजकत्वमत्र दूषकताबीजम् । नचास्यासाधुत्वमेवेति वाच्यम् । वाक्ये सन्धीच्छा विबल्पस्य व्याकरणानु-शिष्टत्वात् । प्रगृह्यत्वादिनिबन्धनस्य यथा मम—

राधे ते अक्षिणी एते श्रीकृष्णे अनुरागिणी ।

तथाभिलाषिणी द्रष्ट लीला नीलाङ्गवारिणी ॥

अत्र ‘इद्वेद्विवचन प्रगृह्य मिति पाणिनिसूत्रेण द्विवचनस्य प्रगृह्यत्व तस्य च प्लुतप्रगृह्या अविनित्यमिति पाणिनिसूत्रेण प्रकृतिबद्धावविधानादसकृदेव दोष । धन्वर्शाथित्य दूषकताबीजम् । व्याकीर्णं = व्यवहितान्वयम् यथा नैपथे—

नि शङ्कुमङ्कुरितता रतिबल्लभस्य

देव स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन ।

तत्रावलोचय मुदृशा हृदयेषु चद्र ,

अत्र । तत्र स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन

रम्यावलाजनमन सु महान्नहेश ।

नि शङ्कुमङ्कुरितता मदनस्य वीक्ष्य

तद्देहदाहफलमाह स कि न विष्य ॥

इत्येव पठितु युक्तम् । प्रतीतिविलम्बो निजेष्टबोधविलम्बाद्रसभङ्गो वा दूषकताबीजम् । समाप्तपुनरात्त—समाप्त सत्पुनरुपात्तम् । यथा नैपथे—

क्षेत्तुमिन्दो नवद्वक्त्र-बिम्बविभ्रमविभ्रमम् ।

शङ्कु शशाङ्कु मानङ्कु भिन्नभिन्नविधिविधि ॥

हे प्रिये, भ्रवरपायवप्रविम्ब भ्रममिन्दो क्षेत्तु यद्वा शशाङ्कमानङ्कु इत्यह

शङ्के म ये । अत्र वाक्यसमाप्तावपि चतुर्थपाद पुनरुपात्त । विम्बविभ्रम-
मञ्जभूरिति पाठे चतुर्थपादस्य निराकाक्षत्वं दूषकताबीजम् । भग्नप्रक्रम
यथा नैपथे—

निजास्यचन्द्रस्य सुधाभिरुक्तिभि ।'

अत्र निजास्यचन्द्रो क्रमेणोपक्रम्य तदुभयोचितयोरुक्तिमुधयो पौर्वा-
पर्यमुचितम् । यथासह्यमनुदेश समानामिति न्यायात् । तदयथाकरण
दूषकताबीजम् । 'निजास्यचन्द्रस्य सुभाषितामृतं रिति पाठश्चम् । भग्न
यतिर्यथा नैपथे—

सविधमधुनाऽलकुवन्ति ध्रुव रविरश्मय ।

अत्र षष्ठे वर्ये षड-सधानकृता यतिरश्वव्यतामावहति । यतिश्च स्थान-
विशेष विच्छेद । यतिविच्छेद' इति षष्ठाध्याये भगवत्पिङ्गलाचार्य-
सूत्रणात् । 'यतिविच्छेदसज्ञक' इति वृत्तरत्नाकराच्च । यस्या षष्ठेपु मधुरता
जायते । मधुरतानिमित्त यतिरिष्यते' इति कविकल्पलताकारोक्ते ।

भग्नच्छन्दो यथा कुमारसम्भवे—

तत परमोमित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम् ।

ए मित्युक्त्वा—स्वीकृत्य, प्रतस्थे जगाम, तिष्ठतिरत्र गतिवाची घातू-
नामनेकायत्वात् । प्रशब्दस्तु गत्यादित्वस्य द्योतक । उपसर्गाणा द्योतकत्व
स्य गतिगताविति सूत्रभाष्ये उक्तत्वात् । अत्र प्रथमपादे षष्ठमवणस्य
लघो स्थाने गुरो करणाच्छदोभङ्ग । श्लोके षष्ठ गुरु ज्ञेय सर्वत्र सधु-
षष्ठममिति छन्द शास्त्रविरुद्धत्वात् । यथा वा नैपथे—

यत सुराणां सुरभिनृणां तु ।

अत्र उपेद्रवञ्जा जतजास्ततो ग' इत्यनुसार तु शब्दस्य गुरो स्थाने
लघो करणाच्छदोभङ्ग । यत सुराणां सुरभिनृणामिति पाठश्चम् ।

एषु चाश्रयता सहृदयहृदयोद्भिजिनी दुष्टताबीजम् । वाक्यान्तरे
चावधातरानुप्रवेशो वाक्यगर्भम् यथा नैपथे—

तस्यायं गरुडामरेद्रसमर स्थाने त जानेऽज्ञानि । अत्राऽह जाने'
इति यावपमजनीति वाक्यमध्ये प्रविष्टम् । परानामनासत्तिरूपकता

बोजम् । या रीतिमुपक्रम्य प्रवृत्तं तद्ब्रह्मवदरीतिम् । यथा नैपथे—

अवश्यभव्येत्वनवग्रहप्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।

जनस्य चित्तेन तयानुगम्यते तृणेन वात्येव भृशावशात्मना ॥

अवश्यभव्येत्त्वयैषु भद्रप्रगेय इत्यादिना कर्तरि प्रत् । 'सुम्येववश्यमः
कृत्ये' इत्यवश्यमोमकारलोपः । अनवग्रहप्रहा = निरकुशा वेधसो ब्रह्मणः
स्पृहा इच्छा यया दिशा धावति = गच्छति, जनस्य चित्तेन तया दिशाऽनु-
गम्यते भृशावशात्मना = परतन्त्रेण तृणेन वात्या घातसमूह इव पाशादि-
भ्यो य स्त्रीत्व लोकात् । स्पष्टमन्यत् अत्र धावतीति कर्तृवाचकतिङ
उपक्रमेऽनुगम्यते इति कर्मकारकवाचकस्थोपादानादरीतिमत्वम् । अथवा
या रीति वेदभ्यादिकामुपक्रम्य प्रवृत्तं तद्ब्रह्मवदरीतिम् । यथा नैपथे—

स्व च ब्रह्म च सतारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।

इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवेदगधी वेदवादिनाम् ॥

सतारदशाया स्व = जीवात्मा, ब्रह्म = परमात्मा चेति द्वयमप्यस्ति ।
चौ समप्राधान्यद्योतनार्थो मोक्षदशाया तु केवलं ब्रह्मैव, सतारोपाधिनिवृत्तौ
ब्रह्मात्मना संपद्यत इत्यर्थः । स्वस्योच्छित्तिरेवमुक्तिः तस्या उक्तिर्वचन तत्र
वेदगधीति परिहासः । अत्र वेदभ्योपक्रम्य गौड्यासमापनमिति दोषः ।
अविमृष्टविधेयाश—प्राधान्यानिदिष्टविधेयकम् । यथा नैपथे—

किममुभिर्गल्पितंजड मन्यसे, मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।

हे जड चन्द्र, अमुभिः प्राणैर्गल्पितं निष्कामितं भीमसुतामनो मयि चन्द्रे
निमज्जतु सभावनाया लोड् किमिति मन्यसे त्वमित्यर्थः । अत्र-मनश्चन्द्रे
निलीयते इति श्रुतेः सर्वसामान्याना मनसा चन्द्रे लयविधानम् । अत्र
वृत्तौ तस्य निर्वेशः इत्यविमृष्टविधेयाशो दोषः । 'भीमभुवोमन' इति
पाठश्च । यथा वा तत्रैव—

सा भङ्गिरस्याः खलु वावि कापि यद्भारती मूर्तिमतीयमेव ।

अथेय मूर्तिमती सा भारत्येवेति भारतीत्व विधेयम्, उद्देश्यवचन पूर्व
विधेयस्य ततः परम्, इत्यनुशासनोत्पन्न दोषः नेयार्थं शक्यतवन्वमात्रे-
णाशक्यार्थोपस्थापन यथा नैपथे—

अवधृत्य दिवोऽपि योवर्तनं सहाघोतवतीमिमामहम् ।

दिवोऽपि=स्वर्गस्यापि योवर्तंशुर्वतोसमूहैर्भिक्षादित्वादण् । अत्र न सहाघोतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकमुन्दरीमित्यर्थः । स च न शक्यार्थ इति दोषः । यथा वा तत्रैव—

अनूपयामास स भोमजाश्रुती ।

भोमजाश्रुती=कर्णौ अनूपयामास परिपूरणं चकारेतित्तक्षणा । सा चात्र न सभवति । 'लक्षणा सा न कस्तव्या कट्टेनार्यागमो यत । न यत्र शक्य-सबन्धो न रुद्धिन प्रयोजनम् ॥ इत्युक्ते । अर्थानुपस्थितिर्दूषकताबीजम् ।

द्वयर्थमप्रतिद्वैर्यं प्रयुक्तं निहतार्थं, यथा नैपथे— निजस्य तेज शिखिनः । 'नृप पतङ्ग समधत्त पाणिना । 'लेखानुजोविपुरया' । 'भंसो-ङ्गितानि शिविकामघरे बहन्त । कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते । 'जिनो-क्तिषु श्राद्धतयेव सन्धवा ।

एषु पद्यांशेषु स्थिता शिखिपतङ्ग लेखाधराध्ययन धाढशब्दा मयूर-शलभलेखाधरोष्ठाध्ययनवितृकर्मसु प्रतिद्धा अग्निहस्तदेवाधोभागप्राप्तिशब्दा वदर्थेण निहता । प्रतिद्धस्यैव द्रागुपस्थित्या विवक्षितस्य विलम्बोपस्थिति दूषकताबीजम् ।

इत्वा कन्या सुपात्राय विद्यामित्र सुखी भवेत् । सुपात्राय सद्वराय पक्षे सच्छिष्याय कन्या सुशीलादिकामित्यत्र तु मदीये पद्यांशे न दोषः सुपात्रशब्दस्य द्वयोरर्थयोः प्रतिद्वे । विमत=विरुद्धमतिकृत् । यथा नैपथे—

'न तुलावियये तवाकृतिन यच्चो वत्मनि ते सुशीलता ।'

हे हस तवाकृति स्वरूप तुलनावियये न नैव, ते सुशीलता यस्तुम दावया, अत्र सादृश्यार्थकतया प्रयुक्त तुलाशब्दो भटिति मानयत्रबोपक-तुलाया प्रतीतिरत्वादिशब्दा मतिमुत्पादयति यथावा तत्रैव— 'न तामुत्स्य प्रतिमावरावरे ।

अत्र प्रतिमाशब्द उपमाया प्रयुक्तोपि भटिति मूर्तिप्रतीतिकरत्वादि-शब्दा बुद्धि प्रसूते । एषु प्रकृतार्थयोःप्रतिवचकता दूषकताबीजम् ।

अप्रविष्टं=प्रसिद्धिहृतम् । यथा नेपथे—

‘कङ्कणातिकलहैश्च नृत्यता कूञ्जित सुरतकूञ्जितं तयोः ।’

तयोर्भौमीनलयोः । नृत्यता कङ्कणातिकलहैः शब्दः सुरतकूञ्जितं=कूञ्जित मन्दोक्तमित्यर्थः । अत्र-‘मञ्जीरादिषु रणितप्राय वक्षिषु च कूञ्जित-प्रभृति । स्तनिनमणित्तादि सुरते मेघादिषु गञ्जितप्रमुखम् ॥ इति काव्य-प्रकाशकारोद्धृतया कविसमयप्रतिद्वया ह्य विरद्धम् ।

पद-दोषों के अनन्तर वाक्य-दोष दिवाने हैं—न्यूनमिति—न्यूनपद, सन्धभाव, सकीर्णं, समाप्तपुनरात्त, भग्नक्रम, भग्नपति, भग्नच्छन्द, वाक्यगर्भ, अरोतिमन् अविमृष्ट-विधेयाग, नेपथ्यं, निहत्यर्थं, अमनपराय, प्रसिद्धिचाग, ये दोष केवल वाक्या में ही होने हैं, पदादि स्थल में नहीं होते । किसी एक पद में शून्य न्यून दोष होता है । उदाहरण—
दृष्टमिति—हे महाराज ! धारने देवा, आपके साथ प्रेम करने के लिये मेरी अन्वयंता पर क्रुद्ध होकर यह (दमयन्ती) आपको नल न जानकर ‘दमने प्रेम करने को क्यों कहती है’ ऐसी मुझे ताड़ना कर रही है और भ्रुवुटि में ‘फिर ऐसी बात मन कहना’ ऐसी तर्जना द रही है । यहाँ कर्तृपद न होने से यह -न्यून दोष हो गया है । ‘यत्तादृशति मानेपा’ ऐसा पद देने पर दोष हट जाता है ।

दूसरा उदाहरण—लोक इति—लोक में जिनका नाम प्रसिद्ध है, मद्राचार की जो सीमा (परावाप्या) है, वेदों के मर्मज्ञ और भिखारी नगर के निवासी श्री सीताराम जी शम्भो सर्वोत्कर्ष युक्त हैं । यहाँ ‘अपति’ पद न होने से न्यूनपद-दोष हो जाता है । तृतीय चरण की अन्वयता करने पर वह दोष यहाँ नहीं रहता । इसी प्रकार अधिबन्ध और कथित-पद भी दोष है । अधिबन्ध का उदाहरण—कुरूपिण इति—दिगाए कुरूपीर् वापे द्विव=कोयल के चञ्चूट की राजारजनी (पूर्वमा गति) में भी अन्वयता बतला रही है । यहाँ रजनी पद अधिबन्ध है, क्योंकि पूर्व निगावर में युक्त क्षान्तरादि ही होता है न कि दिगम् । इसीतिदे

अभियुक्तो ने 'राकासुधाकरमुखी', 'राकायामकलङ्क' चेत्' इत्यादि प्रयोगो को ही उचित माना है।

तीसरा उदाहरण—सभावयतीति—कुशाग्रबुद्धि बंदर्भो (दमयन्ती) आपको वज्रहस्त देखकर इन्द्र मान रही है। यहाँ आभपद अधिक है। देखिये कविकुलगुरु कालिदाम का पद्य—कुशाग्रबुद्धि—लिखा है। चौथा उदाहरण—उन्मीलदिति—विकसित जो नीलोपल (नीलकमल) उनके जो पत्र उनके विकास से उत्पन्न जो परिमल उससे पुष्ट है पूर (प्रवाह) जिसका ऐसा तात्प्राव है। यहाँ (लीला) पद अधिक है। कथितपद का उदाहरण—आसन्नेति—समीपवर्ती नायक के विपण्ण मुख से अनुमेय (ज्ञेय) जो भैमी (दमयन्ती) में विरागपूर्ण चरित्र उसे अनुमान से जाना। यहाँ अनुमा कथित पद है।

यहाँ 'भैमीविरक्तचरितेन' पाठ कर देने में दोष नहीं रहता। विसन्धि का अर्थ है—सन्धि का अभाव। वह दो प्रकार का होता है—एक इच्छाकृत, दूसरा प्रगृह्य सज्ञा निमित्तक। इच्छाकृत एक बार पढ़ने में भी दूषित है, द्वितीय अनेक बार पढ़ने से। क्योंकि कवियों ने ऐसा ही माना है। ऐच्छिक का उदाहरण—भङ्गभेति—इस सवृष्टिक वायु ने सभी वृक्षों को तोड़ डाला। यद्यपि अदस् शब्द परोक्ष में रहता है तथापि उसका प्रयोग इदमर्थ में भी होता है जैसे रघुवश में—'अमु पुर पश्यसि' और माघ में—'अमु किल त्वम्' ये दोनों महाकवियों के प्रयोग हैं, और समीपस्थ के बोधक हैं।

इच्छाकृत होने से अशक्ति का द्योतक है। उसमें सहृदय पुरुषों का उद्वेजन होना स्वाभाविक है। यही यहाँ दोष है। शका—इस दोष को असाधु (च्युतसंस्कृति) ही मान लिया जावे तो क्या हानि है? उत्तर—वाक्य में सन्धि 'करना' 'न करना' व्याकरण में अनुमत है। अतः यह असाधु दोष नहीं हो सकता। उदाहरण—राघे ते इति—ह राघे! तुम्हारे नेत्र श्रीकृष्ण में पूर्ण अनुराग रखते हैं, और नीलाङ्ग हरि की रास-नीला देखने के लिये उत्सुक हैं। यहाँ 'ईदृदे'—इस पाणिनिसूत्र से द्विवचन की

प्रगृह्य सजा हो गई, उसकी 'प्लुतप्रगृह्या' मूत्र से प्रकृतिवद्भाव हो गया परन्तु बार-बार ऐसा करना दोष है, क्योंकि वहाँ प्रबन्ध की सिद्ध्यिता हो जाती है ।

व्यवहितान्वय को व्याकीर्ण कहते हैं । उदाहरण—निःशङ्कुमिति—यहाँ उज्ज्विनी में भगवान् रुद्रदेव अपने चन्द्रनिरण ऋषी अमृत के सेचन में स्थियों के हृदय में पुत्र कामदेव की निर्मय उत्पत्ति देखकर उसके शरीर के मस्तीकरण का प्रयोजन व्यय मानने लगे । यहाँ अन्वय में व्यवधान पड़ जाता है अतः दूसरी तरह से पढ़ना ठीक है ।

यहाँ प्रतीति में विलम्ब होना अथवा अपने को शब्दबोध के विलम्ब में रस का न आना दूषकता का कारण है । समाप्त-भृतराज दोष वह होता है जो समाप्त करने पर भी फिर गृहीत किया जाय । उदाहरण—द्वैतुमिति—हे भूमि ! निष्कलङ्क चन्द्रमा म अति साहस्य होने में तुम्हारे मुत्र की भ्रान्ति हो सकती थी, उसको हटाने के लिये चन्द्रमा को शश (बलङ्क) से अङ्कित कर दिया है । यहाँ चतुर्यं पाद बेकार है दूसरे विभ्रम पद में प्रथिव पद दोष भी है उसको हटाने के लिये 'विम्ब विभ्रममञ्जभू' ऐसा पद देना चाहिये । यहाँ चतुर्यं पाद का निराकाशत्व होना दोष का कारण है । जिसका क्रम से प्रारम्भ किया है उसका अन्त तब उसी क्रम से निर्वाह करना चाहिये, यदि इस क्रम का भङ्ग हो जाय तो भ्रम-प्रभय दोष होता है । उदाहरण—निजास्येति—अपने मुखचन्द्र की मुभापित र्णा मुधा से' यहाँ पहले मुख फिर चन्द्र कहा उनके अनुसार आगे भी पहले उक्ति फिर मुधा कहना चाहिये था, पहले मुधा कहना उचित नहीं, उसका अन्यायकारण ही महा दोष है । भ्रम्यति का उदाहरण—सवि-पनिनि—यहाँ पष्ट वाणं में पर पद का मितना भ्रम्यति दु थव है । ऐसा करने से पद में मधुरता नहीं रहती । मधुरता का न रहना ही दोष है ।

भग्न एन्द का उदाहरण—ततः परमिति—इसके अनन्तर मुनिमसूह, गन को स्वीकार करके चला गया । यहाँ स्या धातु का गमन अर्थ स्वी-कार कर लिया गया क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं । यहाँ प्रथम

पाद में पञ्चमाक्षर लक्ष्मी चाहिए था, दीर्घ कर देने से छन्दोभङ्ग दोष हो गया। दूसरा उदाहरण—यत् इति—यहां तु दीर्घ होना चाहिये। अथर्वशास्त्र में ही दोष का कारण है। वाक्यार्थ का उदाहरण—तस्यार्थे इति—अमृत के लिए गन्ध और उद्भ्र का समर (मुष्ट) होना ठीक था यह भी मानता हूँ। यहाँ 'अजनि'तक एक वाक्य है उसमें 'मह जाने' दोष में मिला दिया, यही दोष है।

जिम रीति प्रक्रिया को लेकर अपने उसका भग कर देना प्रतीतिम्बु होना है। उदाहरण—अथर्वेति—निरकुरा देवी इच्छा जिम दिशा में दौटती है बात समूह से तुल्य की तरह, मनुष्य का चित्त भी उसी दिशा में दौटना है यही धारणा में कर्तृवाचक तिङ् है, परन्तु 'अनुगम्यते' में कर्मवाचक तिङ् यही दोष है। अथवा वैदर्भी आदि रीति के भग करने में भी यह दोष रहता है। उदाहरण—स्य चेति—गन्धार की दशा में जीव और वृद्ध दोनों पृथक्-पृथक् रहते हैं। परन्तु मुक्ति होने पर वृद्ध ही एक रहता है, यह वेदज्ञा की उक्ति हास्यास्पद है यह कर्त्तृक रह रहा है।

यही वैदर्भी रीति में आरम्भ करने गौडी रीति से समाप्त करना ही दोष है। अविमृष्टविधेयास का उदाहरण—किमभुभिरिति—हे जड चन्द्र! क्या तू यह जानता है कि दमयन्ती के प्राण निकलन पर मुझ (चन्द्र) में इसका मन लीन हो जावेगा। यही श्रुति के अनुसार प्राणान्त होने पर सभी के मनो का चन्द्र में लय हो जाता है तब यही समाप्त कर देने में दमयन्ती के मन की प्रधानता देवा दी गई है।

सेति—यह दमयन्ती मूर्तिमती सरस्वती ही है क्योंकि इसकी वाणी में अद्भुत प्रभाव है। यही यह मूर्तिमती वह भारती ही है ऐसा कहना चाहिये था। अब भारती अनुवाच-सा हो गया है, विधेय होना चाहिये था। शक्य संबन्ध से अशक्य अर्थ को उपस्थिति करना नेयार्थ दोष है। उदाहरण—अथर्वेति—मैं स्वर्ग की युवतियों से भी अधिक सुदरी दमयन्ती को मानता हूँ। यही अशक्य अर्थ का उपस्थापन करने से नेयार्थ दोष है। दूसरा उदाहरण—अनुपयामासेति—उसने दमयन्ती के

कणों को परिपूर्ण किया अर्थात् सुनाया यह अर्थ है किन्तु यहाँ लक्षणा नहीं हो सकती। रुद्रि और प्रयोजन के अभाव से यही दोष है।

दो अर्थों वाला पद अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया हुआ निहतायं दोष होना है। उदाहरण—निजास्येति—अपने तेजस्वी अग्नि का। गृष इति—राजा ने हाथ से हस्त को पकड़ लिया। लेसेति—देवताओं के श्रुय पुरुष। भंभीति—अधोभाग में शिविका को धारण करने वाले पुरुष भंभी—दमयन्ती के इङ्गितो (अननुराग-चिह्नो) को प्रतिविम्ब से जान गये। कार्यमिति—कार्य अपने कारण से गुणों को ग्रहण करता है। जिनेति—सिन्धु देना वालों ने जिन भगवान् की उक्तियों में श्रद्धा-की। इन श्लोकों के अर्थों में निम्नपतञ्जादि शब्द मयूरसलनादिक अर्थों में प्रसिद्ध हैं, अग्नि हस्तादि अर्थों में निहृत (अप्रसिद्ध) हैं। अर्थज्ञान शीघ्र नहीं होता, यही दोष है।

दत्त्वेति—मुपात्र के लिए कन्या और विद्या देकर पुरुष मुसी हो जाता है। यह उदाहरण दोषजनक नहीं क्योंकि मुपात्र शब्द दोनों अर्थों में प्रसिद्ध है। विरुद्ध बुद्धि को करने वाला दोष विमत (विरुद्धमतिवृत्) होता है। उदाहरण—न तुलेति—हे हस्त, तुम्हारी आकृति की तुलना उपमा किसी से ही हो नहीं सकती और तुम्हारा सुन्दर स्वभाव वर्णयितुमशक्य है। अर्थात् तुम्हारा जैसा सुन्दर स्वम्प है वैसा ही सुन्दर स्वभाव भी है, यहाँ तुना शब्द एकदम तुला तलहटी की प्रतीति करता है। दूसरा उदाहरण—न तन्मुडेति—दमयन्ती के मुय को उपमा वहीं भी नहीं मिलती, यह प्रथम है। यहाँ प्रतिमा से मूर्ति की प्रतीति शीघ्र होगी है। अतः दोनों अगह विरुद्धमतिवृत् दोष है।

कविलोक-प्रसिद्धि से रहित दोष अप्रसिद्ध होता है। उदाहरण—बद्धुरेति—नाचने वालों के बद्धुरादि के शब्द से उन दोनों का मुरत कृतित मन्द हो गया। यहाँ मञ्जोरेति—मञ्जीर (बिछुवे) घादि में एणित, पक्षियों के कृतित घादि, मुरत में मणित घादि, और मेघादिकों में गणित घादि शब्द होते हैं। यह काव्यप्रकाशकार ने कवि-प्रसिद्धि

मानी है, यहाँ इसके विरुद्ध सुरत में कूजित शब्द का प्रयोग किया गया है अतः प्रसिद्धि त्याग दोष हुआ ॥४॥

(अर्थदोषा)

प्राभ्यादयश्चार्थदोषा रसाद्युक्तिः स्वशब्दतः ।

पौनःपुन्येन दीप्त्याद्या रसे दोषाः प्रकीर्तिताः ॥५॥

प्राभ्यादीत्यादिना—व्याहता श्लीलनिर्हेतुदुष्क्रमाऽनवीकृतपुनरुक्तहीनाधिकोपमानां सग्रह । तत्र प्राभ्यो यथा नैयधे—

निजाननस्पर्शनमप्यंते त्वया धर किमस्मै न नितान्तमयिने ।

हे सखि, धर वक्षत्रस्पर्शन वक्षत्रसयोगः नितान्तमयिनेऽस्मै नलाय, त्वया किमिति नाप्यंते । अयमर्थो प्राभ्यः । वैदाभ्याभावाद्भिभावादिहृषोऽर्थो नरसाय पर्याप्यते । सहृदयहृदयवैमुख्य चाश्लीलमद्भूषकताबीजम् । अत्रार्थस्यैव दोषो न शब्दस्य परिवृत्तिसहस्वात् । द्विजराजमुखो मृगराजकटिर्गजराजविराजितमन्दगति । यदि सा वनिता हृदये निहिता क जप क तपः क समाधिरति ॥ इत्यत्र तु कटिपद प्राभ्य नत्वर्थं इति पददोषत्वमेव । व्याहृतमुपात्तविरुद्धम् । यथा नैयधे—

इन्दु मुखाद्बहु तृण तव यद् गृणन्ति ।

हिमाशुबिम्बलक्ष्मीविडम्बि मुक्ति ॥

हे हिमाशुबिम्बलक्ष्म्यनुसृतमुक्ति, तव मुखादिन्दु बहुतृण = तृणतुल्य वदन्ति । अत्र पूर्वं चन्द्रबिम्बशोभानुसृत मुखीतिकथन पश्चात्तन्मुखापेक्षया चन्द्रस्य तृणतुल्यकथन व्याहृत्यते । विडम्बशब्दस्यानुसृतत्वमर्थं कालिदास प्राह—'यपु प्रकर्षेण विडम्बितेश्वर । काव्यादर्शे दण्डी च । उत्कृष्टापकर्षवर्णनं दूषकताबीजम् । 'उत्कर्षोवापकर्षो वा प्राक् यस्य विनिगद्यते । तस्यैवाथ तश्च्यवेद् व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ॥ इति प्रदीपकारोक्ते । अश्लीलमधोमत् । कपिलादिस्वाप्नेकस्य लत्वम् । यथा नैयधे—

बह्वर्मानि विषिन्नापि तावक कण्ठनेत्रयुगमन्तराङ्गकम् ।

स व्यथादविकवर्णकैरिद काश्चनैर्यविति तां पुराह सः ॥

हे भूमि, कञ्चनेत्रपुण्यमन्तराङ्गकं तावकं कपोलद्वयं, न केवलं मयेव
ब्रह्मणापि बह्वमानि नितरामाहृतम् । यत्सगौरवरुणैः काञ्चनेरिदं द्यधात् ।
बाधेषु एवंविधचरणं महतेऽभूतदोषायेति काञ्चविदो वदन्ति ।
प्रनुपात्तहेतुको निहंतुः हेतुत्वाभाववान् । यथा नैयधे—

आसते शतमप्रिक्षितिभूपाः तोयराशिरसि ते खलु कूपाः ।

किं प्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु क्तमस्तुलयास्ते ॥

अप्रिक्षिति = पृथिव्या, शत भूपा सन्ति । त्वं समुद्रोऽसि ते खलु कूपाः
दिवि आकाशे ते ते प्रहा चन्द्रावयः किं न सन्ति पर भास्वतः सूर्यस्य तुल्यः
न प्राप्ते न कोऽपि । अत्र भूपतित्वं सर्वत्र तुल्यं नत्ते गम्भीराशयत्वमन्येषु
तदभावात् हेतुर्नोक्तः । उद्देश्यप्रतीतिविरहो रूपकताबीजम् । दुष्प्रय-
प्रतिकनिर्देशाभावः । यथा नैयधे—

मुत्तपाणिपदाक्षिणपङ्कजं रचिताण्येव परेषु चम्पकं ।

स्ययमादित यत्र भीमजा स्मरपूजापुसुमद्यजः श्रियम् ॥

भीमजा = दममन्ती स्मरपूजापुसुमद्यजः श्रिय स्वयमात्मनेवाहित
स्वीचकार । कामपूजापुष्पमालास्थाने संवाभूदित्यर्थः । यतः सा मुत्तपाणि-
पदाक्षिण = आस्यकरचरणनयने, पङ्कजं रचिता । प्राग्गङ्गादेवद्वारः ।
मन्येत्वङ्गेषु चम्पकपुष्पैः । भीमजायाः धदनकरचरणेत्र पङ्कजतुल्य,
प्रयदङ्गं चम्पकतुल्यमिति भावः । अथ 'मुत्तनेथयाहुपादे'त्यादिकामशाखा-
नुसारं मुत्ताप्रेऽक्षिनिर्देश उचितः । यथा वा तत्रैव—

'क्षितिगर्भधराभ्यरातये तलमप्योपरिपूरिणां पृथक् ।'

अत्र 'भूर्भुवः स्वरि'ति महाध्याहृत्यनुसारं प्रथमं परानिर्देशी प्रुज्यते ।

यथा वा तत्रैव—

'आसीत्तूरङ्गोऽपि मतङ्गगोऽपि ।'

अत्र मतङ्गजस्य प्राङ्निर्देश उचितोऽस्माहृतत्वात् । एवं

भागीरथी हरद्वारे कुस्लेत्रे सरस्वती ।

अतिपुण्यतमाः रनाता इन्द्रप्रथमे यमस्वप्ता ॥

रनाताः पीताश्र, अतिपुण्यतमाः पुण्यतनकाः । अत्रीदाहरणं मयु-

नाया प्राङ्निर्देश उचित तस्या ज्येष्ठत्वात् । ध्वनितश्रायमर्थो 'गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते' इत्युदाहरता सिद्धातकीमुदीकारेण । एतेन यमुनैव प्राचीना गङ्गा तु तथा पश्चान्मिलितेति तद्व्याख्यातार ॥ अनवीकृतो यथा नैपथे—

'दत्त्वात्मजीव त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।'

हे हस, जीवदे प्राणदे त्वयि आत्मनो जीव दत्त्वा शुध्याम्यनुरूपीभ वामि । जीवाधिकद नल ददाति य तस्मिन्स्त्वयि तु केन प्रकारेण शुध्यामि । अत्र जीवशब्दस्यानेकवारमुक्ति कवेरशक्ति प्रदर्शयति । अस्य वाक्यभेदान्न कथितपदेऽन्तर्भाव । तस्यैकवाक्यनिष्ठत्वात् । पिष्टपेषणन्यायेन सहृदयो- द्वेजकत्व दूयकताबीजम् । पुनरुक्त यथा नैपथे—

रक्ष स्वरक्षणमवेक्ष्य निज निवृत्त विद्याधरेष्वधरता वपुषेव भेभ्या ।
गन्धर्वसत्सदिन गन्धमपि स्वरस्य तस्या विमृश्यविमुखोऽजनि यानवर्ग ॥

यानवर्ग शिबिका-वाहकसार्थे रक्ष सु निजमरक्षणमवेक्ष्य ज्ञात्वा तेभ्यो निवृत्त । विद्याधरेषु भेभ्या वपुषेवाधरता न्यूनतामवेक्ष्य निवृत्त गन्धर्ववर्गे भेभ्या स्वरस्य = कण्ठमाधुयस्य, गन्धमपि नावेक्ष्य निवृत्त इत्यर्थ । अत्र 'तस्या विमृश्य विमुखोऽजनी त्यर्थ पुनरुक्त । 'उक्तार्थानामप्रयोग इति भाष्यादुक्तार्थस्य पुनर्वचन दूयकताबीजम् । हीनोपमो यथा नैपथे—

अमुष्य विद्यारसनाप्रनर्तकी श्रथीव नीताङ्गपुणन विस्तरम् ।

श्रथी विद्या = वेदलक्षणा अमुष्य नलस्य रसनाप्रे जिह्वाप्रे, नतकीव नर्तकीति नारायण । अत्रातिपवित्रायावेदविद्याया नीचजातीय नतक्या सहोपमाश्रथीव हीनेति सूक्ष्मदृशावसातव्यम् । अत्र 'अमुष्य विद्यारसनाप्रे वर्तिनीति पाठश्चम् । अधिकोपमो यथा नैपथे—

'गुप्त घटप्रतिभटस्तनि ।

घटस्य प्रतिभटौ स्पर्धिनो स्तनो यस्या सा सत्सबुद्धी हे घटादप्यधिक विस्मृतस्तने इत्यर्थ । अत्र स्तनयोर्घटादप्यधिकमहत्परिमाणकथनमसत्प्रथ या लोकाद्विरुध्यते । यथा वा सत्रव 'सदसत्सशयगोचरोदरो' अत्रोदरस्य सदसत्सशयकथनमेव एव दोष अरपुक्तिर्वा । यद्यप्येतेनोपमेयानां प्रथम

तथापि रसहानेः स न प्रतीयते एवमेवोपमायां तिङ्गभेदवचनभेदकाल-
भेदोऽपि दोषो द्रष्टव्यः । क्विसमयविरुद्धतया चमन्कारापकर्षकत्वात् ।

तत्र तिङ्गभेदो यथा नैपथ्ये—

तृणानीव घृणावादान् विधूनय वधूरनु ।

तवापितादृशस्यैव का पुनर्जनवञ्चना ॥

वधूरनु=स्रोतदृश्य, घृणावादान्निन्दावचनानि तृणानीव विधूनय-
त्यत्र स्पष्टमन्यत् । वचन-भेदो यथा तत्रैव—

हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषा हसं दूतपयः सितीकृतः ।'

हनूमान्=रामदूतत्वेन प्रसिद्धः, तदाद्यैर्यशसा दूतपयः श्वेतीकृतः ।
ननेन शत्रूणां हसं हर्षित्येनेति निन्दा व्यन्यते । यथा वा वेदे 'अग्निर्नये भ्राजसः,
स्पष्टमन्यत् । अत्रोपमानगतवद्वचनेनोपमेयगतमेकवचनं विरुध्यते पुनर्द्विषां
कातनेदो यथा—

अगच्छदायमान्वेषी नलद्वेषी स निःश्वमन् ।

अनिरामं गृहारामं तस्य रामममश्रियः ॥

नलद्वेषी स कलिः निःश्वमन् रामममश्रियः तस्य नलस्याभिरामं गृहारामं
गृहोपवनमगच्छत् । स्पष्टमन्यत् । अत्र भाविना श्रीरामेण सह नलस्यो-
पमानकर्तृयोग्या कालभेदात् । यत्रैको दोषस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति ।
यथोदाहृते हनूमदाद्यैरिति पद्येऽप्यमपि दोषः । एवमन्यत्रापि । यत्र तु
रमानपकर्षकत्वेन नैपथ्यं सहृदयहृदयोद्वेगजनकत्वं तत्र न दोषः । यथा—

सन्तापशान्तिकारित्वाद्भदनं चन्द्रमा इव ।,

प्राणा इव प्रियोऽय मे विद्याधनमिवाङ्किता ॥

रमादीत्यादिना स्यापिसञ्चारिणोऽग्रं ह्यम् । कोऽपि रमो रसशब्देन
शृङ्गारादिशब्देन स्यापिसञ्चारिणोरत्यादि श्रीहादिशब्देन वा न वक्तुं
युक्तं अनास्वाद्यतापत्तेः । तदास्वादसम्भवंश्च विभावावुमावादिमुत्तेर्नवेति
सर्वात्तद्वारिकानुमतः पण्याः । क्रमेणोदाहरणानि यथा नैपथ्यं—

शुचेस्तदासीत्सरसोरसस्य सा । शृङ्गारमातिङ्गदधोश्वरयोः ।

ससंभ्रमा सुसरतिः । शीघ्राद्ये किमपि भूषय ।

दोष है। सोभारहित प्रस्लील दोष होता है। उदाहरण—बह्वमानीति—
हे भूमि, तुम्हारे कपोलद्वय भङ्ग को ग्रहणा ने भी खूब पसन्द किया
क्योंकि उसने इस तुम्हारे भङ्ग को गौरवर्ण वाञ्छन=गुलाबपुष्प से
निर्मित किया है। काव्य में ऐसा अर्थ वर्णन करना प्रस्लीलता है।

भाचार्यों ने जैसे नाटकों में मरण आदि का वर्णन दूषित माना है
वैसे ही काव्यों में कपोल आदि का वर्णन भी दूषित है। उसका अचि-
त्यानीचित्य स्वयं जानें। जिसमें कोई हेतु न दिखाया गया हो वह निहेंतु
दोष कहलाता है। उदाहरण—आसते इति—हे नल ! पृथ्वी पर संकड़ो
भूमिपति हैं, उनमें आप समुद्र हो और वे सब रूप हैं। आकाश में अनेक
चन्द्रमा आदि ग्रह हैं परन्तु सूर्य के साथ किसकी तुलना की जा सकती है।
यहाँ भूपतित्व गुण सब में तुल्य है परन्तु नल में गंभीरतादि गुण और
अन्यो में उसका अभाव कहना चाहिये था।

जहाँ क्रम बिगड़ता हो वहाँ दुष्क्रम दोष होता है। जैसे—मुखपा-
णीति—कुण्डिन नगरी में दमयन्ती काम-पूजा के लिए पुष्पमाला
की प्रतिनिधि स्वयं थी क्योंकि उसके मुख, हस्त, पैर और नेत्र तो
कमल के तुल्य थे और अन्य भङ्ग चम्पक पुष्प के तुल्य थे। यहाँ
'मुख नेत्र दाह्रु पाद' कामशास्त्र के लेखानुसार मुख के आगे नेत्र का
निर्देश होना चाहिए था। दूसरा उदाहरण—'क्षितिगर्भेति—यहाँ
'भूर्भुवः स्वः' इस महाव्याहृति के निर्देशानुसार पहले पृथ्वी फिर पाताल
और फिर अम्बर का निर्देश होना चाहिये था। तीसरा उदाहरण—
आसीदिति—यहाँ मतङ्ग (हस्ति) का पूर्व निर्देश होना चाहिये था।

चौथा उदाहरण—भागोरथीति—हरद्वार में गङ्गा, कुरुक्षेत्र में सर-
स्वती और दिल्ली में यमुना स्नान और पान करने से अतीव पुण्यजनक
हैं। यहाँ ज्येष्ठ होने से यमुना का पहले निर्देश होना चाहिये था।
यमुना का ज्येष्ठत्व 'गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते' इस उदाहरण से व्यक्त है।
अनवीकृत दोष का उदाहरण—दत्त्वात्मेति—हे जीवदान करनेवाले
हस, मैं तुम्हें अपना जीवदान करके अनृण हो सकती हूँ परन्तु जीव से

भी अधिक प्रिय नल को देने वाले तुम्हारे लिए मैं क्या देकर अनृतण होऊँ। यहाँ जीव की अनेक बार उक्ति अनवीकृत दोष है।

पुनरुक्त का उदाहरण—रस स्थिति—दमयन्ती के शिविका-वाहकों का समूह, राक्षसों में अपनी रक्षा न देखकर अर्थात् राक्षस हमें खा जावेंगे—इस बुद्धि में उनसे दूर हट गया। विद्यावरों में दमयन्ती के शरीर की तुलना न देखकर उनसे हट गया, और गन्धर्वों में दमयन्ती के कण्ठ के माधुर्य का गन्ध भी न देखकर हट गया। यहाँ 'तस्या विमृश्य विमृश्वो-ऽजनि' इतना अर्थ पुनरुक्तार्थ है। उक्तार्थ का प्रयोग होना ही नहीं। हीनोपम का उदाहरण—अमुष्येति—इस नल की जिह्वा के आगे वेद-विद्या नतंकी की तरह नाचती थी। यहाँ पवित्र वेदविद्या की उपमा नतंकी से की है—यही दोष है।

यहाँ 'अमुष्य विचारसनाप्रवर्तिनी' ऐसा पाठ होना चाहिए। अवि-कोपम का उदाहरण—गुप्तमिति—हे घट से भी अधिक परिमाण युक्त स्तनों वाली दमयन्ती ! यहाँ स्तनों का घट से भी अधिक परिमाण कहना लोक में अमत्य प्रतीत होता है। और दमयन्ती का उदर है या नहीं कहना असदुपमा अधिकोपम तथा अत्युक्ति है। यद्यपि इससे उपमेयो का प्रकर्ष होना है तथापि रस हानिकारक होने से वह ठीक नहीं। इसी प्रकार उपमा में लिङ्गभेद, वचनभेद और कालभेद भी दोष जानने चाहिये। क्योंकि वे कवि-समय-विरुद्ध होने से चमत्कार का अपकर्ष करते हैं। लिङ्गभेद का उदाहरण—नृणानीवेति—हे पुरुष ! स्त्रियो से क्यों घृणा करते हो, तू भी तो वैसा ही है।

वचन-भेद का उदाहरण—हनूमदाद्यैरिति—हनूमान् आदिकों ने रामा-दि दोत्यजन्य यदा से और मैंने (नल ने) शत्रुओं के हात्प से दूत-पय को स्वेन बना दिया। 'धवलना गीयते हासकीर्त्तो' यहाँ उपमानगत बहुवचन में उपमेयगत एकवचन विरुद्ध है। वेद में भी वचन-भेद दोष मिलना है अग्निरिति—जो द्राह्मण अग्नि के समान देदीप्यमान थे। कालभेद का उदाहरण—अगच्छदिति—नल का शत्रु और आशय ढूँढने वाला वह

कविदिति । यत्र रसोत्कर्षापकर्षकारित्वाभावस्तत्रेत्यर्थः ।

अब पूर्वोक्त दोषों की अदोषता बतलाते हैं—पदवाक्येति—जो पददोष, वाक्यदोष और अर्थदोष पीछे कहे गये हैं उन सब को जहाँ रस के उत्कर्ष का अपकर्षण नहीं होता वहाँ अदोष माना गया है ।

‘नो कष्टमनुप्रासादौ ।’

यथा नैवधे—

आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणाम् ।

तत्याज तोष परपुष्टघुष्टे ।

परपुष्टघुष्टे = कोकिलकूजिते, स्पष्टमन्यत् । अत्र शृङ्गारे टकारण-कारादिवर्णाः कर्णाविरूपका = अपि अनुप्रासमहिम्ना नाम्नाता दूषकतया ।

‘श्लेषादौ नाप्रयुक्तता ।’

आदिना अनुप्रासादिसंग्रहः । यथा नैवधे—

तत्कण्ठमालिङ्गञ्च रसस्य तृप्तम् ।

तस्य नलस्य, कण्ठं = प्रीवामालिङ्गघान्यत्र मुखमालिङ्गञ्च संस्पृश्य, रसस्य रागस्य तृप्तां सन्तुष्टां, पक्षे रसस्य शृङ्गारादेः तृप्तां परिपुष्टामि-त्यर्थः । अत्र शृङ्गारादिरसपक्षे रसशब्दः कविभिर्न प्रयुज्यते, विभावादि-द्वारं च तस्याभिष्यक्ति स्वीकारादिति प्रागपि निवेदितमस्माभिः । परमत्र तत्प्रयोगो न दुष्यति । श्लिष्टत्वात् । यथावा मम दुर्गाम्बुदये—

देवोस्तौतुजंगद्वयं सर्वं नश्यन्त्युपद्रवाः ।

मानं घनं च सत्पुत्रं कलत्रं भवति ध्रुवम् ॥

अत्र नपुंसकोऽपि पुल्लिङ्गो मानशब्दो न दुष्यति इति भाष्यान्मान-शब्दः स्त्रीबोऽपि कविभिः पुंस्येव प्रयुज्यते । परमत्रानुप्रासवशात् न दोषाय, एवम् ।

प्रतिष्ठा सौकरी विष्ठा शीरव घोररोरवम् ।

अभिमानं सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥

मियः स्तोत्रे न सन्दिग्धं,

यथा नैवधे—

चेतोनल कामयते मदीयम् ।

अत्र 'नल कामयते' इत्यादीनि पदानि 'नल कामयते' इत्ययं कानि आहोस्विन् तथा न अयने—गच्छति, अथवा 'अनल कामयते' इत्ययं कानोनि सन्देह । तथापि योग्यतया सकलपक्षानुकूलार्थनिर्णयान्, व्याजस्तुतिनिर्वाहकतया गुरुता समन्ते न दोषनाम्, व्याजस्तुतेर्भावोत्कर्षकत्वेन गुरत्त्वान् ।

व्ययं न यमकादिषु ॥७॥

प्रादिपवादनुप्राससप्रहं । यथा घटत्वपरंकाद्ये—

जोषेय येन कविना यमकं. परेण, तस्मै बहेयमुदकं घटलपरैण ।

अत्र 'येन कविना यमकरह जोषेय तस्मै' इत्येवविबक्षितोऽयं ततश्च परेषेण व्ययं परन्तु यमके स न दुष्यति । यथा वा तत्रनिद्वन्द्वानि नतोदये—

पिकोपिकोपि कोपिको वियोगिनोरनसंयन् ।

कोऽपि कदचन कोऽपेव कोपिक स्वार्थे कप्रत्यय । पिकोऽपि कोऽपि कोऽपि वियोगिनी स्त्रीरनसंयदपहृतवान् । अत्र यमकेऽपिकयोर्न व्ययंत्वम् अनुप्रासे यथा किराते-सर्वाणितिङ्गी विदित समाययो युधिष्ठिर द्वैतवने वनेचर । अत्र द्वितीयवनस्य न व्ययंत्वम् ।

नोऽष्टमिनि—अनुप्रास म कष्ट—अनिक्कु दोष नहीं होता । उदाहरण—प्रास्येति । तस्यात्रेति—उमका उरुके मधुर शब्द को मुनकर कोयल के शब्द में भी घृणा हो गई । यहाँ दोनों उदाहरणों में टकार एकारादिरुं, शृङ्गार रस में होने से दूषित हात्रे हैं तथापि अनुप्रास महिमा से वे सब यहाँ दूषित नहीं मान जात । बीजन्त्यादि रसों में व गुण हो जात हैं ।

श्लेष और अनुप्रास में अप्रयुक्तत्व दोष नहीं होता । उदाहरण—नोऽष्टमिनि—नल के कण्ठ के आलिङ्गन करने से तृप्त-अतृप्त, अन्वय मुख-

स्पर्शन से वृत्त-परिपुष्ट । यहा शृङ्गारादि रस पक्ष में रस शब्द कवियों से प्रयुक्त नहीं होता क्योंकि विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति मानी गई है परन्तु यहाँ श्लेष की महिमा से रस शब्द का प्रयोग दूषित नहीं है । दूसरा उदाहरण—देवीति—देवी की स्तुति करने वाला सारे जगत् को वश में कर लेता है उसकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं वह पूर्ण सम्मान और अतुल धनधान्य प्राप्त करता है, उसकी स्त्री श्रेष्ठ पुत्रवती होती है ।

यहाँ भाष्यकार की उक्ति से नपुंसक भी मान शब्द कवियों द्वारा पुल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है परन्तु यहाँ अनुप्रासवश दूषित नहीं । इसी प्रकार 'प्रतिष्ठा सौकरी' इस पद्य में भी समझना चाहिये । मिथ इति—परस्पर स्तुति में सन्दिग्ध दोष नहीं माना जाता । उदाहरण—चेत इति—मेरा चित्त केवल नल को चाहता है । यहाँ 'न लंका, लका को नहीं चाहता' अर्थ भी निकल सकता है और 'अनलं कामयते' अग्नि में प्रवेश करना अर्थ भी हो सकता है तो भी सभी अर्थों का निकलनारूप सन्देह यहाँ दूषित नहीं ।

वर्येनेति—वनक और अनुप्रास में कोई अक्षर व्यर्थ नहीं माना जाता । उदाहरण—जीयेयेति—जो कवि मुझे यमक में जीन लेगा उसका मैं जलशाहरु=दास बन जाऊंगा । यहाँ पर परेण शब्द व्यर्थ होता हुआ भी व्यर्थ नहीं माना गया । रघुवश आदि काव्यकार हरिप्रेण, कालिदास ने घटखपरकाव्य की प्रतिद्वन्द्विता में ही नलोदर काव्य लिखा था । विक्र इति—किमी कोपयुक्त कोकिल ने वियोगिनी स्त्रियों को पीड़ित किया । यहाँ अपि और क दोनो व्यर्थ होते हुए भी व्यर्थ नहीं माने गये । अनुप्रास का उदाहरण—स इति—यहाँ वनेवर में वन शब्द दूषित नहीं ।

नाश्लीलं भगवत्यादि ।

विवक्षितार्थस्य प्रतिद्वत्वाद्भ्रूलोकार्थानुपस्थितेः । उक्तं च—

भगिनी भगवत्यादि शिवलिङ्ग गुहादिषु ।

अभिप्रेतकुमार्यादावश्लीलं नैव दुष्यति ॥

अत्राश्लीलचतुष्टयम् । संवीतादिकमप्यश्लीलं न दुष्यति । यदाहु—
'ग्राम्यं घृणावदश्लीलामङ्गलार्थं यदीरितम् । तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षिनेषु
न दुष्यति ॥ तत्र—'योपित्सु या शुक्रनिषेकभूमिरित्यादिसंवीतम् । अत-
म्यार्थेऽप्रसिद्धं गुप्तम् । यथा सखाद्यादिपदम् । लक्षणया स्त्रीचिह्नबोवकं
लक्षितं यथा जन्मभूमिः । एव शान्तबीमत्सादिरसे व्यंग्येऽप्यश्लीलं न दोषा-
वहम् । तत्र शास्त्ररसे यथा—'उत्तानोच्छ्रनमण्डूरुपाटितोदरसंनिभे ।
श्वेदिनि स्त्रीव्रणे शक्तिरकृमे कस्य जायते ॥ अत्र स्त्रीव्रणादि पदानि न
दुष्यन्ति । योमस्ते यथा—प्रेतरङ्गुः करङ्गादित्यादौ ।

तद्विदोनाप्रतीतकम् ।

वस्तुः श्रोतुश्च द्वयोरपि ज्ञत्वे सतीत्यर्थः । यथा कुमारमन्भवे ब्रह्माणं
प्रति देवानामुक्तौ—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।

तद्दर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विन्दुः ॥

त्वां ब्रह्माण, प्रकृतिं = मायां, 'माया तु प्रकृतिं विद्यादि'ति श्रुतेः । आम-
ग्निं ज्यपग्निं । तद्दर्शनं = प्रकृतेर्द्रष्टारं त्वामेवोदासीनम् । 'असङ्गो ह्ययं
पुरुषः' इति श्रुतेः । 'कर्तेव भवत्युदासीन' इति सांख्यशारिकोक्तेश्च । पुरुषं
'वनेश-कर्म-विपाकाशयंरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति योगसूत्रात्पुरुष-
पदवाच्यमोश्वरं विदुर्विदन्ति, तत्त्वमस्यादि-वाक्यैरेक्यश्वरणादिति भावः ।
अत्र प्रकृतिपुरुषयो यद्यपि सांख्ययोगयोरेव प्रतिद्वत्वादप्रतीतो तथापि तद-
भिन्नदेवब्रह्मणु न दुष्यतः ।

नानुप्राप्ते हतं नापि लक्षणादाववाचकम् ॥८॥

हतं = निह्नार्थमनुप्राप्ते न दुष्टम् । यथा माये—

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः ।

अत्र पतङ्गशब्दः शलभे प्रतिदोऽपि अनुप्रासमहिम्ना सूर्यार्थेऽपि न दूष्यति । लक्षणादाववाचकदोषो न भवति । लक्षणादेरशक्य एव वृत्ति-त्वात् । यथा—

गङ्गावासी समागतः ।

अत्र लक्षणया गङ्गातटवासीत्यर्थः । गङ्गाशब्दस्य तटोऽर्थस्तु न भवति 'अनन्यलभ्य.' शब्दार्थ इति न्यायात् । गङ्गात्वेन प्रवाहे निवासबाधबुद्धेः गङ्गात्वप्रकारक-प्रवाहविशेषक-निवासान्वयबुद्धित्वमेव प्रतिवक्ष्यतावच्छे-दकम् । नतु गङ्गात्व-प्रकारकतटविशेषकबुद्धित्वमिति ।

नाभ्रीलमिति—भगवती आदि शब्द अश्लील नहीं माने जाते क्योंकि वहाँ बोलने पर अश्लील अर्थ की उपस्थिति नहीं होती । भगिनीति—यहाँ चार अश्लील हैं—भग, लिङ्ग, गुह और प्रेत, ये चारों ही दूषित नहीं । सवीत आदि भी दूषित नहीं यथा स्त्रियो की मुकनियेक भूमि, सबाध, जन्मभूमि, इसी प्रकार शान्त और बीभत्स रस जहाँ व्यङ्ग्य हैं वहाँ अश्लील या दूषित नहीं । शान्तरस व्यङ्ग्य का उदाहरण—उत्तानेति—अर्धात् कीड़े के अतिरिक्त कौन पाटितमण्डूक के उदर के समान दुर्गन्ध स्त्री व्रीण मे प्रसन्न होता है । बीभत्स मे प्रेत शब्द अश्लील नहीं ।

तद्विदोरिति—वक्ता और श्रोता यदि दोनों जाता हो तो अप्रतीत दोष नहीं होता । उदाहरण—त्वामामन्तोति—हे ब्रह्मन्, पुरुषार्थ में प्रवर्तन करने वाली प्रकृति (माया) तू ही है । और उसका द्रष्टा उदासीन (असङ्ग) पुरुषपदवाच्य ईश्वर भी तू ही है । जैसाकि 'तत्त्वमस्यैदि' वाक्यो स दोनों की एकता का सिद्धान्त निर्भ्रान्त स्वीकृत है । यद्यपि प्रकृति और पुरुष शब्द साहचर्ययोग मे ही प्रसिद्ध हैं, तथापि इस सवाद मे देवता और ब्रह्माजी दोनों ही अभिज्ञ हैं अतः यहाँ यह दोष नहीं माना जाता । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये ।

नानुप्रास इति—अनुप्रास मे निह्णार्थ दोष नहीं होता । उदाहरण—पतदिति—आकाशमार्ग से भगवान् वृष्ण के समीप आते हुए नारद मुनि आकाश से गिरते हुए भूष के समान घोभित हुए । यहाँ पतङ्ग शब्द

यद्यपि शतन व्यं में प्रसिद्ध है तथापि अनुप्रासनिष्ठ होने से मूर्धं व्यं में भी दूषित नहीं होता। लक्षणादाविति—नशर्यादि में अत्राचर दोष नहीं होता। उदाहरण—गङ्गाबासीनि—यहाँ नशर्या से गङ्गा-उट्यासी व्यं होता है। गङ्गा शब्द का व्यं तट नहीं है क्योंकि ग्याप कहता है—व्यस्यं प्रत्यलभ्य नहीं होता अर्थात् एक शब्द प्रत्य शब्द के व्यं को नहीं कह सकता। यही बात 'गङ्गात्वेन' इस प्रभृत् से बतलाई है।

प्रतीत्यबाधात् न न्यूनम् ।

यथा स्तुनिकृत्तुमाञ्जनी—

किमविनाति विना शिवसेवनम् ।

शिवसेवनं शिवस्मरणं विना किं कस्तुस्तिवरमस्तीनि शेषः । न किमपि, यत्र 'अस्तिभवंतोपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीनि भाष्योक्तः' अस्तीति क्रिया-दस्य भटिति प्रतीतेर्न दोषः । यथा वा मम—

अनेके भ्रातरो लोके गेहे गेहे तथापि नो ।

अग्रजो मूलचन्द्रानो मेकीराममनोनुजः ॥

अथास्तानिति क्रियापदस्य भटिति प्रतीतिः ॥

भिन्नपादे विसन्धि न ।

दूयणापेक्षया ह्योवत्वमेवमपस्तात्पुरस्ताच्च । यथा—

यदि गर्जति गोमापुः सिंहस्यथे तथापि न ।

कोपमाप्नोति पञ्चास्यः अमश्रेणु दिवनम् ॥

गां धारो भिनोतीति गोमापु-शृगानः, पञ्चं = विसृत्तमात्पमरयेति

पञ्चास्यः सिंहः । अमश्रेणु = असमानश्रेणु, शिष्यं कृत्स्नतमेवेत्यर्थः ।

'अनुसृष्टुरत्ते घनध्वनिं नहि गोमापुस्तानि केशरी'नि नारद्व्युक्तः । यत्र

भिन्नपादतया सन्ध्यभावो न दुष्यति । एवमप्यत्र ।

. न समासे यत्रेभंङ्गः ।

यथा नैयधे—विललास जयान्गोदरे ।

एयानेऽर्थे न विहेतुता ॥६॥

यथा मम—

पुष्पेषु मल्ली नगरेषु दिङ्गो घेदेषु साम शित्तियेषु रामः ॥

सर्वधेयता इति दोषः । 'यतश्च निर्धारणमिति सप्तमी । निर्धारणविषये एकवचनमसाधिविहितकारके इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अत्र सुरभि-भारतराज-घामोत्वादिहेतवः द्याता चेति निहेतुता न दोषः ।

प्रतीति—प्रतीति का बाध न होने पर ग्यून दोष नहीं होता । उदाहरण, किमविनाशीति—शिव की धारापना करना ही सत्कार मे सार एव स्यामी वस्तु है और सभी वस्तुएं दाणभगुर हैं । यहाँ यद्यपि कोई क्रिया नहीं है तथापि निदिष्ट भाष्योक्ति से ऐसे स्थलों मे अस्ति भादि क्रिया की तत्त्वाल ही प्रतीति हो जाती है । तीगरा उदाहरण—घनेक इति—घर-पर मे भाइयो की बमी नहीं, परन्तु मूलचन्द्र के सदृश ज्येष्ठ भ्राता और नेकीराम के समान कनिष्ठ भ्राता बहुत कम है । यहाँ 'मास्ता' क्रिया की तत्त्वाल प्रतीति हो जाती है । भिन्न इति—भिन्न पाद मे सन्ध्यभाव दोष नहीं ।

उदाहरण—यदीति—यदि सिंह के भागे शृगाल (गोदड) गर्जना करने लगे तो भले ही करो, सिंह क्रोध नहीं करता क्योंकि छोटी के प्रति बड़े अपना बल नहीं दिखाया करते । यहाँ भिन्न पाद होने से सन्धि का अभाव दूषित नहीं । नेति—समास मे यति-भङ्ग दूषित नहीं ।

उदाहरण—विललासेति—ख्यातेऽर्थ इति । प्रख्यात अर्थ मे निहेतु दोष नहीं होता । उदाहरण—पुष्पेष्विति—पुष्पो मे मल्लिका, नगरो मे दिङ्गो, देशे मे सामवेद और राजाघो म श्रीराम सर्वधेय है ।

नान्यवाक्ये समाप्तत्वम् ।

वाक्यभेदे समाप्तपुनरात्त न दोषः । यथा रघुवक्त्रे—

न किलानुपपुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।

व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः धृती तस्करता स्थिता ।

तस्य—दिलीपस्य यज्ञोऽग्नये राजानो नानुययुः' यतस्य राज्ये परस्त्रेभ्यः
पाट्येभ्यः। द्वादशता तस्करता क्षुत्ती शब्द एव स्थिता न स्वरूपे,
'प्राप्यन्नासत्यपि ह्ययं ज्ञान शब्द' करोति हि' इति साद्यत्तण्डनोक्तैः ।

प्राप्यत्वं न हसोक्तिषु ।

यथा नैपथे—

सरोत्रकोशाभिनयेन पाणिना स्थितेऽपि कूरे मुहुरेव यावत्तं ।
सति, त्वमामं वितर त्वमित्युक्ते द्वयो नवाशब्दतुः किलोदनम् ॥
अत्र प्रोदनवाचकं कूरशब्दो ग्राम्योऽपि हास्योक्तौ न दुष्टः ।

सर्वेषामपि दोषाणामनुकारे न दुष्टता ॥१०॥

यथा मम—

प्रदूतेऽयं दुराधार भाषारो मे न रोचति ।

अत्र रोचतीति क्रियापदस्य परस्मैपदत्वं परोक्षत्वात् न दुष्यति,
रूपताधीनस्य श्रोतृबहुवचनप्राभावात् ।

नान्येति—अन्य वाक्य मे समाप्त पुनरुक्त दोष नहीं होता । उदा-
हरण—न क्रियेति—अयं राजा सोम, उयं दिलीप के मम का अनुकरण
नहीं कर सके क्योंकि उसके राज्य में तस्करता (चोरी) शब्द बेधल बोलने
में ही जाता था, कार्य में नहीं । प्राप्यत्वमिति—हास्योक्ति में ग्राम्यदोष
नहीं होता । उदाहरण—सरोत्रेति—हे मुनि ! बात में बात होने पर
भी कमल कोशाकार हाथ बना कर मागने हुए इस मुखक को भात दे
दो : दृष्ट बोली—गति । तुम दे दो, इस प्रकार परस्पर विवाद के कारण
गिनी में भी भात नहीं दिया । यहाँ प्रोदनवाचक कूर शब्द प्राप्य होने
पर भी दुष्ट नहीं । शब्देषामिति—सब दोष अनुकरण में दूषित नहीं होते ।
उदाहरण—प्रदूत इति—यह दुष्ट सदाचार को श्रेष्ठ नहीं मानता । यहाँ
रोचति क्रिया दूषित नहीं है परोक्ष होने से ।

इति साहित्यविन्दु के तृतीय विन्दु की हिन्दी टीका ।

अथ चतुर्यो विन्दुः

(रीतिसामान्य-लक्षणम्)

रीतयश्च गुणाः प्रोक्ताः काव्यशोभाकरा यतः ।

ततस्तासां च तेषां च क्रियतेऽद्य निरूपणम् ॥१॥

काव्यशास्त्रेण काव्यशरीरभूतौ शब्दार्थौ काव्यात्मभूता रसादयश्च बोध्याः । तथाच रीतिगुणानामिदं लक्षणं पर्यवस्यति । परम्परया रसाद्युत्कर्षजनकत्वे सति शोभाजनकत्व रीतित्वम् । नच ध्ययघानेन कार्यजनके जनकत्वव्यवहाराभाव इति धान्यम् । ध्ययघानेनाप्यनुमित्यादिजनके व्याख्याविज्ञाने जनकत्वव्यवहारदर्शनात् । साक्षाद्रसोत्कर्षजनकत्वे सति शोभाजनकत्वं गुणत्वम् । निरूपणमिति । तच्च लक्षणप्रमाणज्ञापनम् । लक्षणप्रमाणभ्यां हि वस्तुतिद्धिर्भवति नान्यथेति । तत्र लक्षणमसाधारणो घर्मः । समानासमानजातीयव्यवच्छेदक वा लक्षणम् । प्रमितिकरणतावच्छेदक च प्रमाणमिति कृतमनल्पजल्पनेन ।

रीतय इति—रीति के प्रवर्तक वामनाचार्य हैं । वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्त्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिक ग्रन्थ में नहीं है । वामन ने रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है । वह रीति है क्या वस्तु ? वामन कहते हैं कि—‘पदों की विशिष्ट रचना ही रीति होती है । पदों में विशिष्टता गुणों के कारण ही आती है अतः रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है । रीति का प्राचीन नाम मार्ग भी है । भामह और दण्डी ने दो ही रीति मानी हैं—बंदर्भी और गौडी । परन्तु वामन और पीछे के आचार्यों ने तीन मानी हैं—बंदर्भी, गौडी और लाटी । गुण इति—गुणों का सर्वप्रथम वर्णन करनेवाले भरत मुनि हैं उन्होंने दश प्रकार के काव्य-गुण बताये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, शोज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति । वामन ने भी इन

गुणों को माना है। परन्तु वह गुणों को दो प्रकार के मानता है—
 नन्द्यत्त तथा अयंगत्त। इन दस गुणों के स्थान पर नामह ने, जो मन्त्रों
 प्रथम प्राचीन प्राचायं हैं, तीन ही गुण माने हैं—माधुर्य, श्रोत्र और
 प्रसाद। इसी मत का अवलम्बन मम्मटादि ने और प्रकृत ग्रन्थकार ने
 भी किया है। वास्तव में पद भी यही ठीक है क्योंकि वामन से स्वीकृत
 ग्य मभी गुणों का तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यह अन्तर्भाव
 ही दिग्याया जाता है। काव्येति—यहाँ काव्य शब्द से उनके अंगीकृत
 गद्य और अर्थ हैं और काव्य का अन्या रमादि है। दोनों का निर्गमित
 लक्षण यह है—परम्परा संबन्ध से रमोन्वपंजनक रीति, और साधान्
 मन्त्र से रमोन्वपंजनक गुण होते हैं। व्यवधान में भी काव्यगुण शर्ती
 है, जैसे कि चतुर्विध के प्रति व्यवहिन व्याख्यादि ज्ञान भी वारण्य माना
 जाता है। निरूपणमिति—लक्षण और प्रमाण का ज्ञापन ही निरूपण
 होता है। लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु की मिति नहीं होती।
 पञ्चाधारण-धर्म या ममानजातीय और अममानजातीय से हटाने वाला
 मन्त्र होता है। प्रमितिय रणता का अवच्छेदक प्रमाण होता है।

(रीतिभेदा)

तत्तद्रसोपकारिण्यः तत्तद्देशसमुद्भवाः ।

भवन्ति रीतयो गौड़ी वैदर्भी लाटिका तथा ॥२॥

तत्तदिति—वीरगृह्णारावमुनादोरप्यं: । सर्वादिमे वाक्यान्कारनिबन्धे
 भाग्येन गौडीयमिश्रमेतसु वैदर्भमितिस्मिपृथक्' इत्यादिना रीतिर्भनाक्-
 शृष्ट्या। उद्भूतवर्णितप्रभृतिभिः परीक्षिता। वामनेनास्या महत्त्व वर्षितम् ।
 गौडीयवर्भंसाटदेशोद्भवं: कविभिः सम्मतराज्यपामभं सजाप्रपम् । वामनो-
 ऽप्याह— गौडीयवैदर्भशिशु वृष्टरवास्तस्यमास्या न पुनर्देशे. विविद्रुपत्रियते
 काश्यानामिति । गौडीयः कुदशेप्रम् । गौडीयानां तस्यैवादिग्रन्थभूमित्वा-
 दित्येतिहायिकाः । नागपुरादिदिदर्भदेशः । मातवात्पदिचमेन साटदेशः ।

तत्तदिति— वामनः गौड़ी वीररस का, वैदर्भी गृह्णार का और लाटी

अद्भुत रस वा उत्पत्ति करती है। पदों के सङ्गठन—रचना को रीति कहते हैं। जिस प्रकार पुरुष अथवा स्त्री की शरीर-रचना देखकर उसके कठिनता, मधुरता, सुकुमारता आदि गुण का ज्ञान हो जाता है और उस देहधारी की विशेषता ज्ञात होती है उसी प्रकार काव्य में रचना से होता है। भामह ने रीति का सवेतमात्र किया है। दण्डी आदि ने भी उस पर विचार किया परन्तु वामन ने काव्य की आत्मा को ही रीति मान कर उसको गौरवान्वित बना दिया। गौड, विदर्भ और लाट देशों के कवियों ने क्रमशः इनको अपनाया है जिससे इनकी तीन ही सजाएँ हो गईं। गौड देश निःसन्देह कुरक्षेत्र-देश है, नागपुर (सी० पी०) आदि विदर्भ, और मालवे से पश्चिम की ओर लाट देश माना है।

(रीतीना लक्षणानि)

गौड़ी दीर्घसमासास्यादनुप्रासान्विता तथा ।

अल्पवृत्तिस्तु वंदर्भी लाटिका मृदुभिः पदं ॥३॥

तत्र—गौड़ी गाडवरव्युत्पत्ति—सहृदयतानिपुणीकृतान्तः करणरेव कविभिर्निर्मिता भव्यतामाधत्ते । यथा मम दुर्गाभ्युदये—

‘यत्पूजनीय-कमनीयपदारविन्द—प्रस्यन्दमानमकरन्दजुषा मराणाम् ।

किंकार्यमार्यकरणीयमनाध्यमास्ते मो साध्यते खलु यदत्र परत्र लोके ॥

यत्तु हर्षचरिते—बाखेन गौडेवक्षरडम्बर’ इत्युक्तं तत्पक्षपात-विजृम्भणम् । गौड़महाकवीनां निबन्धेषु तत्त्वशून्यतायाः केनापि सम्भावयितुं मशक्यत्वात् । अत्र सानुप्रासो दीर्घसमास चमत्कारकारीनाक्षरडम्बरः ।

वंदर्भी नैपथकारेण धोहर्षमिश्रेण ‘घन्यासि वंदर्भि गुणैस्सदारंयथा समाकृष्यत नैपथोर्षि । इत्यादिना व्यञ्जनावृत्त्या बहु प्रशंसिता । तत्र वंदर्भी दमयन्ती रीतिश्च । नैपथो नलः, पक्षे अशंभ्राद्यश्च लक्षणया वा नैपथकारः । उदाहरण तस्यैव—‘चलत्प्रलंकृत्य महारयं ह्यं स वाहयाहो-चितवेशेषलः । प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्षमिष्यंलोकिक लोकेनंगरालय-मंलः ॥ आनन्द-निर्निषेधनेत्रै नगरवासिभिलोकेनलो व्यस्योकि दृष्ट’,

घोहः। वाहस्याश्वस्य वाहे संचारणे उचितो घेनो यस्य सः । स्पष्टमन्यत् ।

अत्र स्वल्प एव समाप्तः धनुप्रासश्च । यथा वा मम दुर्गान्मुदये—

‘मपारसंसारसमुद्रमप्ये निमज्जतां या शरणागतानाम् ।

विनाश्य दुःखान्यक्षितानि कामं दत्ते निकामं भुवि भावुकानाम् ॥

साटिका तु लक्षणैर्नैव कृतबहुप्रशंसैतिकृतमस्याः प्रशंसया ।

शाहरणं नैपथे—

‘नलिनं मलिनं विवृष्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे ।

अपि सञ्जनमञ्जनाञ्जिते विदधाते रुचिगर्वदुविधम् ॥

तदीक्षणे = भंमीनेत्रे, नलिन कमलं, मलिनं शोभाहीनं विवृष्वती ।

पृषती हरिणीमस्पृशती = नेत्रविषयेऽगलपन्ती, अञ्जनाञ्जिते सञ्जनमपि

रुचिगर्वरहितं भुवति । अत्र सर्वाणि पदानि मृदूनि सन्ति । यथा वा मम

मुनतानचरिते काव्ये—

‘निस्त्रचन्द्रवदनाः सदनाति हिरवा सद्यः समीयुरक्षिता महिलाः क्षणेन ।

क्षणेन ह्येण, कानेन वा अपवर्गं मृतीया । अपवर्गः फलप्राप्तिरिति

शोभोदीकारः । समाप्ता रीतिवार्ता गुणाननुवर्तमहे । भोजो गुणान्प्रकृत्याह

‘रीतिमुक्तमपि अर्थं न काव्यं गुणवर्जितम् । अपर आह—‘शब्दाययोर्निबन्धः

वि गुणो यदि न विद्यते । विधीयन्ते न अष्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥

गोक्षीति—दीपं गमाग तथा मानुप्रास रचना को गोदी रीति कहते

है । अल्पगमामत्रो रचना को वेदभी और कोमल-पद-मुक्त रचना को

साटिका रीति कहते हैं । इनमें प्रकाण्ड पण्डितों के रचना करने योग्य

रीति ‘गोदी’ है । उदाहरण—यन्मूत्रनीषेति—भगवतो के पूजनीय तथा

कमनीय पदारविन्द को नेत्रन करने वाले जनों का कौनमा ऐसा श्रेष्ठ

काव्य है जो इस सोर में तथा परमोच में मिद्धि को प्राप्त न हो सके ।

हर्षचरित में बाण ने गोदी की कविता को आठम्बर-सूत्र कहकर पूजा

की दृष्टि में देगा है, वह उगरी अल्पज्ञता है शीघ्र कवि के निबन्धों में लक्ष-

दृग्पता नहीं भी नहीं । उनमें स्वयं हर्षचरित में लक्ष-दृग्घोर मन्त्रे समाप्त

काने अनेक लक्ष दिने है जो धनुपुत्र इगमन्त्ररहने नहीं नहीं दिगाये ।

नैपथकार हर्षमिश्र ने व्यञ्जना वृत्ति से वैदर्भी रीति को पूर्ण प्रशंसा की है। यथा—हे वैदर्भि दमयन्ति तथा रीति । तू धन्य है तूने अपने उदार गुणों से नल के पक्ष में नैपथकार हर्ष को मुग्ध कर दिया है। यहाँ वैदर्भी पद से दमयन्ती और रीति दोनों का ग्रहण है। उदाहरण-चलन्नलमिति—अश्व के ऊपर सुन्दर सगने वाले वेश को धारण करने वाले अश्व पर बँठकर मार्ग में चलते हुए नल को आनन्दपूर्ण निष्पन्द नेत्रों से लोगो ने देखा। दूसरा उदाहरण अपारेति—जो भगवती दुर्गा, अगाध ससाररूपी समुद्र में डूबते हुए तथा शरण में आए हुए भक्तों के सब दुःख हटाकर उनकी सब कामनाएँ पूर्ण कर देती है ॥

लाटिका रीति की तो लक्षण में ही बहुत प्रशंसा हो चुकी है। उदाहरण—नलिनमिति—दमयन्ती के नेत्र कमल को मलिन कर रहे हैं हरिणी (मृगी) को तो नेत्र के विषय में घृणित समझते हैं और अञ्जन से मुक्त वे नेत्र खज्जरीट को भी कान्ति के गर्व से रहित बना रहे हैं। दूसरा उदाहरण निस्तद्व-चन्द्रेति—पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली वे सभी महिलाएँ क्षणमात्र में अथवा हर्षोत्प्रेक में प्रफुल्लित हो वहाँ शीघ्र आ पहुँची। क्षणेन इति—यहाँ फलप्राप्ति में सृतीया है। अब रीतियों की बात समाप्त हुई। गुणों का प्रसङ्ग प्रकृत में है। भोज ने गुणरहित काव्य नहीं माना। अन्य विद्वानों ने भी यही स्वीकार किया है कि जैसे दुग्ध रहित गो ग्राह्य नहीं होती वैसे ही बिना गुण काव्य भी अप्राह्य है।

(गुण-विभाग)

गुणा माधुर्यमोजश्च प्रसादश्चेति ते त्रयः ।

(माधुर्यलक्षणम्)

चित्तद्रवणतारूपाह्लादो माधुर्यमिष्यते ॥४॥

सहृदयसहृदयद्वीभावरूप आनन्दविशेषो माधुर्यम् । यदाहुः काव्यप्रकाश-कृतः 'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणमिति । शृङ्गारादिष्वनुभव-सिद्धमेवाह्लादजनकत्वं सदेव माधुर्यमिति तेषां तात्पर्यम् । तन्न आह्लाद-

जनकत्वापेक्षया लघुन आह्लादत्वस्यैव माधुर्यपदशक्यतावच्छेदकत्वोचित्-
त्वात् । वामनः पृथक्पदत्व माधुर्यमाह । 'असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवि-
तम् । माधुर्यं मुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ॥ इति च वक्रोक्तिजीवितकारः ।

ध्वनिहारोऽपि 'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः । तन्मय
काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठतीत्याह ॥ नामहस्तु 'श्रव्यत्वं माधुर्यस्य
सक्षणमाह । तत्र । श्लोः प्रमादघोरपि तत्सत्त्वेनातिव्याप्तेः ।

गुणों का विभाग करते हैं—माधुर्यमिति—गुण तीन प्रकार के
होते हैं—माधुर्य, श्लो और प्रमाद । माधुर्य का लक्षण—चित्तेति—जिस
में चित्त द्रुन हो जाय ऐसा आनन्द-रिषेय माधुर्य होना है । काव्य-
प्रकाशकार भट्टमम्मट ने आह्लादकत्व = अर्थात् आह्लादजनकत्व माधुर्य
माना है परन्तु वह ठीक नहीं क्योंकि आह्लादजनकत्व की अपेक्षा वेबल
आह्लादत्व को माधुर्य मानने में लाघव और औचित्य है । वामनाचार्य
ने माधुर्य का लक्षण लम्बे-लम्बे समान न रत कर पदों का अलग-अलग
रचना बताया है । वक्रोक्तिकार ने समासरहित सुन्दर पदों वाले मुकु-
मार मार्ग का गुण 'माधुर्य' कहा है ।

ध्वनिकार ने शृङ्गार को परम मधुर रस माना है । जहाँ शृङ्गार
है वही पर माधुर्य गुण रहता है, ऐसा भी कहा है । आचार्य भामह ने
सुश्रव्यता ही माधुर्य गुण माना है, पर वह ठीक नहीं क्योंकि सुश्रव्यता
तो श्लो और प्रमाद गुण में भी रहती है ॥४॥

संयोग-करणादिषु क्रमात्प्रावत्यमस्य हि ।

अस्य माधुर्यम्, कदरुणादीत्यादिना विप्रसम्भशान्तयोः परिग्रहः ।
हास्यादेरपगमेर्नपु समस्तः प्रावः-र्य सम्भयति । संयोगादिशब्दा उपलक्षणानि
तेन सम्भोगाभासादित्यपि माधुर्यस्य स्थितिनिर्वाधा । सम्भोगादिषु च ययो-
त्तारमुत्कर्षजनकत्वं साहृदयहृदयावर्जनात् ।

(श्रीश्लोकशरणम्)

चित्तयिस्तुतिरूपा हि दीप्तश्लोः प्रकीर्तितम् ॥५॥

दीप्तत्वमोजः । तच्च चित्तस्य विस्ताररूपम् । चित्तविस्तारो वीरादि-
रसास्वादेन जायमानश्चमत्कारोद्बोधः । काव्यप्रकाशकृन्मभ्रमटः—चित्तवि-
स्तररूपदीप्तत्वजनकमोज इत्याह । तदसन् । वीरादिरसेभ्यो जायमानदीप्त-
त्यस्यैवोजः । स्वीकारेणोपपत्तौ तज्जनकत्वरूपधर्मन्तरकल्पने गौरवात् ॥५॥

संयोगेति—सयोगादि माधुर्यं वा विषय है । सयोग शृङ्गार,
करण, विप्रलम्भ, शान्त रसो मे क्रमशः माधुर्यं बढा हुग्रा रहता है
क्योकि यहाँ हास्यादि नहीं रहते । सयोगादि शब्द यहाँ उपलक्षण है अत
सयोगाभासादिकों में भी माधुर्यं निर्बाध रहता है । सयोगादिकों में
माधुर्यं की यद्योत्तर उत्कर्षजनकता रहती है । उसमें सहृदयो का हृदय
ही प्रमाण है ।

चित्तइति—चित्त की विस्तृतिस्वरूपा दीप्तता ही भोज कही गई है
वह दीप्तता चित्त-विस्तृति से अभिन्नरूपा है । चित्त की विस्तृति वीरादि
रसों के आस्वाद से जायमान जो चमत्कारोद्बोध है वह तद्रूपा है । काव्य-
प्रकाश में चित्तविस्ताररूप दीप्तत्वजनक ओज का लक्षण माना है पर वह
ठीक नहीं क्योकि दीप्तत्व को ही भोज मानने में लाघव है ॥५॥

क्रमेणाधिकता चास्य वीरेवीभत्सरोद्बोधोः ॥

अस्येत्योजसः । वीरे जिगीषेव, वैरिघ्नीकरणमात्रस्योद्देश्यत्वात् ।
वीभत्से जुगुप्सितविषये तितिक्षा । रौद्रे त्वपकारिणि जिघासेतिसुतरा क्रमशो
दीप्तेराधिक्यम् । पूर्ववद्वीरादिशब्दानां वीराभासाद्युपलक्षणत्वमवधेयम् ।

(प्रसाद-लक्षणम्)

व्याप्तो भवति यश्चित्तेऽनलः शुक्लेन्धने यथा ॥६॥

अग्निर्यथाशुक्लेन्धने व्याप्तो भवति तद्वद्यश्चित्ते स प्रसादः ॥६॥

क्रमेणेति—भोज की वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से
अधिकता होती चली जाती है क्योकि वीर में जिगीषा, वीभत्स में तितिक्षा
और रौद्र में जिघासा होती है । यहाँ भी वीरादि शब्द वीराभामादि
के उपलक्षण हैं ।

प्रमाद वा लक्षण कहते हैं व्याप्तो भवतीति—जैसे मूखे इन्धन में धनि मट में व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार जो गुण चित्त में तन्काल ध्यात हो जाय उसे प्रमाद कहते हैं ॥६॥

स प्रसादो मतो धीरैः सर्वत्र कृतसंस्थितिः ।

सर्वत्रेति । रमेषु रचनासु चेत्यर्थः । रचनापक्षे सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पृथङ्भाव इति भाष्यात्पुत्रद्वारावः । तत्र धीररौद्रादिषु शुक्लेन्द्रनाम्निवत् । पृथङ्भावरूपादिषु सिताया स्वच्छजलवदिति विशेषः । स्थितिश्चास्य रसे-
ष्वापेक्षया रचनासु च व्यङ्ग्यतयेति विवेकः ।

एषां शब्दार्थनिष्ठत्वं गुणवृत्त्या मतं बुधैः ॥७॥

एषां=माधुर्वादिगुणानां, शब्दार्थनिष्ठत्वं=मधुरः शब्दो मधुरोऽर्थ-
निष्ठव्यवहारो गुणवृत्त्योपचारादेव । आत्मगुणानां शौर्यादीनां शरीरनिष्ठ-
त्वमिव । आत्मनिष्ठस्य मुक्तादेर्मम देहः मुक्तोत्येवं शरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भ-
इव वा शरीरस्यैव मुक्ताद्यधिकरणतायच्छेदकत्वात् । अर्थात्—माधुर्वादि-
गुणानां रसैरनिष्ठत्वेऽपि परम्परासंबन्धेन रसाभिव्यञ्जकशब्दार्थनिष्ठ-
त्वम् । यत्तु-रसगङ्गापरकारेण 'शब्दार्थयोरपि माधुर्वादिः सत्त्वाद्युपचारो न
कल्प्य इत्युक्तं, तदमतु । क्वचिन्नीरसे शब्दार्थयोः सत्त्वेऽपि माधुर्वादिरनुप-
गमनात् । रसान्वयश्च निरेकानुविधायित्वेन रसधर्मत्वकल्पनस्यैवोचित्यात् ।

यच्च तेन दृष्टान्तभूतास्य आत्मनो निर्गुणत्वात्तत्र गुणानां स्थितिरनु-
चित्तवेनि प्रसक्तिं, तदपि न विचारयत्म् । येदान्तरयेऽपि व्यावहारिकस्या-
त्मनः सगुणत्वान् । अतएव ग्याये सैदोदिके आत्मनो गुणाः स्थोत्रियन्ते ।
प्रतिपादितं चैतदस्मान्निर्गामप्रवृत्तौ विस्तरेण । अथमत्र विवेकः 'गुणाः
शौर्यादिषु निरङ्गमस्थाविशेषवत् । हारादिबदमशूरा बोधा वधिरता-
दिषु ॥७॥ ननु कामनादयः श्लेषः प्रमादः समता माधुर्यं मुहुमारता ।
अर्थव्यतिरिक्तहारत्वमोत्र काग्निगमापय ॥' इति दशमस्कन्धश्लोक-
व्याख्येण गुणानामनन्ति कथं भवता प्रत्येव मता इत्यादिवाक्यात्—

यद् गुण मयस्तु रसो धीर मधुरं रचनासो मे ररुज है । यदा

रचना-यक्ष में—‘सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भावः’ इस भाष्य-ग्रामाण्य से पुवद्भाव हो गया। यहाँ यह भी विशेष द्रष्टव्य है। वह प्रसाद, वीर, रौद्रादिको में शुष्केन्धन में अश्विवत् और शृङ्गार-वृत्त्यादिको में सित्तादि में स्वच्छ जलवत् आविष्ट हो जाता है। प्रसाद, वीर रसो में स्थिति आधेयतासंबन्धेन और रचनाओं में व्यङ्ग्यतासंबन्धेन रहती है।

एवामिति—इन माधुर्यादिको को शब्द अथवा अर्थ का गुण लक्षणा वृत्ति से माना जाता है जैसे मधुर शब्द मधुर अर्थ। जिस प्रकार शौर्य आत्मा का ही धर्म है परन्तु कभी-कभी इसके आकार में ही वीरपना है ऐसा लाक्षणिक प्रयोग होता है। अथवा आत्मनिष्ठ सुखादि का ‘मेरा देह सुखी’ है इस प्रकार शरीरगतत्वेन उपताम्ब होता है अर्थात् शरीर को ही सुखादि के अधिवरणता का अन्वयेदक होने से। माधुर्यादि गुण यद्यपि रस में रहते हैं तथापि परम्परासंबन्ध से रसाभिव्यञ्जक शब्दार्थ में भी रहते हैं। रसगङ्गाधरकार ने उपचार को नहीं माना, यह गलती है। नीरस में शब्दार्थ हैं गुण नहीं और जो दृष्टान्तभूत आत्मा को निर्गुण मान कर उसमें गुणों की स्थिति का अनौचित्य रसगङ्गाधरकार ने कहा है, वह भी गलत है, क्योंकि वेदान्त में भी व्यावहारिक आत्मा को सगुण माना है। इसीलिए न्याय और वैशेषिक भी आत्मा को सगुण मानते हैं। यहाँ यह निष्कर्ष है—गुण माधुर्यादि शौर्यादिवत् हैं, गोडी आदि रीतियाँ अङ्गरचना के सदृश, उपमा आदि अलंकार हारादि के तुल्य और दोष-वधिरता (वहरापन) आदि के समान हैं ॥७॥

प्रश्न—वामनादि पण्डितों ने श्लेषादि दश शब्दगुण और दश ही अर्थगुण माने हैं फिर तुमने उनसे विरुद्ध तीन ही कैसे माने ? उत्तर—

त्रिष्वेवान्तर्भवन्त्यन्ये दोषहानाच्च केचन ।

भजन्त्यन्ये सदोषत्वं कापि तस्मात्त्रयो मताः ॥८॥

अथमर्थ—वामनोक्ता दशगुणास्त्रिषु व्यतिष्ठन्ते । तथाहि—इतेशो-
दारताप्रसादसमाधोनाभोजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भावः । चतुर्णांशेषेण

गाढबन्धतया दीप्तिहेतुत्वात् । माधुर्यन्तु तेषामस्मदभ्युगतमाधुर्यव्यञ्जक-
मेव । समता तु सर्वत्रकहपा दोषः प्रतिपाद्योद्भूटत्वानुद्भूटत्वाम्यामेकस्मिन्नेव
पद्ये मार्गभेदस्येष्टत्वात् । अन्यया वक्तृवाच्याद्यौचित्येन रचनाद्यौचित्यं
नग्येत । प्राम्यत्वकृष्टत्वदोषयोस्त्यागात्कान्तिसौकुमार्ययोगंतायंता ।
कान्तिसुकुमारते लक्षिते भोजेन—‘यदुज्ज्वलत्वं वन्द्यस्य काध्ये सा कान्ति-
रच्यते । अनिष्टुराक्षरप्राय सुकुमारमिति स्मृतम् ॥

प्रसादगुणेन चार्यव्यक्तैः प्रसादस्य तद्व्यञ्जघत्वादिति । एवमर्थ-
गुणाना मध्ये श्लेषभोजोभेदाश्च वंचिन्यमात्ररूपा रसोपकारित्वातिशय-
विरहान् । अन्यया प्रनिष्प्लोक्मयंवेचिन्याद्गुणभेदापत्तेः । प्रसादमाधुर्य-
सौकुमार्योदारतासमता साभिप्रायत्वात्मकोज-प्रकारार्यव्यक्तिकान्तपश्चान-
योः कृतत्वा मङ्गलरूपाश्लीलप्राम्यभग्नप्रक्रमादिदोषाणां त्यागेन स्वभावोक्तज-
तङ्कारस्य रसध्वनि-रसवदलंकारयोश्च स्वीकारेण गतार्याः । समाधिरपि
न काव्यगुणोऽपि तु काव्यशरीरमाप्रनिर्वर्तकः । भामहेनापि—‘माधुर्यमभि-
वाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेघसः । केविदोत्रोऽभिधित्तन्त’ इत्येवं त्रय एव
गुणा उपादीयन्ते ।

त्रिव्रित्ति—बृहद्गुणो वा बृहद्दोष त्यागसे और दुष्ट होने से तीन
में अन्तर्भाव हो जाता है । श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद ये सब औज-
से अन्तर्गत हो जाते हैं, क्योंकि चारों ही गाढबन्ध होने से दीप्ति के
कारण हैं । उनमें स्वीकृत माधुर्य हमारे माधुर्य का व्यञ्जक है ही । मार्ग-
भेदम्यत्वा समता वहाँ दोष हो जाती है अर्थात्—जहाँ उद्धत अर्थ है
वहाँ कोमल रचना रूपिन है प्रनिवाचार्य के प्रोड और अप्रोड होने पर
मार्ग-भेद करना आवश्यक है अन्यथा वक्ता और वाच्यार्थ के औचित्य से
जो रचनादि का होना माना जाता है उस निदान्त का भङ्ग हो
जायेगा । प्राम्यत्व और कृष्टत्व दोष के त्याग से कान्ति और सुकु-
मारता गुरु दृशित होने हैं ।

अर्थव्यक्ति नामक गुण की प्रसाद नामक गुण में गतार्थता स्पष्ट है ।
इन प्रकार दश वाच्यगुणों का अन्तर्भाव दिगाकर अब दश अर्थगुणों

का अन्नर्भाव दिखाते हैं—एवमयंगुणानामिति—श्लेष और भोज के भेद वैचित्र्यमात्र हैं, गुण नहीं क्योंकि उनमें कोई रसोपकार नहीं होता। केवल अर्थवैचित्र्य से गुणता नहीं आती। प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, समता साभिप्रायक भोज, अर्थव्यक्ति और कान्ति, नामक गुण अन्नवीकृत, अमङ्गलरूपाश्लील, ग्राम्य, भग्नप्रक्रमादि दोषों के त्याग से स्वभावोक्ति अलङ्कार, रमध्वनि और रसवदनकार के स्वीकार से गतार्थ हैं। समाधि भी कोई गुण नहीं। इस प्रकार भामहादि ने तीन ही गुण माने हैं ॥८॥

(माधुर्यादिगुणव्यञ्जका भामासादय)

श्रुतिरल्पवृत्तिर्वा माधुर्ये धटना मता ।

असमासा अल्पसमासा वा रचना माधुर्ये भवति, यथा नेवधे—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथा तथाद्वियन्ते न बुधा सुधामपि ।

नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल स राशिरासीन्महमा महोज्ज्वल ॥

क्षितिरक्षिणो भूपालस्य यस्य नलस्य कथाः प्रजापालनादिरूपा निपीय श्रुत्वा बुधा सुधामपि तथा नाद्वियन्ते न मन्यन्ते स सितच्छत्र श्वेतातपत्र कृत कीर्तिमण्डल येन स नलो महोज्ज्वल शुचिमहसा तेजसा राशिरासीत् । अत्र पूर्वार्धे समासाभाव उत्तरार्धे त्वल्पसमासः । यत्त्वत्र रसगङ्गाधरकारेण लोलालकावलीति' मुदामुदाराभुञ्जासपन्तु परितो हरितो भुञ्जानि इत्यादि च पद्यद्वयमुदाहृत तत्र मधुरम्, तत्र लीलेति मुस्लेति च पद्याशद्वयस्य व्रीडाजुगुप्साव्यञ्जकत्वेन सन्धावश्लीलदोषदुष्टत्वात् । यदपि च तेन तत्तद्गुणरचनपरिचयार्थं किमपि व्रजेनीयत्वमुक्त तदपि न विचारसहस्र । स्वकपोलकल्पितनियन्त्रणस्य कव्यसम्मतत्वात् । अथ च शृङ्गारे रेफघटितसयोगस्यासकृत्प्रयोग स व्रजेनीयमाह । परन्तु स्वयं तिर्यगप्रीव चन्द्राक्षीत्तन्निष्पन्नाकरोज्जगत्' इति प्रायुक्त किं च स एव सवर्णाना स्वा-नन्तर्यं किञ्चिदश्राव्य दोषमाह । परन्तु स्वयं मुदित च सकलतत्तनाचूडा मणीति प्रयुक्तवान् ।

समासस्य च बाहुल्यं रचना विकटौजसि ॥६॥

प्रोजोगुणे समामप्राचुर्यमुद्भूटरचना च यथा—

‘उद्भूत मत्त दैत्येन्द्रहत्यावित्तनखोद्भूटः ।

दंष्ट्राकटकटाकारकूरत्वपत्रोऽप्रसाद्विभुः ॥

उद्भूतस्य निर्मर्षादस्य मत्तदैत्येन्द्रस्य = सगर्वहिरण्यकशिपोर्हत्याया
विता निपुणा ये नखास्नरुद्भूटः । दंष्ट्राया कटकटाकारेण, दशोः ष्टु
प्रसादित्वाद्वाप् । प्रजादिराकृतिगणः तेन ‘नमुने’ इति सूत्रे टायामादेश
नि भाष्यप्रयोग सगच्छते । विभुर्निहोऽवताद्रक्षत्विति प्रार्थने लोट् ।
नृमहस्य नखानामुद्भूटत्व दंष्ट्रायाः कूरत्व च तंतिरीयश्रुताबुक्तम्—
‘व्यनसाय विघ्ने तोदणदंष्ट्राय घीमहि नरसिंहः प्रचोदयात् ।

अवृत्तिरिति—विलकुल समास न होना अथवा घोटा समाम होना
पात्रुं गुण की रचना मानी है । उदाहरण—निपीयेति—जिम राजा
नम की प्रजापालनादि कथाओं का पान कर विद्वान् अमृत को नी
तनुष्य आहन नहीं करते कीर्तिममूह म्पी दवेनन्दयधारी वह नम महा
सेजम्बी घोर महान् शृङ्गारी था । यहाँ पूर्वार्थ में ममाम का सर्वथा
अभाव घोर उत्तरार्थ में घोटा समाम है । यहाँ मधुर रचना के दा
उदाहरण रमगद्गापरकार ने दिये हैं । परन्तु वे दोनों ही उदाहरण ठीक
नहीं, क्योंकि सन्धि होन पर वे अश्लील हो जाते हैं । घोर जो रमगद्गापर
कार ने उत्तद्गुणों की रचना के निय कुद्द वर्जनीय दोष बताये हैं—वे
भी ठीक नहीं क्योंकि प्राचीन आचार्यों के मन्त्र के बिना स्वकल्पित दोष
मान्य नहीं हो सकने । देखिये रमगद्गापरकार ने शृङ्गार रम में रेफ-
घटित्त नयोग का दो या तीन बार योग करना दूषित माना है परन्तु स्वय
उनको बताते हैं यथा ‘घोडात्रा’ घोर मजगुं बलों का अपने में घाये होना
के अथर्व्य दोष बतलाते हैं परन्तु स्वय ‘सकलतमना’ ऐसा निगते हैं ।

समासस्येति—समाम की अपिचना घोर उद्धत रचना प्रोजोगुण
में प्राप्तकर है ।

उदाहरण—उद्धृत इति—निर्मण्यदि और मदोन्मत्त जो दैत्येन्द्र (हिरण्यकशिपु) उसकी हत्या करने में निपुण जो नख उनसे कठिन द्रष्टा के कटवटात्कार से क्रूर है मुख जिसका वे भगवान् नृसिंह रक्षा करें। यहाँ ओजस्विनी घटना है। नृसिंह के नखों की तीक्ष्णता और द्रष्टा की क्रूरता तत्तिरीय श्रुति में भी वर्णित है। देखिये जो अस्तारवाद को केवल पौराणिक मानते हैं वे परास्त हैं क्योंकि वेदों में भी पद पद पर अस्तारवाद का वर्णन हुआ है। इतिहास जैसे ब्राह्मण-भाग में है वैसे मन्त्र-भाग में भी पर शत स्थलों में प्राप्त होता है।

प्रसादे रचना ज्ञेया श्रुतमात्रार्थबोधिका ।

शब्दभ्रवणान्तरमधिलम्बेनार्थबोधयित्री रचना प्रसादस्य । यदाह वक्रोक्तिजीवितकारः अथलेशवपक्षिताकृत भट्टित्यर्थसमर्पणम् । दण्डोत्वेन मेवं प्रशंसति—‘अथ सर्वरसव्यापी काव्यजीवातुरिष्यते । अनेन न विना सत्य स्वदते काव्यपद्धतिः ॥ रसगङ्गाधरकारेण—‘विन्तामोलितेत्युदाहरणे ‘मुग्धे’ इति द्वयर्थपद प्रयुक्तं तन्न मन प्रसादकरम् । तस्य सदिग्धतया श्रुतमात्रेणार्थबोधजनकत्वाभावात् । यद्यपि च—वाचा निर्मलया सुधामधुरया या नाथ, शिक्षामदा’ इति पद्यमुदाहृतं तत्रापि च ‘शिक्षामदा’ इत्यादिपदानां कुसम्बिधा भ्रमजनकत्वात् प्रसादकत्वम् । यतोऽत्र स्व शिक्षाम्’ अदा इति छेदं विना श्रुतमात्रतोऽर्थबोधो न भवति । प्रयुतं शिक्षाया मदा—शिक्षामदा इत्यर्थो भट्टिति प्रतीतो भवतीति सूक्ष्मदृश्यावसातव्य प्रसादगुणगुम्फनचातुरीधुरीणं । अयन्तु मदीयः श्लोकस्तत्प्रसादात्मक उदाहरणमर्हति भवितुम् ।

पण्डितेन्द्रो जगन्नाथशर्मा निर्माणकौशलात् ।

रसगङ्गाधरं कृत्वा रसगङ्गामवाहयत् ॥

अवाहयदिति = देशदेशान्तरस्य विद्वत्सु प्रापयत्’ देशान्तरप्रापणं बहेर्यं इति भाष्योक्तः । अकर्मका अपि यं सोपसर्गा ण्यत्तःश्च सर्वमहा भवन्तीति भाष्यकं यदयो ।

वचत्राद्यौचित्यतः कापि भिन्ना हि रचनादयः ॥१०॥

रचनादीनां गुणव्यञ्जकत्वनिमित्तं श्रौतसंगिकः वचनवाच्याद्यौचित्येन क्वचिदन्यथावचनस्यापीष्टत्वात् । तथाहि कस्याया रौद्ररसेऽपि नात्यन्त-मुदना रचना कर्तव्या वरुणीपस्य सुखप्रतिपत्तेरद्देश्यत्वात् । नाटकादौ शौरादिरमेऽपि न दीर्घममामो विधेयो नाटकादेः सर्वसाधारणार्थं क्रियमा-रत्वात् । उत्तररामचरित, धर्मधराधवादिषु त्वेष दोषः प्रचुरो वरिर्वाति । प्राज्ञापिकाया शृङ्गाररसेऽपि न कोमलवर्णा प्रयोक्तव्याः तस्या हि गण्य प्राधान्याद् गद्ये च विकटवर्णत्वस्यैवान्यहितत्वात् ।

सर्वमेतदनुगन्धार्थं निबद्धव्यमिति तात्पर्यम् । 'अनुगन्धानशून्यस्य रूपेण रूपपायते' इति काव्यमीमांसाया राजशेखरोक्तेः । 'स्थाने निवेशितं सर्वं तनुने रमणीयताम् । अस्थाने तु न तद्भाति मेखलेव गणे कृता ॥' इति कविकण्ठाभरणे क्षेमेन्द्रोक्तेश्च । यत्त्वर रसगङ्गाधरकारेण—'रचनादीनां गुणव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वमित्युक्तं तदयुक्तम् । 'गुणाना-श्रियं निष्ठन्ती माधुर्यादीन् द्यनक्ति सा रमास्तश्रियमे हेतुरौचित्यं वचन-वाच्ययोः ॥ इतिष्वनिहारोक्ति विरोधान् । मह्यप्र ध्वनिकारविच्छेदा वाच प्राश्रियने वाचस्पनेरपि । यदपि च तेन वर्णाना—यदवावसान्तर्गतत्वेन रसभक्तनावच्छेदक-शोचिप्रविष्टत्वमेव नतु स्वातन्त्र्येणोक्तं तत्र । हर्षादि-निर्वर्णानां स्वातन्त्र्येण व्यञ्जकताया अङ्गीकारान् ॥१०॥

प्रसाद-गुण की रचना ऐसी होनी चाहिये, जिसमें शब्द-श्रवण-मात्र से ही धर्म का ज्ञान हो जाय किन्तु बलेश के अनिश्चय जाना जाय, एकदम धर्म का ज्ञान हो जाय, यह वशोक्तिहार का कहना है । दण्डों के मत में तो प्रसाद ही काव्य का जीवन है । रसगङ्गाधरकारने—इसके उदाहरण में 'मुग्धे' पद निम्ना है वह सन्दिग्ध होने से ठीक नहीं है । दूसरे उदाहरण में 'शिशामदा' लिखा है वह भी ठीक नहीं क्योंकि यहाँ भी धर्म होना की पूर्ण सम्भावना है । अतः प्रसादक उदाहरण नहीं । पहले से मुग्धा पद और दूसरे में 'शिशामदा' मन्देहरणक है । शिशामदा—

यहाँ पर 'त्व शिक्षाम्-प्रदा' इस छेद के बिना श्रवणमात्र से अर्थबोध नहीं होता। प्रत्युत शिक्षायामदा शिक्षामदाः, यह पष्ठी समासार्थ का भान एकदम हो जाता है जिससे दिन की रात हो जाती है। यह हमारा श्लोक जिसमें पण्डित-राज की ही प्रशंसा है—प्रसाद का उदाहरण हो सकता है। पण्डितेन्द्र इति—पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने निर्माण-चातुर्य से रमगङ्गाधर को बनाकर संस्कृत-संसार में रसगङ्गा बहा दी। इस पद्य में प्रसाद-गुण का चमत्कार साक्षात् दृष्टिगत हो रहा है ॥

वक्रादीति—कही-कही वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य से रचना आदि का परिवर्तन हो जाता है अतएव रचनादि का गुण-व्यञ्जकत्व नियम गौण है क्योंकि कही पर उसका अन्यथा होना भी दृष्टिगत होता है। जैसेकि कथा में रोद्र रस में भी रचना उद्धत नहीं होती क्योंकि वर्णनीय वस्तु का सुखपूर्वक ज्ञान होना आवश्यक है। नाटकादि में वीरादि रस में भी लम्बे समास नहीं किये जाते क्योंकि नाटक सर्वसाधारण के लिये बनाये जाते हैं। लम्बे समासों का ग्रथ्य समझने में विलम्ब होता है। उत्तररामचरितादिको में यह महानु दोष है। आख्यायिका में शृङ्गार रस में भी कोमल रचना नहीं होती क्योंकि उसमें गद्य होता है। गद्य में विकट वर्ण होने चाहिए।

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने कहा है—सब-कुछ अनुसन्धानपूर्वक ही निबद्ध करना चाहिये। जैसाकि अनुसन्धान से रहित वस्तु भ्रूषण भी दूषण हो जाती है। यही बात कवि-कण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र ने कही है—सब वस्तुएँ अपने अपने स्थान में ही रखी हुई शोभित होती हैं अस्थान में नहीं, जैसे गले में पहनी हुई मेखला शोभा नहीं देती। रसगङ्गाधरकार ने—रचनादि का गुणाभिव्यञ्जन करना ही स्वीकार किया है रसों का नहीं पर ध्वनिकार की उक्ति से विरुद्ध यह प्रयुक्त है। ध्वनिकार से विरुद्ध ज्ञान साहित्यशास्त्र में नहीं मानी जाती ॥१०॥

इति साहित्यविन्दु के चतुर्थं बिन्दु की टीका ।

अथ पञ्चमो विन्दुः

(अलङ्कार-सामान्य-लक्षणम्)

काव्यशोभाकराः प्रोक्ता अलङ्कारा मनीषिभिः ।

ते मयाद्य प्रदर्शयन्ते शब्दस्वार्थस्य भेदतः ॥१॥

काव्यशोभा—काव्योत्कर्षः, काव्यशब्देन काव्यशरीरभूतो शब्दार्थो काव्यात्मभूतो रसश्च बोध्यः । तेन विना काव्यत्वानङ्गीकारात् । यदुक्तं श्रीरघुवररिते महत्त्वेन—‘तैस्तैरलङ्कृतिशतैरवतंसितोऽपि हृदो महत्यपि पदे पृततौष्ठवोऽपि । नूनं विना घनरसप्रसराभियेक काव्याधिराजपदमहंति नो प्रबन्धः ॥

तत्र गुणाः साक्षात्संबन्धेन रसमुत्कर्षयन्ति । अलङ्कारास्तु—परम्परा-संबन्धेनेति भेदः । गुणापेक्षयाऽलङ्कारा बहूत्कर्षयन्ति काव्यमिति चन्द्रालोक-चारोत्तिस्तु सर्वानुभवविद्युत्त्यादुदुरापहप्रस्तयेति बोध्यम् । अलङ्कियतेऽने-नेति बरलण्यु-पत्याऽलङ्कारशब्दः शब्दार्थोभयालङ्कारबोधकः । शब्दार्थ-गतत्वनिर्णयस्त्वन्वयव्यतिरेकान्यामेव । रसगङ्गापरे—‘हृदये सत्यु-परकारकत्वमसकारसाध्यान्वयलक्षणमुक्तम् । तत्रोपसृष्टारकरोत्तिर्व्यर्था हृदयमात्रग्यंवात्कारसंज्ञावेनोपपत्तेः शब्दादिष्वस्य लक्षणकारैरप-हृगितत्वाच्च ।

हृदयं च—समाहारजनकत्व, समकार ध्यानप्रविशेषः सहृदय-हृदयप्रमाणकः । घनएव साहित्यसारे—घनकारणामान्यलक्षणमिद-मुक्तम्—

‘रसादिभिर्प्रत्ये शरविशेषध्वलोत्तरम् ।

समाहारकत्वञ्च घनकारणत्वमत्र तनु ॥

साहित्य इत्येव लक्षणमेवमात्मनोऽस्ति—

साहि शब्दार्थाभ्यन्तरनिष्ठा वा द्विव्यतिनासांशुशब्दनिष्ठा समगृहि ।

वन्द्येदकता तदवच्छेदकत्वमलंकारत्वमिति । लक्षणमिदं कण्ठस्यकरणाप
परिष्कृत-लक्षण-समन्वयो विस्तरभिषा न कृतः । कुवलयानन्दचन्द्रिकाया
द्रष्टव्यः ।

अथ अलंकारो का निरूपण करते हैं—काव्यशोभाकरा इति—काव्य
की शोभा को बढ़ाने वाले अलंकार कहे जाते हैं । वे तीन प्रकार के होते
हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार । अलंकार-काव्य की
आत्मा 'रस' का उत्कर्ष करते हैं । काव्य शब्द से काव्य की आत्मा
'रस' लेना चाहिये, क्योंकि उसके बिना काव्यता नहीं होती । जैसेकि
श्रीकण्ठचरित में मह्व ने लिखा है—अलंकारो से अलंकृत होने पर और
पूर्ण सौष्ठव रखने पर भी रस के अभाव में महाकाव्यता नहीं आती ।
काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही समकक्ष होते हैं ।

गुण साक्षात्संबन्ध से और अलंकार परम्परासंबन्ध से रस का
उत्कर्ष करते हैं । 'गुणों की अपेक्षा अलंकार अधिक उत्कर्ष-जनक हैं' यह
चन्द्रालोककार की उक्ति दुराग्रहयुक्त होने से उपहसनीय है । यहाँ अलं-
कार शब्द करण व्युत्पत्ति से शब्द, अर्थ और उभयालंकार-बोधक है ।
अलंकारों का शब्द और अर्थ में रहने का निर्णय, अन्वय और व्यतिरेक
करता है । तत्सत्त्व से तत्सत्त्व अन्य तदभाव में तदभाव व्यतिरेक
होता है । रसगङ्गाधरकार ने—हृद्य होने पर जो उपस्कारक हों यह
अलंकार सामान्य का लक्षण लिखा है वह ठीक नहीं क्योंकि हृद्यत्वमात्र
ही अलंकार-लक्षण पर्याप्त है ।

हृद्यता चमत्कारजनकता मानी गई है । चमत्कार यहाँ आनन्द-
विशेष माना जाता है, वह महदयो के हृदय से प्रमाणित होना चाहिये ।
इसीलिये 'साहित्यसार' नामक ग्रन्थ में अलंकार का सामान्य लक्षण
निम्नलिखित माना गया है—रसादिकों के भिन्न होने पर शब्द-विशेष
मुनने के बाद जो चमत्कार जनन करे वही अलंकार है । तार्किक लोग
इसी लक्षण को इस तरह परिष्कृत कर देते हैं—रसादि से और व्यङ्ग्य

से भिन्न होने पर शब्द और अर्थ में होने वाला जो विषयिता सबन्ध से अकारजनवतावच्छेदकत्व उसका धर्म अवच्छेदक अलकारत्व है ।

(शब्दालकाराः)

चित्र-वक्रोक्तचनुप्रास-गूढ-श्लेष-प्रहेलिकाः ।

प्रश्नोत्तरं च यमकमष्ट शब्दगताश्च ते ॥२॥

शब्दगताः—शब्दमात्रनिष्ठाः । चेत्तु वपंशोक्तभाषासमस्य संप्रहः । तदाऽलकाराणां परामर्शः । बुद्धिस्थविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मा-
वच्छिन्ने तदादीनां शक्तेः । सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वाच्च
प्राधान्यं चात्रालकाराणाम् ।

अब सब से पहले शब्दालकारों का विभाग करते हैं—चित्रेति—
चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और यमक;
ये साठ अलकार केवल शब्दनिष्ठ हैं । यहाँ चवार अनुक्त समुच्चयक है
उभये साहित्यदर्पण में प्रोक्त 'भाषासम' अलकार का ग्रहण करना
चाहिये । यहाँ तत् शब्द से अलकार लिये जाते हैं क्योंकि तदादि शब्दों
की बुद्धिस्थ में शक्ति रहती है । सभी सर्वनाम स्वभावतः प्रधान के ही
परामर्श करने वाले होते हैं यह भी बात है, प्रधान यहाँ अलकार हैं ।

(चित्रवाच्यलक्षणम्)

तच्चित्रं यत्र यर्णा हि सङ्गाद्याकारकरणम् ।

यत्र रचनाविशेषेण यर्णाः सङ्गाद्याकारं प्रकाशयन्ति तच्चित्रमलंकारः ।
नच शृङ्गाराद्यनुप्रासस्यास्य वाच्यत्वमप्यमलंकारत्वमिति शक्यनीयम् ।
अपिप्रतिभाप्रकाशनेन यमकाराभासजनकत्वात् । अद्भुतरसोपकार-
कशङ्गाद्यलंकारयोःपत्तेरिति तदलंकारत्वमप्युच्यते । अथ बहुभेदादलंकारे
दृष्टव्याः सङ्गाद्यलंकारत एवोदाहरिते—

'यारारि शक्र-रामेभुर्नरात्ताररुगा ।
तारारुपात्तवा विष्य तदातिहरत्तमा ॥

माता नताना सघट्ट श्रिया बाधितसध्रमा ।

मान्याथ सोमा रामाणा शं मे दिश्यादुमादिमा ॥

आदिमा आद्यशक्तिरुमा मे मूह्य श मुख दिश्याद्दद्यात् । आसाररहसा
वृष्टिवेगवन्नित्यमारब्धस्तवा, सारा श्रेष्ठा, नताना प्रणतानां माता
रक्षिका, श्रिया सघट्ट सर्वश्रीः । स्पष्टमन्यत् । कण्ठ काव्यमेतदिति
दिडमात्रमेवोदाहृतम् ।

तच्चित्रमिति—जिसमे वर्ण—खड्ग, मुरज, चक्र, गोमृत्रिका आदि
के आकार का प्रकाशन करें वह चित्र अलंकार होता है । यद्यपि चित्र
के वर्ण वास्तविक चित्र नहीं हैं तथापि लक्षणा द्वारा उनमें गौण रीति से
शब्दालंकारत्व माना जाता है । शका—यह चित्र शृङ्गारादि रस का
उपकारक तो नहीं है फिर इसमें अलंकारता कैसे ? उत्तर—कवि प्रतिभा
का प्रकाशन करना ही इसमें चमत्काराभास रहता है । इसके अनेक भेद
मद्रतालकार में देखें, खड्गबन्ध का उदाहरण वही से भारारीति—शिवादि
में नित्यस्तुत भक्तारक्षिका सर्वोपरि आद्यशक्ति उमा हमारा कल्याण करें ।
यह काव्य अति कठिन होता है अतः उसको स्वल्प ही उदाहृत किया है ।

(वक्रोक्तिनक्षत्रम्)

वक्रोक्तिः श्लेषतः षाक्का परस्यार्यस्य कल्पना ॥३॥

श्लेषेण षाक्का षान्मार्यप्रकल्पन वक्रोक्तिरलंकार । वक्रा—वदन्त्य-
भङ्गिपूर्णा उक्तिर्भणितिर्यत्र सेति यावत् । एवमेव महिमाऽह—प्रसिद्ध
मार्गमुत्सृज्य यत्र वदित्यपसिद्धये । अन्यतमेवोच्यते सोऽयं सा वक्रोक्तिरुदा-
हृता ॥ भामहेनेय सर्वालंकारबीजत्वेन भणिता । वक्रोक्तिर्भोवितकार-
स्त्वेना काव्यजीवितमेव मेने । रसोक्त्या सह वक्रोक्तिर्योगस्त्वतितरां
इलाघनीयो भवति । तत्र श्लेषवक्रोक्तिर्यथा—

अहो केनेहृती बुद्धिदर्शना तव निर्मिता ।

त्रिगुणा भूयते बुद्धिनंतु दाहमयी क्वचित् ॥

'लोहितगुरुहृणामिति श्रुते प्रकृतित्रयबुद्धेरपि त्रिगुणत्वादि-
गुणेति । सत्यरजस्तमोगुणयुक्तेत्यर्थः । अत्र दाहणेति क्रूरार्थकत्वेन वस्तु-

रभिप्रेतं काष्ठेनेत्यन्यथाऽन्यो योजितवान् । अन्यथायोजनं चात्र व्यञ्जनयेति
प्रदीपहारः । वाकुवक्रोक्तिर्यथा—

‘गुरुणा पारतन्त्र्येण दूरं गन्तुं समुद्यतः ।

काले कोकिलवाचाले सखि नैष्यति किं प्रियः ॥

अत्र कोकिलवाचाले काले—बसन्ते, किं मम प्रियो नैष्यतीति निषेधा-
निप्रायेण कयाचित्पृष्टं सरथा तु तदुत्तरयन्त्या एष्यत्येवेति वाक्वा
योजितम् । पारतन्त्र्यं न सार्वदिकमिति भावः ।

वक्रोक्तिरिति—जहाँ अन्यायक वाक्य को व्यञ्जना से दूसरा पुरुष
श्लेष द्वारा वा वाकु द्वारा अन्य अर्थ में लगा दे वहाँ दो प्रकार की वक्रोक्ति
होती है । एक श्लेषवक्रोक्ति और दूसरी काकुवक्रोक्ति । श्लेष वक्रोक्ति का
उदाहरण—

अहो इति—आश्रय है तुम्हारी ऐसी दारुणा बुद्धि किसने बना दी
शास्त्रो में तीन प्रकार की सत्त्वमयी, रजोमयी, तमोमयी बुद्धि तो मानी
गई है परन्तु दारुमयी वही भी नहीं मानी । यहाँ क्रूरार्थक अभिप्रेत है
परन्तु अन्य ने व्यञ्जना से काष्ठपरक लगा ली ।

वाकुवक्रोक्ति का उदाहरण—गुरुणामिति—हे सखि, मेरा प्रिय,
गुरु (माता पिता) को परतन्त्रतावश, वही दूर देश में जाने के लिये
तैयार हो रहा है, क्या वह बसन्त में भी नहीं आवेगा । इस प्रकार किसी
ने निषेधाभिप्राय से पूछा, उमका उत्तर देनी हुई सखी ने कहा—अवश्य-
मेव आवेगा, क्योंकि परतन्त्रता गदा नहीं छूती यह वाकु वक्रोक्ति है ।

(अनुप्रासतक्षण तदभेदाश्च)

शब्दसाम्यमनुप्रासो साटस्तात्पर्यभेदतः ।

व्यञ्जनानां सवृत्ताम्प्यं द्वैकानुप्रास ईरितः ॥४॥

तादृशसाम्यमनुप्रासात्प्रासः । एवतादृश्यं तु नात्र प्रयोजकम् । कुत-
श्चप्रमित्यादाशब्दमनुप्रासात्प्रासात्प्रासः ।

न च शब्दसाम्यं समवेत्स्यन्तीति वाच्यम् । यमने

नियमात् । अनुप्रासश्च त्रिविधः । साटानुप्रासः वृत्तमनुप्रासः ॥

शब्दार्थयो तात्पर्यमात्रतो भेदे लाटानुप्रासो भवति । स्वरव्यञ्जनाना सकृदा
 वृत्तो वृत्त्यनुप्रासः । व्यञ्जनसघस्य सकृत्साहच्ये द्वेकानुप्रास व्यञ्जनमत्र
 ह्रस्वर्णः । व्यञ्जन चार्धमात्रकमिति भाष्योक्ते । त्रिविधोऽप्यमलकार
 काव्यस्य परमरमणीयतामावहति । यथाहु —‘यथा ज्योत्स्ना शरच्चद्र
 यथा लावण्यमङ्गनाम् । अनुप्रास तथा काव्यमलङ्कृतुमिह क्षम ॥
 लाटानुप्रासो यथा मम छायापद्ये—

यदत्र सौष्ठव विन्दी पूर्वेषामेव मे नहि ।

यदत्र सौष्ठव नैव न तेषां तममेव हि ॥

विन्दी साहित्यविन्दी, यत्सौष्ठव तत् पूर्वेषां साहित्यव्यवहारणामेव असौ
 ष्टव मनैव हि बिन्दुकारस्य न तेषां पूर्वेषामित्यर्थः । अत्रानेकेषां शब्दानामा
 वृत्तिः । एषा केवल तात्पर्यं भिद्यते न शब्दार्थो वृत्त्यनुप्रास द्वेकानुप्रासोदाहर-
 णे मम स्वर्यजय त्यसरेऽस्मिन्मत्र महाकव्यखिलानन्द पठित पद्यपुगलमु—

दार्शनिकी यत्प्रतिभा प्रतिभासपद्मचेतसां पुताम् ।

रमयति भानसभाराच्छृङ्गुराम स विधुत शास्त्री ॥

यन्मुखपद्मविनि सृतकाव्यकलाप प्रतिक्षण लोके ।

काव्यकलारसिकानां मनांसि सद्य प्रभोदयति ॥

अत्र प्रतिभाप्रतिभेतिस्वरव्यञ्जनानामावृत्तो वृत्त्यनुप्रासः । ततापुसा
 मिति द्वेकानुप्रासः । एव द्वितीयपद्येऽपि, अन्त्यानुप्रासोऽपि भवति यथा—
 श्यामतामरसदामसुन्दर पादपकजनमत्पुरन्दर ।
 यद्यमानभवदावपावक पातु कोऽपि वसुदेवशावक ॥

शब्दसाम्यमिति—शब्द के साम्य (साहच्य) को अनुप्रास कहते हैं ।
 अर्थात्—अनेक व्यञ्जन जहाँ एक से मिल जायें वही अनुप्रासालकार
 होता है । यहाँ अनु का अर्थ अनुगत प्र का प्रकृष्ट और आस का यास है ।
 इसकी अनुगत प्रकृष्ट रचना का नाम अनुप्रास है । स्वरों की समानता
 में अनुप्रासालकार नहीं होता, क्योंकि उसमें कोई विचित्रता नहीं जैसे—
 कुलकलभ आदि शब्दों में स्वरसाहच्य न होते हुए भी अनुप्रास माना गया है ।

शब्द—शब्द का साहचर्य तो यमक में भी रहता है । उत्तर—यमक में यमक मानपूर्वी होती है परन्तु अनुप्रास में नहीं । अनुप्रास तीन प्रकार का होता है—लाटानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास । शब्द और अर्थ का अन्तर भिन्न होने पर भी जहाँ पुनरावृत्ति हो वह लाटानुप्रास अलंकार होता है । व्यञ्जन-समुदाय की एक द्वार समानता छेकानुप्रास अलंकार होता है । व्यञ्जन यहाँ ह्रस्वों विवक्षित है । यह तीनों प्रकार का अलंकार यमक की चरन शोभा का करने वाला होता है । जैसे ज्योन्ता शरद-चन्द्र को, और शौन्दर्य म्त्रों की शोभा करने वाला होता है । उदाहरण—

यदत्रेति—साहित्य-बिन्दु में जो शीष्टव कुञ्ज चमत्कार है, वह सब पूर्वोक्तों का ही है और जो असौष्टव असंगत है वह सब मेरा है ।

अथवा जैसे पूज्य पिता जी की 'स्तरांजयन्ती' के अवसर पर महाकवि पण्डितानन्दजी ने पढ़े हुए निम्न पद्य भी छेकानुप्रास के उदाहरण हो सकते हैं—

‘ब्राह्मणस्य, महत्पाप सन्ध्यावन्दनकर्मभिरित्यादौ । अत्र ब्राह्मणेति
सबोधनम् । जातित्वादेकवचनम् । ब्राह्मण्य निर्गुणो भाष्यकृदाह—

तप श्रुत च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारणम् ।

तप श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स ॥

तत्र तप पूर्णमंकादश्याद्युपवास । ‘तपो नामशनात्परमिति श्रुते ।
ब्रह्मज्ञान वा तप । ‘यस्य ज्ञानमय तप इति श्रुते । श्रुत—साङ्गवेदा
ध्ययनम् । शास्त्रप्रवण वा । योनिर्ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्याजन्म, यद्यप्येतत्प्रय
मिलितमेव ब्राह्मण्यकारण तथापि त्रिषु योनि प्रधान तप श्रुताभ्या हीने
जातिलक्षणं क देशाश्रयो ब्राह्मणशब्दप्रयोग इतिकंयटोक्ते । विश्वामित्रादिषु
तप श्रुतसत्त्वेऽपि गौणब्राह्मणत्वमेव, ‘ब्राह्मणो ब्रह्मयोनिज इति सामश्रुते
ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्या जन्मलक्षणया योनेस्तत्राभावात् । ब्राह्मो जाताविति
पाणिनिमुत्रादजाती ब्राह्मणशब्दस्यैवातिद्वेश्च । अत्र स्येतिक्रियापद गुप्तम् ।
कर्तृकर्मादिगुप्तानि स्वयं द्रष्टव्यानि ।

(श्लेषालकारलक्षणम्)

श्लेषः श्लिष्टपदं पुन अर्थद्वयस्य कथन,

श्लिष्टपदैरर्थद्वयस्य कथन श्लेषालकार । शक्यभेदेन शब्दभेदे
शब्दश्लेष । यत्रैकोऽथ शक्योऽपरो निरुद्धलक्षणया प्रतिपाद्यस्तत्राय
श्लेष । निरुद्धलक्षणा चासति प्रयोजने शक्यसंबन्ध । यथा ‘त्वचा ज्ञात’-
मि’त्यादौ त्वचस्त्वगिन्द्रिये । जतुकाष्ठयाद्येन शब्दयो विलिख्य
शब्दश्लेष । शब्दाभेदादेकवृत्तगतफलद्वयन्यायेनार्थश्लेष इति साहित्य
विद्वदनुभव । तत्र पदभङ्गश्लेष शब्दालकार । अत्र श्लेषोऽर्थालकार
इत्यलकारसर्वस्वकार । उभयमपि शब्दालकार इति काव्यप्रकाशकार ।
अयमेव नो मनोरथ । अय चाष्टविधोऽयत्र प्रदर्शित पिष्टपेषणभया नेह
प्रतानित । श्लिष्टकाव्य श्लिष्टमिति विडमात्रमुदाहरण समेव—

‘भ्रम्यते यत्र तत्रैव तावत्सहृदयालिभि ।

पद्मगुप्त परिमलो यावत्सत्तु न लभ्यते ॥

अत्र पद्मगुह्यपरिमलनामा कविरेव पद्ये गुप्तः परिमलः सोरभमिति
स्नेहः । सहृदया एवात्यस्तः । स्पष्टमग्यत् । अस्मिन्नलंकारे द्वयोरर्थयोर-
भेदाध्यवसाने एकपदोपात्तत्वं भूलम् ।

(प्रहेलिकालक्षणम्)

सकृत्प्रश्नः प्रहेलिका ॥५॥

सकृत्प्रश्नः प्रहेलिकालंकारः । प्रश्नश्च ज्ञोप्ता । भावे नञो विधानात् ।
माघ च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च । अस्यालंकारस्थोपयोगं दण्डी प्राह—
'श्रीशालोष्ठीविनोदेषु तज्जंराकीर्णमन्त्रणे । परव्यामोहने चापि सोप-
योगः प्रहेलिकाः ॥ द्वयोरुदाहरणम्—

'विदग्धः सरलो रागी नितम्बोपरिसंस्थितः ।

तन्वद्गुहातिङ्गितः कण्ठे क्लृप्तं कूजति को विटः ॥

विदग्धः चतुरः, पक्षे विशेषेण दग्धः, रागी=अनुरागी, पक्षे रक्तः ।
स्पष्टमग्यत् । अत्र विदधाने घकारदानाद् द्वितीयोऽर्थो घटो भवति । एव-
मग्यदपि सङ्घातलक्ष्यम् । यत्पत्र दर्पणकारः—'रसस्य परिपन्थित्यान्ना-
संसारः प्रहेलिका । उत्तिर्घञिष्यमात्रं सेत्याह । तद्वत् । संघिष्य-
निबन्धनो ह्युलंकारभाव उपमादोनाम् । संघिष्यमेयालंकार इति सकला-
संसारिकतिदाःताम् । अतएवालंकारिकसिरोमणि महाकवि-दण्डिपादि-
भिरस्या घसंसारस्वमुत्तमिति युक्तमुत्पद्यामः ।

द्विवेति—द्विधा गुप्त आदि पद मे कर्तुं कर्म गुप्त आदि शूद्रानकार
१ । उदाहरण—

आज्ञापयेति—हे आज्ञाप, तू मन्व्यासनादि कर्मो मे मय दायां
वा तव किया कर ।

आज्ञाप का सभय वही मय—तुल्यमा एकादशी आदि वा एव
रगता । अंगेति वेद मे विना है—अतस्त मे बडका बोई मय
गती है । ईधर-रिपदक ज्ञान भी तर है अंगेति वेद मे ही माना

है—जिसका ज्ञानमय तप है। श्रुतपद से साङ्ग वेदों का पढ़ना, अथवा मच्छात्रों का श्वरण माना है। योनि—ब्राह्मण से ब्राह्मणी में जन्म, इन तीनों में योनि ही ब्राह्मण होने में प्रधान कारण है। अतएव विश्वामित्र प्रभृतियों में तप और श्रुत के रहने पर भी गौण ब्राह्मणत्व है मुख्य नहीं सामवेदादि के प्रमाण से। योनि से जाति मानने पर ही ब्राह्मण शब्द सिद्ध होता है। क्योंकि ब्राह्मण शब्द की सिद्धि कर्म से जाति मानने पर नहीं होती है। उपर्युक्त उदाहरण में 'स्व' क्रिया है। कर्तृ-कर्मदि गुप्त स्वयं ही ग्रन्थान्तरों से जानने चाहिये।

श्लेष इति—श्लिष्टपदों से अयंद्वाय अर्थात् अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेषालकार होता है। शक्य के भेद से शब्द का भेद होने पर शब्दश्लेष, और जहाँ एक अर्थ शक्य है दूसरा निरूढ लक्षणा से प्रतिपाद्य है वहाँ अर्थश्लेष होना है जैसे त्वच्चा जातम्—यहाँ त्वक् शब्द की त्व-गिन्द्रिय में निरूढलक्षणा है, वह बिना किसी प्रयोजन के शक्य संबन्ध रूपा होती है। जतुकाष्ठन्याय से शब्द श्लेष और एक घृन्तगत फल-द्वय-न्याय में अर्थश्लेष, यह भी दोनों का भेद प्रकार है। पदभङ्गश्लेष शब्दालकार, अर्थात् श्लेष अर्थालकार यह अलकारसर्वस्वकार कथक का मत है। दोनों ही प्रकार से शब्दालकार है यह काव्य-प्रकाशकार मानता है, प्रकृत ग्रन्थकार को भी यही अभिमत है। उदाहरण—भ्रम्यते इति—सहृदयरूपी भ्रमरगण तब तक इधर उधर घूमते रहते हैं, जब तक पद्मगुप्त परिमल कवि रूप पद्य का पराग उनको नहीं मिलता। यहाँ दोनों अर्थों का अध्यवसान होता है।

सकृदिति—एक बार प्रश्न करना प्रहेलिकालकार होता है। वह दो प्रकार की है च्युताक्षरा और दत्ताक्षरा। क्रीडा मित्रगोष्ठी परस्पर विनोद आदि में इसका उपयोग होता है। दोनों का उदाहरण—विदग्ध इति। विदग्ध, चतुर पक्ष में दग्ध हुआ, रागी कामी पक्ष में रक्त वर्ण, स्त्री से कंठ गले में आलिङ्गित वा गृहीत जाय अथवा घट मधुर बोधता

है। इस तरह अन्य लक्ष्य भी जानना। दर्पणकार विश्वनाथने—रस का वाक्य होने के कारण प्रहेलिका (पहेली) को अलकार नहीं माना, उक्ति की द्विवचिता मात्र ही उसको माना है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि रसिक ही अलकारत्र का प्रयोजक है, यह सब अलकारिकों का एक मात्र विद्वान् है। इसलिये महाकवि महाअलकारिक दण्डि प्रभृति न अलकार को अलकार ही माना है।

(प्रश्नोत्तरनक्षत्रम्)

प्रश्नोत्तरं च द्विविधं बहिरन्तः प्रभेदतः।

भाषा प्रश्नस्योत्तरवानमेवात्पमालक्षारवप्रयोजकम् । अपमत्तहारो
वदन्ति वृथा दृश्यते । यथा—

‘शृण्वामि त्वा परमन्म शृण्विष्या ।

वेदीमाहू परमत शृण्विष्या ॥’

क श्विदेवाकी चरति क उश्विजापते पुन ।

मूर्धं एवापी चरति चन्द्रमा जापते पुन ॥’

नाक बहि प्रश्नोत्तर यथा—

‘प्राय वायं निपुत्र्यन्ते नरा सधंत्र कीदृशा ॥

मादधाना इति ।

यश्च प्रश्नोत्तर यथा—

का वापी का मधुरा का शीतलवाहिनी गङ्गा ।

कसप्रधान वृष्ण कश्चमवस्त न कापते शीत ॥

यत्र वापीरेति प्रश्ने वाचानामापीरुत्तरम् । एव मधुरा इति प्रश्ने
कामधुरा कामधेनु शीतलवाहिनी गङ्गाइति प्रश्न वापीरुत्तरवाहिनी
गङ्गा । वापीरुत्तरं तत्र पाठयन्ती मम मुनारेववा निर्गमिष्यन्तम्—

‘वदे वर मण्डिरालि पाठयावा वदे वदे ।

वदे वदे च विद्वान् वाचयामेवा विधिरता ॥

एव वृष्ण कसप्रधानेति प्रश्ने कस इत्यनुत्तरम् । वदे तत्र वाचयामेव

कंठेरिति भाष्यम् । शीतः कंबलवर्त न माधते, कंबलप
(शीते) कमनीयो भवतीति निरुक्तकारः । अत्र मध्यं
अचित्तुस्तार्यो यथा किराते—

‘हितान्न यः संशृणुते स किप्रभुः ।’

अथय हितु वितर्कं सच प्रयोक्तुः संभायनात्मकं ज्ञ
‘किमिन्दुः विपचमित्यादी ।

(यमकलक्षणम्)

यमकं चार्यभिन्नानामर्थे सति पुनः श्रुतिः

अर्थे सति, भिन्नार्थानां वर्णनामानुपूर्व्येणावृत्तिर
अनुप्रासे स्वभावत एकार्थयोः शब्दयोरावृत्तिः यमके च
कारयोः शब्दयोरावृत्तिरिति भेदः । अयं च पदपादाद्यं
अवृत्तयो दिङ्मात्रमुदाह्रियते पदावृत्तिर्यथा मम सुलतानर
‘महिमा न हिमागमेऽभवत्सदृशीनां तरणस्य कर
कमलेः कमलेषु यत्र न सहसा म्वीय-विद्योगराडि
यथा वा शिवराजविजये—

‘घनपटली बहु घर्षति तोयम् ।

घनपटलोनमुखः पथिकोऽयम् ॥

पादावृत्तिर्यथा माघे—

‘आपदि व्यापृतनया रुया मुपुधिरे नृपाः ।

आप दिव्या पृतनया विस्मयं जनता तथा ॥

आपदि आपत्काले, व्यापृतनयाः स्वीकृतनीतयो नृपाः
दिव्या जनता= देवसमूहः, आमजनबन्धुभ्यस्तत् स्त्रीत्वं लो
पृतनया सेनया, विस्मयमाय । अर्थावृत्तिर्यथा भट्टिकाव्ये—

‘समिद्धशरणादीप्ता देहे लङ्कामतेश्वरा ।

समिद्धशरणादीप्ता देहेऽलङ्कामतेश्वरा ॥

इत्योकावृत्तिर्यथा काव्यादर्शे—

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।

स्वमिश्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वीयमनुनाशिता ॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।

स्वमिश्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वीयमनुनाशिता ॥

इत्यविद्राजः स्तुतिरियम् । हे राजन्, भवतेषं पृथ्वी, अमीता = नय-
रहिता ज्ञाना । कीदृशेन भवता विनायकेन = विरहद्वन्द्वो दण्डबाजा, पुनः वृत्त-
(वृत्तं) पीवरमुजेन, स्वमिश्रोद्धारिणा, अनुनाशिताऽत्रुरसेनेन प्रयमभूक-
न्नायः । विनायकेन = मृतस्वामिना, अभीता = पुद्गाय तत्रामिमुसमा-
कृता भवता सता चिनायां ज्वलद्मुजेन, स्वमिश्रोद्धा = परिहृतवन्मुचर्गेण,
इनाप्सरिणा, इयं पृथ्वी, यमस्य तुनामानयन्त्रं धिना मृतमिति भावः ।

यमहं चेति चेन समानचतुष्पादस्य महायमकस्य ग्रहणं तदुदाहरणं च—

समानयाम मानया समानया समानया ।

समानयाममानया समानया समानया ॥

हे समानयाम, समानप्रयत्नकारिन्, तथा समान अग्निप्रवाण, मामा-
नया नापिहया समानय = सम्मेलय, कीदृशया—अपमानया निरयमया,
समानया मानयया, तथा समानया मानार्हया, सा का या मामंरतिर्नयो-
नोतिस्तद्वृत्ती च ॥ भाषातमो महारविचरंरुरस्य—

‘एहो हि सात्, सतिताङ्गनमस्मदीयम् ।

तत्रैव सेम, तिनुभिः विषदप्यज्ञान ॥

हे सात् इत्य, सत्य ईप्सायां धत्रि सापनीये जयः । एहो हीति बोध्याया
द्विर्लक्षः । तथा च शरीरदृष्टयं दग्जते । तिनुभिरिति सहायं तुभोया ।
तेनेति श्रापनेऽगानेति च श्रातराये सोद् । अत्र सापनेनेति द्वयोर्गवि
संस्कृतशब्दोः साम्यम् ।

अज्ञोत्तरमिति—अज्ञोत्तर दो प्रचार वा होना है बाह्य धोर
साध्यन्तर । यह धन प्रचारकेद से भी बहुत देशा गया है । यथा सोर से बाह्य
अज्ञोत्तर वा उदाहरण—श्राप इति—श्राप बाधों से मन्त्री उग्र हन
नर विन्दु विदे जाते हैं धोर पाया उग्र नौराधों के

इति—पृच्छामि इति पृथ्वी का अन्त क्या है ? वेदी । एकाकी कौन विचरता है ? सूर्य, सूर्य से कौन उत्पन्न होता है ? चन्द्रमा ।

अन्त-प्रश्नोत्तर का उदाहरण—का कालीति । काले वर्ण वाली कौन है ? उत्तर—कौश्री की पत्ति मधुर-मीठी कौन है, कामधेनु, शीतल-वाहिनी (ठण्डा जल बहाने वाली) कौन है, वाशीनगरी के नीचे नीचे बहने वाली गङ्गा, काशी की प्रशंसा के सबन्ध में पूज्य पिताजी ने धी पर पढ़ाते समय एक पद्य बनाया था जो उपरिलिखित है और स्पष्टार्थ भी है । कृष्ण ने किस को मारा, कस अपने मामा को, शीत=जाड़ा किसको बाधित नहीं करता, कबलचस्त्र धारण करने वाले पुरुष को इन सभी उपर्युक्त प्रश्नों में कि शब्द जिज्ञासाबोधक है । कही पर कुत्सार्थक भी जैसे किरान में । अव्यय कि शब्द विलोक में रहता है, जैसे—किमिन्दु ।

यमक का लक्षण—यमकमिति—अर्थ रहने पर भिन्नार्थक वर्णों की आनुपूर्व्य आवृत्ति, यमक अलंकार होता है । अनुप्रास में स्वभावत एकाध्वक शब्दों की आवृत्ति होती है और यमक में स्वभावत भिन्नार्थक एकाकार शब्दों की आवृत्ति होती है । यमक पद पाद अर्थावृत्ति भेद से अनेक प्रकार का है । पदावृत्ति का उदाहरण—महिमानेति—हेमन्त ऋतु में किस तस्त्र और तस्त्रणी की महिमा नहीं बढ़ी और हेमन्त में अमर को कमल में शीघ्र वियोग शका से तूणमात्र सुख नहीं हुआ ।

दूसरा उदाहरण—घनपटलीति—बादलों की पत्ति बहुत बर्ण रही है, और यह पथिक (माग में चलने वाला) घन (गाढ़) वस्त्र में मुक्तको ढके बैठा है । पादावृत्ति का उदाहरण—आपदीति—आपत्काल में स्वीकृत की है नीति जिन्होंने ऐसे राजा लोग क्रुद्ध होकर परस्पर में घोर युद्ध करने लगे जिमको देखकर देवसमूह भी विस्मित हो गया । अर्थावृत्ति का उदाहरण—समिद्धशरणेति—जिसके देह (मध्यभाग) में धर जल रहे हैं, और स्वयं दीप्त=प्रकाशयुक्त है, जिसमें शिव की मान्यता है, ऐसी लङ्का नगरी देहे=दग्ध हो गई । जो समिद्धशरण=ज्वलद्गृह

भवनों से दीत (प्रकाशित) है और अलकामतेश्वरा—सर्वेच्छा सम्पादन में समर्थ है ॥

श्रीवावृत्ति का उदाहरण—विनायकेनेति—यह किसी राजा की मूर्ति है। हे राजा ! आप से यह सारी पृथ्वी शत्रुओं के भय से रहित हो गई। आप कैसे हैं, वि=विरुद्धों को दण्ड देने वाले, गोल और विलुप्त भुजा वाले, अपने मित्रों के उदारकर्ता, अथवा सुष्ठु प्रकार से अमित्रों के हन्ता, और अतुलकीर्ति।

दूसरे श्लोक का अर्थ—तुम्हारे से जिसका स्वामी मारा गया है इसीलिये वह युद्ध करने के लिये तुम्हारे सम्मुख आता हुआ कोई शत्रु भी तुम्हारे विधी मृत्यु द्वारा मारा हुआ और पृथ्वी पर पड़ा हुआ जता दिया गया है, उसके साथ और कोई नहीं था।

यमकं च—के चकार से तुल्य हैं चारों पाद जिसके ऐमा महायमक केना चाहिए। उसका उदाहरण—समानयेति—हे तुल्य प्रयत्न करने वाले, अभिप्रहृदय मित्र, मुझको इस नायिका (मुन्दरी) से मिला दे। यह निरयम, मानशालिनो, सम्मानार्ह तथा सपत्ति और नीतियुक्त है। भाषासम का उदाहरण—

एत्नेहीति—हे सान्नीय वृष्ण ! हम हमारे मुन्दर धामन में आओ, वही पर बन्धी के साथ लेती और कुछ भिष्ट सामो। यही तात और मेम दोनों पद सहजत और हिन्दी में समानता रखते हैं।

(उत्तमानभारतशाण्डु)

उपमा चादसादृश्यमुपमानोपमेययोः ।

उपमोपमेययोः प्रयोः उपमा । उपनुवर्त्तमानाः 'चातश्चोवतामै इत्याह । यमाचार-प्रयोक्तव सादृश्यमुपमाश्रयणः । सादृश्यम् साधारणपरमसदृश्यप्रयोगं महानादिवदनापतावदोऽवनया मिदुमनिरित्तवशापः । नञानित्तर-शार्थये मोनमदलारोक्तवशापसंतवाबिरोध इति वाच्यम् । प्रमेयपरमं मोतमोर्त्तं श्लर्थाद्याम् । उपमानोपमेययोः रिति मनु शार्थवशात्सादि

तत्सादृश्यस्य कविप्रतिभाकल्पिताशाभावेनाऽनलकारत्वात् ।

पितेव पुत्र सगुण स भ्राता इत्यादौ तु कार्यकारणयोर्द्वयोरप्युपमानोपमेयत्वकल्पनाभ्रातिप्रसङ्गः । न च कल्पित सादृश्य कथकार चमत्कार जनयेदिति वाच्यम् । उपमानोपमेयोः सत्यत्वस्य लक्षणोऽविवक्षणात् । गोसदृशो गश्च इत्यत्र सादृश्यचमत्कारिताविरहात्प्रोपमालकारः । एवमेव सर्वेऽप्यलकाराः कविसमयप्रसिद्धानुरोधेन चमत्कारित्व एवालकारता भजन्ते नान्यथा । अतः 'गोर्वाहीक इति न रूपकम् । 'स्याशुर्वापुरुषो वेति न सन्देहः । इदं रजतमिति न भ्रान्तिमान् । 'नाथ सर्पे' इति नापन्हृतिः । 'स देवदत्त इति न स्मरणम् । तस्यस्थनिपातान्तन्ताम इति न भयासत्त्वम् । पुत्रेण सहागतः पिता इति न सहोक्तिः । तेन विनागत इति न विनोक्तिरित्यादिक स्वयम्बूहनीयम् ।

यत्त्र रसगङ्गाधरकृता बहून्मुपमालक्षणानि लण्डवित्वा 'सादृश्य सुन्दर वाच्यार्थोपस्कारकमुपमालकृतिरित्युपमालक्षणं कृतम् । तदसत् । तत्र वाच्यार्थोपस्कारकत्वविशेषणस्य व्ययत्वात् । तद्विनेव सकलेष्टसिद्धेः । स्वयं तेन प्राचालक्षणे हृद्यत्वमात्रेण निवहि विशेषणान्तरस्य ध्ययत्वादिरयुक्तम् । उपमा तावद् द्विविधा पूर्णा लुप्तश्च । तत्र 'उपमानमुपमेय धर्मो वाचकमित्यदः । अतुष्टयमुपात्त चेत्साहिपूर्णोपमा मता । अर्णो-

अलीव मलिने नेत्रे मुख सीरभमब्जवत् ।

पुष्पतुल्यौ मृदू पाणी सुधाधन्मधुरा गिर ॥

अत्र पूर्वार्धे श्रमात्समासतद्धितगता द्विविधा थीती । उत्तरार्धे तु श्रमात्तद्धित समासगता चार्थी । यथा वा मम दुर्गाम्बुदये—

शुभमुक्तानि शस्त्राणि देवी नयति रिक्तताम् ।

पौरुष पुरुषस्येव नियति प्रतिपक्षिणी ॥

रिक्तता=व्यर्थत्व नयति प्रापयति । यथा पुरुषस्य पौरुष प्रति-
पक्षिणी=प्रतिबूला, नियति, तथा देवी शुभमुक्तानि शस्त्राणि स्पष्ट-
मन्यत् । अथ लुप्तोपमा मर्मव—

० विक्रमादित्य-भूपालो रणे सुरपतीयति ।

शशोव वदनेनासौ शोभते मृगलोचन ॥

सुरपतीप्रतीत्यत्रोपमेयस्यात्मनो लोप । उपमानस्य सुरपतेरात्मन
उपमेयत्वात् । मृगलोचन इत्यत्र लोचनेत्युपमानस्येशब्दस्य विस्तृतत्वरूप-
साधारणधर्मस्य च लोप । गम्यमानानामप्रयोग एव लोप इति भाष्य-
कंयटयो ।

'सुपारधिरश्वानिव मनुष्यानेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिनइवे'त्यादी घेदे-
ऽपुपमालकार । घंघाकरणमते—उपमावाचकानामिवादीना द्योतकत्व-
मेव यथोक्त भूपणे—'प्रादयो द्योतका सर्वे निपाताश्चादयस्तथा ।
उपास्मैते हरिहरो लकारो दृश्यते यथा ॥ आलकारिकमते—इवादीना
वाचकत्वमेव न द्योतकत्वम्, युवत चंतत् । अन्यथा सकलालकारिकसम्मत-
स्येव शब्दप्रयोगे श्रीत्रीत्यस्य दत्तजलाञ्जलित्वापत्ते । नागोजिभट्टेनापि
मञ्जूपादामुक्तं क्वचिन्निपाताना वाचकत्वमपि न केवल द्योतकत्वमेव ।

(मालोपमानवारलक्षणम्)

मालोपमोपमानस्य एकस्य बहुधा मता ॥७॥

एकस्योपमेयस्य बहुपमानस्ये मालोपमालकारः । यथा जग-
दस्य स्तुतिस्तुमुमाज्जती—

निशान्तनिद्रेव दशेव शैशवी नवीनवध्याः चकितेव दृक्छटा ।
सुरश्वन्तीव कथेव शाम्भवी कवीन्द्रवाङ् निवृत्तिमातनोतु नः ॥

निशान्तनिद्रेव = रात्र्यन्तनिद्रेव, शैशवी दशेव = बाल्यावस्थेव, सुर-
श्वन्तीगङ्गा शांभवीकथासथेव कवीन्द्रवाक् कविभारती नः पुष्पार्क निवृ-
त्तिमानन्द करोतु अत्र कवीन्द्रवाचो बहून्पुपमानानीति मालोपमालकारः

अथेति—अत्र अर्थालकारो का निरूपण करेगे क्योंकि शब्दालकारो
का निरूपण कर चुके । अर्थालकारो मे भी प्रधान होने के कारण या
सब की जननी होने के कारण तथा सादृश्यमूलक अलकारो के उपजीव्य
होने के कारण सर्वप्रथम उपमालकार का निरूपण करते हैं—

उपमेति—उपमान और उपमेय की चमत्कारजनक सदृशता की
उपमा कहते हैं । सदृशता यहाँ साधारण धर्म सम्बन्ध से प्रयोज्य सदृश
आदि पद की शक्ति से सिद्ध भिन्न ही पदार्थ है, और वह गौतम से कहे
हुए प्रमेय पदार्थ में अन्तर्भूत है । सादृश्य यही उपमान और उपमेय का
ही गृहीत है कार्यकारणादि का नहीं क्योंकि उनका सादृश्य चमत्कार-
जनक न होने से अलकार नहीं होता ।

शंका—वह रघु पिता के समान गुणवान् था इत्यादि कार्य-
कारण भाव में उपमालकार कैसे ? उत्तर—यहाँ कार्य कारण में उपमान
और उपमेय की कल्पना कर ली है । शंका—कल्पित सादृश्य चमत्कार
को उत्पन्न कैसे कर सकता है । उत्तर—लक्षण में उपमान और उपमेय
की सत्यता विवक्षित नहीं है । गौ के समान गवय है यहाँ सादृश्य
चमत्कार नहीं है अतः उपमालकार नहीं । इसी प्रकार सभी अलकार
कवि-समय-प्रसिद्धि के अनुसार चमत्कारजनक होने पर ही अलकार हो
सकते हैं । इसीलिये 'गोर्वाशीक.' इत्यादिको में रूपकादि अलकार नहीं
हो सकते । अधिक स्वयं समझना ।

अथेति—रसगङ्गाधरकार ने बहून् से उपमालक्षण खण्डित करके
जो अपना उपमालक्षण किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि उसमें वाक्यार्थो-
पस्कारक विशेषण ध्यय है 'सुन्दर सादृश्य ही' उपमा का लक्षण पर्याप्त

है। स्वयमेव उमने प्राचीनों के उपमा लक्षण को खण्डित करते हुए हृद्यतामात्र अलंकार लक्षण ठीक माना है। उपमा दो प्रकार की है— पूर्णा और नुप्ता। जहाँ—उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक हों वह पूर्णोपमा है। जहाँ उपमेय, उपमान, धर्म और उपमा वाचको में से किसी एक दो तीन का लोप हो वहाँ लुप्तोपमा होती है। उपमानादि चार कहीं पर वाच्य (शब्दोपात्त) और कहीं पर प्रतीयमान होने हैं यह सब अलंकारिको का मन है। फिर लक्षण में केवल वाच्यपद देना माहिन्यदपेक्षकार का प्रमाद है रहे, हम उन मान्यों के मन्थ में क्या कहें।

पूर्णेति—पूर्णोपमा भी दो प्रकार की होती है। एक श्रौती, दूसरी आर्थी। तुप्तेति—तुप्तोपमा चार प्रकार की है—उपमाननुप्ता, उपमेय-नुप्ता, धमनुप्ता और वाचकनुप्ता भेदों में मध्येन में यह छः प्रकार की हुई। तत्रेति—यथा इव, वा शब्दों के सद्भाव में तथा 'तत्र तस्यैव' इस सूत्र से जहाँ इत्यर्थ में अश्वत्थं वा अश्वत्थं से अति प्रत्यय किया गया हो वहाँ श्रौती उपमा जानना। तुल्य आदि शब्द की सत्ता में 'तेन तुल्य क्रिया चेदतिः' इस सूत्र से जहाँ वति प्रत्यय किया गया हो वहाँ आर्थी उपमा जानना। दोनों प्रकार की पूर्णोपमा का उदाहरण—अतीति। नेत्र भ्रमर के समान मलिन—वाले हैं। मुखगन्ध कमल के समान है, हाथ पुष्प के समान कोमल हैं और वाणी समुद्र के समान बहुधा मीठी है।

अनेति—इस उदाहरण में पूर्वार्ध में श्रम से श्माम और नद्धितगता श्रौती है। और उत्तरार्ध में तद्धित तथा श्मामगता आर्थी है। दूसरा उदाहरण केवल पूर्णोपमा का है—शुष्मेति—शुष्म दीप से छोड़े हुए शम्भों को देवी दग्ग तरङ्ग विपन्न कर रही है जैसे पुष्पवृत्त पुरपापों को प्रतिकृत भाग्य विपन्न कर देता है। तुप्तोपमा का उदाहरण—विश्रमेति—रिष्माहिन्य राजा, राणूमि में इन्द्रवत् पराक्रम दिना रहा है। वह चन्द्र के समान सुन्दर है और मृगवत् विमानलोचन। यही उपमेय श्मामा का लोचन उपमान का इन्द्रवत् पराक्रम का और विष्मृत्तवत् रूप साधारण धर्म का लोप हुआ है ॥

भाष्य द्वार कैयट मे गम्यमान (प्रतीयमान) का अप्रयोग ही लोप माना है। सुषारथिरश्वानिवेति—इस वेदमन्त्र मे भी उपमालकार है। प्राचीन वैयाकरणो के मत मे उपमा के वाचक इवादि को द्योतक माना है, जैसा कि भूपण मे लिखा है—प्रादि उपसर्ग और चादि निपात सभी द्योतक हैं। जैसे 'हरिहरौ उपास्येने' मे लकार द्योतक है। आलकारिको के मत मे इवादि वाचक ही हैं न कि द्योतक। यह ठीक भी है क्योंकि इव शब्द के प्रयोग मे सबने श्रुती उपमा ही मानी है। नहीं तो फिर वह कैसे ! नागोजिभट्ट ने भी इसीलिये लघुमञ्जूषा ग्रन्थ मे निपातो को कही पर वाचक भी माना है न कि सर्वत्र ही द्योतक ही।

मालेति—जहा एक उपमेय के अनेक उपमान हो वहा मालोपमालकार होता है। उदाहरण—निशान्त-निद्रेति—जैसे—रात्रि के अन्त की निद्रा सुख देती है, बाल्यावस्था सुख देती है, नई बहू की चकित-सी हुई दृष्टि, गङ्गा और जकर की कथा सुख देती है इसी प्रकार कवि की वाणी, आप को सुख देने वाली हो। यहा एक कवीन्द्र वाणी के पाच उपमान हैं इसलिये यहा मालोपमालकार होता है। कवीन्द्र वाणी उपमेय है और सब उपमान हैं। यहा यह भी जान लेना चाहिये कि उपमेय हीन-गुण होता है और उपमान उत्कृष्ट-गुण ॥

(अनुपमालकारलक्षणम्)

उपमाया निषेधो योऽनुपमा सा प्रकीर्तिता ।

उपमायाः सर्वथा निषेधोऽनुपमालंकारः ।

अथ चानन्वये व्यङ्ग्योऽपि दीपकादाद्युपमावत्पृथगेवालङ्कारः । एते-
नायं न पृथगलङ्कारोऽनन्वयप्वनिर्नवोपपत्तेरिति सूचयन्नलङ्कारकोस्तुभकारः
परास्तः । अलङ्कारान्तरेणालङ्कारान्तरप्वननस्यालङ्कारानपवादकत्वात् ।
उदाहरणम्—

मृगानि द्युष्कानि धने चरित्वा पीतवापि तोषान्पमृतं भवन्ति ।

यद्गोमयाप्राश्च पुनन्ति लोकान्, गोभिनं तुल्यं धनमस्ति किञ्चित् ॥

धरित्वा भ्रमित्वा भ्रमयित्वा च । चर गतिभक्षणयोरित्यनुशासनात् ।
 अमृतं गोक्षीर 'गोक्षीरममृतं स्मृत' मिति स्मरणात् । गोमयादीत्यादिना
 गोमूत्रपरिग्रहः । 'संभाष्यं गोषु संपन्न' मिति बाल्मीकीयरामायणानुसारं
 गावो महती संपत्तिः । साम्प्रतिकीं गोहिंसां दृष्ट्वा कस्य सहृदयस्य हृदयं
 न दुःख्यति । गोहिंसा मन्वादिषु यज्ञार्थं लिखिता, ब्रालम्भन-शब्दस्यापि
 सर्वत्र स्पर्शनमयोस्तएव गोकृतेऽघ्न्यादिपदम् । यज्ञे तु न दोषो विहितत्वात् ।
 भाष्योक्तकूपखानकन्यायेन पापजनकतापेक्षया पुण्यजनकतायास्तत्र
 बाहुल्यात् । यस्तुतस्तु गबालम्भादिविहितो न भवति, 'फलं न विधेयमि'ति
 सिद्धागतेन तस्य पापजनकत्वात् । गृह्यसूत्रमतेऽपि गोरालम्भनमुत्सर्जनमेव
 'मागामनागामदिर्तिवधिष्टे'ति श्रुतेः । अतएव गीतायां यज्ञेषु जपयज्ञस्य
 श्रेष्ठत्वमुक्तम् । अत्र गवामुपमा केनापि सह नास्तीत्येषोऽनुपमालंकारः ।
 यथा वा मम—

प्रजानां पालने माने तथा धर्मेण शासने ।

धीरामेण समो राजान भूतो न भविष्यति ॥

अथ भूतभविष्यद्वर्तमानकालिक राजसु रामोपमा सर्वथा निविद्धा ।

(अनन्वयालंकारलक्षणम्)

अनन्ययस्तु चैकस्य ह्यनुपमानोपमेयता ॥८॥

एकस्यैव वस्तुन उपमानोपमेयत्वकल्पनमनन्वयालंकारः । एवं चास्य
 द्वितीयसब्रह्मचारिनिवर्तनमेवालंकारप्रतिष्ठापकमिति सिद्धाग्तः ।
 उपमानोपमेयत्वेति । उपमानत्वमुपमेयत्वं चेत्यर्थः । उपमानतावच्छेदक-
 धर्म एव यत्रोपमेयतावच्छेदकः सोऽन्यत्रय इति पतितम्, एकस्यैरनुपमासंका-
 रव्यवच्छेदाय । उपमासंकारस्य भेदप्रतिष्ठितत्वात् । उपमायां साम्यप्रतीत्या
 समत्कार इह अनुमानान्तरव्यवच्छेदेनेति कसर्वंजात्यादुमयोः पार्यवयम् ।
 यद्यनुपमानोपमेययोरेव्यमसत्तत्र तयोवि वात्पनिवभेदाधयण भयतीहने
 स्मते । यथाहि वाचस्पतिमिर्धरण भाषयाम्—'तेन ततोपमेयत्वं राम-
 रावरापुत्रवत् । अतःप्रा भेदमाधिग्य गीते तस्यां न युज्यते ॥ उदाहरणं मम

शिक्षणे राजसिंहाना प्रजानां परिरक्षणे ।

सता मानेऽथिना दाने विक्रमो विक्रमोपमः ॥

सता—विदुषा, माने-सम्मानकरणी, अथिना दानेऽथिभ्यो दाने, चतुर्थ्यं-यें पठ्ठी । अत्र परदु सभङ्गनादिविविधगुणगणालकृततस्य विषमशील-विक्रमादित्यस्थानग्यसदृशत्वाभिधानाधोपमानोपमेयभावो विवक्षितः ॥८॥

उपमेति—उपमा का सर्वथा निषेध करना अनुपमालकार होता है । यह अनुपमा अनन्वय मे व्यङ्ग्य होने पर भी पृथक् है । जैसे—दीपकादि मे उपमा होने पर भी दीपक पृथक् अलकार है । अनन्वयध्वनि से इसकी गतार्थता मानता हुआ अलकार-कौस्तुभकार परास्त जानना वयोकि अलकार से अलकारान्तर का ध्वनन अलकार का अपवाद (बाधक) नहीं हो सकता । उदाहरण—तूष्णानीति—जो वन मे सूखे घास को खाकर जल को पीकर अमृत (दुग्ध) देती है । जिसका गोबर और मूत्र सारे लोको को पवित्र कर देता है, ऐसे गोधन के बराबर कोई भी धन लोक मे नहीं है । वेदो मे तो गौधो को विश्वजननी लिखा है, यथा—‘गवो विश्वस्य मातर । गोभिविप्रैश्च वेदैश्च सप्तभिर्घायिंते मही ।

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार गौए महती सपत्ति है—घ्राजकल होने वाली गौधो की हिंसा को देखकर किसका हृदय दुःखित नहीं परन्तु क्या करे, कहा जाए, किस से पुकारें । शका—मन्वादि स्मृतियों मे भी गौहिंसा का लेख है फिर वह कैसे ? समाधान—वह हिंसा यज्ञाङ्ग होने से दूषित नहीं । महाभाष्य मे कूपखानक न्याय से भी यही बात सिद्ध की है । वास्तव मे यज्ञीय हिंसा भी विहित नहीं है, फलवत्तया पापजनक होने से गृह्यसूत्र के मत मे भी गवालम्भ गो-विसर्जन ही है । यहा गौधो की उपमा किसी से भी नहीं हो सकती । इसका दूसरा उदाहरण प्रजानामिति—श्री रामचन्द्रजी के समान राजा आज तकन कोई हुआ न हीया । यहा राम की उपमा का निषेध किया है अत यह भी अनुपमालकार है ।

अनन्वय इति—एक वाक्य मे एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाने से अनन्वय अलकार होता है । अर्थात्—द्वितीय समान

धर्म वाले की निवृत्ति ही इस अलकारत्व का प्रयोजक है । जहां उपमानतावच्छेदक धर्म ही, उपमेयतावच्छेदक हो वह अनन्वय होता है यह फलित हुआ । एक के बहने से उपमालकार का वर्जन हो गया वहां उपमान और उपमेय दो होते हैं और भेद होना है । उपमालकार में समानता प्रत्यय से चमत्कार होता है यहां उपमानान्तरा भाव से । उपमान और उपमेय यहां एक है तथापि ऐसे स्थलो में काल्पनिक भेद मान लिया जाता है । यही बात भामती में वाचस्पति मिश्र ने दिखाई है अर्थात् उसी का उसके साथ उपमानोपमेयत्व अमतिक गति है । उदाहरण—शिक्षणे इति—राजायो को दह बनलाने में कि ऐसे राजा होने चाहियें, प्रजाओं के दुःखभञ्जन करने में, विद्वानों के सम्मान करने में, अग्नि—याचको के मनोरथपूरण में, विक्रम अपने ही समान था । यद्यपि बिना दो वस्तु हुए उपमानोपमेय भाव नहीं बन सकता, क्योंकि उपमा माहृष्य में होती है और माहृष्य दो भिन्न वस्तुओं के समान धर्म होने पर होता है, अतः वह वस्तु अपने ही महग हो यह ठीक नहीं है तथापि किसी वस्तु को (जैसा यही विद्यमादिय को) अनुपम बनलाने के लिये काल्पनिक उपमानोपमेय भाव मान लिया जाता है ।

(स्मरणानुकारलक्षणम्)

तुल्यवस्तुमानजन्या स्मृतिः स्मरणामोरितम् ।

तुल्यमानस्य च वस्तुस्मृतिं प्रति मन्हारोदोषशब्देन हेतुशब्दं तुल्यत्वस्योभयनिष्ठत्वात् । 'मान. स्मरापि गणनापमनायस्य' सिद्धादिस्मृतेः माहृष्य बिना वास्तुशभावात्नालकारत्वम् । एव भावनाया अपि न तत्र ब्रं विगतोऽपि शास्त्राग्रे हरिभाषना दर्शनान् । उदाहरण यथा नैपथे—

‘धनया तथ ह्यसौमया हृत्तगन्धारविषोषनताय मे ।

धिरमप्यधनोहिताऽय सा स्मृतिमाहृष्यती शुचिस्मिता ॥

धनया = धनुभद्रगोचरया, तथ मानस्य ह्यसौमया = हृत्तस्य परा-
 वाच्छया, धिरमपि = धिराह्वि, धिनोहिता सा ह्यमयती स्मृतिमाहृष्यती

स्मृता । सदृशवस्तुदर्शनात् । स्पष्टमन्यत् । अत्र लोकोत्तरनेत्ररूपवशं-
नात्तत्सदृशरूपवत्या दमयन्त्याः स्मृतिरित्यलंकारत्वम् । नत्र रूपसदृश-
रूपयती दमयन्तीति शब्दबोधः ॥

(रूपकालकारलक्षणम्)

उपमानोपमेयत्वाभेदो रूपकमित्यते ॥६॥

उपमेयतावच्छेदक पुरस्कृत्योपमानतावच्छेदकावच्छिद्यता भेदो रूपका-
लङ्कार । अत्र मुखत्वादिकमुपमेयतावच्छेदक चन्द्रत्वादिकमुपमानतावच्छे-
दकम् । अतिसाम्यादपह्नतभेदयोर्उपमानोपमेययो चन्द्रमुखयोर्भेदप्रत्ययो
रूपकमलकारः । रूपयति द्वयोरभेदारोपणं करोति रूपकमिति तद्व्युत्पत्तेः ।
नच 'मुख चन्द्र' इत्यादिरूपकस्यले लक्षणाया सादृश्यप्रतीतौ 'चन्द्रबन्मुख'
मित्याद्युपमालकारात्तस्मिन् किमपि चमत्कारखलक्षण्यं न ह्यप्रत इति
वाच्यम् । 'मुख चन्द्र' इत्यत्र रूपके चन्द्रादिसादृश्यं न प्रतीयते किन्तु चन्द्राद्य-
भेदः चन्द्राभिन्नं मुखमिति शब्दबोधात् । किंचोपमाया सादृश्यस्याभिधे-
यस्य रूपके च तस्य ध्वज्जनावृत्तिलभ्यस्त्रमिति । यथा—

'कृष्ण, त्वदीय पदपकज पञ्जरान्ते ह्यर्धं मे विशतु मानसराजहस' ।

प्राणप्रयाणसमये कफवातवित्तं कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥'

अत्र मानस मन एव मानसरोवरस्तत्र राजहस, एव पदपकजे
स्पष्टमन्यत् । सिंहो माणवकः, लोष्ठ पापाण, इत्यादावभेदारोपेऽपि
नालंकारत्वम् । प्रतिभोत्यापितत्वाभावेनाचमत्कारित्वात् ॥

प्रकृतोदाहरणे समासकरणात्समस्तरूपकम् । असमस्तं तु पृथग्
विभक्त्या ज्ञेयं यथा वाग्भटालकारे—

ससार एव कूप सलिलानि विपत्ति-जग्मदु खानि ।

इह धर्म एव रज्जु तस्मादुद्धरति निर्मग्नान् ॥

यथा वा—

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं हि सन्ध्या, वेदाः शाखा धर्मकर्माण्य पत्रम् ।

सर्वमूलं यस्ततो रक्षणोप, छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् ॥

तुल्येति—तुल्य वस्तु के दर्शन से तत्तुल्य वस्तु का स्मरण हो जाना स्मरणानंकार होना है। तुल्य वस्तु का ज्ञान तत्तुल्य वस्तु की स्मृति में मन्कारोद्बोधन द्वारा हेतु बन जाता है। वह तुल्यता दोनों में ही रहती है। विन्तनादि करने से जायमान स्मृति अनंकार नहीं होती। इसी लिये 'प्रातः स्मरामि' इस पद्य में स्मरणानंकार नहीं, क्योंकि माहृन्त्र बिना चायना नहीं आती, चायना के बिना घनकारण्व नहीं। इनीलिये भावना भी स्मरणानंकार नहीं होती, क्योंकि भावना तो विमद्वग में भी रहती है जैसे प्रस्तरमय शालग्राम में विष्णु की भावना। उदाहरण—अनयेनि—
हे नल, तुम्हारे इस सर्वाधिक सौन्दर्य दर्शन ने उड्डूढ मन्कारवदग, मुनको बहुत पढ़ने देखी हुई भी दमयन्ती का स्मरण हो आया। यही नन न्न दर्शन से दमयन्ती के स्म का स्मरण है।

हरण—संतार एष इति—यह सतार रूप (कूपी) है इसमें विपत्ति, जन्म लेना, अनेक प्रकार के—आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक दुःख सलिल (जल) हैं। धर्म कर्म रज्जु है, जिस के द्वारा उसमें डूबे हुए का उद्धार (निष्कासन) होता है, धर्म करने से बड़े से बड़े पाप भी नष्ट हो जाते हैं और बल्याण हो जाता है 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयस सिद्धिः स धर्मः। यह धर्म का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। अर्थात्—जिससे इस लोक में और परलोक में बल्याण (सुख) हो वह धर्म है। दूसरा उदाहरण—विप्रो वृक्ष इति—ब्राह्मण एक वृक्ष है, संख्या उसकी जड़ है, वेद शाखा हैं, धर्म कर्म पत्ते हैं। जिसस मूल की रक्षा ही वह उपाय सब को करना चाहिये।

(प्रतीपालकारलक्षणम्)

प्रतीपमुपमानस्य कर्मथ्यं यदि मन्यते ।

उपमेयस्यैवोपमानप्रयोजनसाधकत्वेन उपमानकर्मथ्यं, तिरस्कार-फलकोपमानव्यर्थतोक्तिरिति यावत् प्रतीपालकारः। प्रतीप निम्नोन्नतस्थलं तत्सादृश्यादलंकारे लक्षणा। यथा जगद्धरस्य—

‘शान्त मनो यदि धर्मनियमे, किमन्यं,
वाणी यदि प्रियहिता स्तुतिचातुभिः किम् ।
कारुण्यमस्ति यदि किं व्रतहोमदानं,
भक्तिभवे यदि किमन्यमुज्जाभितार्थं ॥

यमनियमो प्रसिद्धौ, स्वार्थमनपेक्ष्यपरदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम्, व्रत भोजननिवृत्तिः। व्रतमिति निवृत्तिकर्मेति निश्चोक्तेः। बह्व्यधिकरणक-वतनावच्छिन्नसमन्त्रकक्रियाहोमः। स्पष्टमन्यत्। अत्र शान्त्यादिपुक्तमन-साद्युपमेयसत्त्वेप्रमाद्युपमानाना व्यर्थताभिधानात्प्रतीपालकारः। यथावा मम हे राष्ट्रपति राजेन्द्र, सति युष्मत्कराम्बुजे।

किमर्थं रचिते धात्रा कल्पद्रुः कामधुक् तथा ॥

(उत्प्रेक्षालकारलक्षणम्)

संभावना स्यादुत्प्रेक्षा स्वरूपफलहेतुभिः ॥१०॥

स्वरूपफलहेतुत्वेन संभावनोत्प्रेक्षालकारः। न च हेतुकलयोरपि

स्वरूपत्वेन स्वरूपोत्प्रेक्षं च सर्वत्र वक्तुमुचितेति वाच्यम् । तस्यां निर्दिष्टेतर-
स्य किंचिद् विचित्रत्वात् । सभावना चोपमानकोटिकः संशयः । उपमेय-
स्योपमानत्वेन सभावनोत्प्रेक्षेति तदाशयः । उत्कटोपमानस्य प्रेक्षा = सन्देहो
यत्रेति व्युत्पत्तेः । अतएव नात्र सन्देहालंकारः । सन्देहे द्वयोस्तुल्यकोटिक-
संशयात् । उपमायामुपमानोपमेयत्वं लोकसिद्धिमिह च कविप्रतिभोत्थापित-
निति नोपमापि ।

यदाह चक्रवर्त्यपि—‘यदायमुपमानाशो लोक्तं सिद्धिमृच्छति । तदो-
पमेयं येनेवशब्दः साधर्म्यंवाचकः । यदा पुनरयं लोकादतिद्वः कविकल्पितः ।
तदोत्प्रेक्षंयं येनेवशब्दः सभावनापरः ॥ सभावना च कविप्रतिभोत्थापित-
वचनकारिणीति न विस्मयतं वच्यम् । क्रमेणोदाहरणानि । तत्र स्वरूपोत्प्रे-
क्षा यथा भर्तृहरेः—

‘गुणना स्तनभारेण मुलचन्द्रेण भास्वता ।

शानैश्वरान्या पादान्यां रेजे प्रहमधीव सा ॥

गुणना महता, पक्षे गृहस्पतिना, स्तनभारेण—स्तनयोभारेण, स्तना-
दीनां द्वित्वविशिष्टा जातिरिति वामनः । भास्वता देदीप्यमानेन, पक्षे
सूर्येण, स्पष्टमन्यत् । अत्र इत्येतेन तादान्म्यमंवादनद्वारा, वाचित् योषिद्-
गुर्यादिप्रहमधीवस्वरूपेणोत्प्रेक्षिता ।

फलोत्प्रेक्षा यथा हरविजये—

मन्शास्त्रिनो गतिनिर्भरपूर्यमाणगभीरकुक्षिगुहरोद्गतदीर्घनादम् ।

अद्यापि यस्य निरगि प्रियमेत्यनन्तवेदेष्वनीष परमेष्ठिनिर-रुपात्तम् ॥

परमेष्ठिनिर रुपात्त यस्य-भगवतो हरस्य, निरगि अद्यापि अज्ञान-
वेदेष्वनीष प्रियं शोभामेति । अत्र परमेष्ठिनो ब्रह्मणः निररुपात्त,
गङ्गाजलगतापननादायच्छिद्रमनारुतवेदेष्वनियस्येन यनेनोत्प्रेक्षितम् ।

हेतुप्रेक्षा यथा नैपथ्ये—

अनादिगंगत्रिजिषानुभूता विभ्रंषु वा भीममुत्तानमेन ।

जातं च यद्वा द्वितान्धरस्य सा दाम्बरीनिष्पमलसि रिरु ॥

सा भीममुक्ता दमपत्नी, मनेन प्रतिदिशमलदि दृष्टा । द्वितशम्बरस्य-
कामस्य शाम्बरीशिस्यभिष । अत्रासीकर्ममीसाक्षात्कारो जन्मान्तरानुभवाद्वा,
धिप्रानुभवाद्वा, केवलमवदनमापाद्यसाध्वेति हेतुत्प्रेक्षा । अलकारसर्वस्वकारमते
जातिगुणद्रव्यत्रियाभिरप्युत्प्रेक्षणं भवति । जात्यादीनामभावोत्प्रेक्षा यथा-
वाल्मीकीयरामायणे—

‘बाहुजानां समरतानामभाष इव मूर्तिमान् ।

जयत्यतिबलो रामो आमदग्न्य प्रतापवान् ॥

बाहुजानां जातिविशेषावच्छिन्नप्रेक्षायां, क्षत्रियाणामित्यथ । ‘बाहु-
भ्यां राजय इति ध्रुते । मूर्तिमानभाव इव प्रध्वसाभाव इव, अभावभावो
मुक्तावलिटीकायां विभावितोऽस्माभिविस्तरेण । राम धीवरशुराम । श्रुति-
रप्येन वर्णयति—‘प्रोवाच रामो भागंवेवो विश्व-तरायेत्वादी । अत्र क्षत्रि-
यत्वजात्यवच्छिन्नाभावोत्प्रेक्षा । ‘समस्तलोक्यु खानामिति प्रथमचरण-
निर्माणे कृते गुणत्वावच्छिन्नाभावोत्प्रेक्षापि तु सस्य गुणत्वात् ।

त्रियाभावोत्प्रेक्षा यथा मम—

युवतोयुवकावेती परस्परमदर्शनात् ।

मग्येऽतिकीर्णतां याती वियोग कर्नं दुसह ॥

अत्र दर्शनक्रियाया अभावोत्प्रेक्षा । द्रव्याभावोत्प्रेक्षा यथा—

मुखं न शोभते ह्यस्या क्षीणचन्द्र इवापर ॥

अत्र क्षीणचन्द्र इति द्रव्यवाचकत्वाद् द्रव्याभावोत्प्रेक्षा । एता अभावा-
भिधाना । भावाभिमानाश्च स्वयं बोध्या । पुनश्च ता द्विविधा वाच्या
प्रतीयमानाश्च । इवादीना सत्त्वे वाच्योत्प्रेक्षा उक्ता उदाहृताश्च । ता इवाद्य
भावे प्रतीयमाना यथा नैयधे—

परिखावल्यच्छलेन या न परेषा ग्रहणस्य गोचरा ।

फलिभादितभाष्यफक्किका विद्यमा कुण्डलनामवास्ता ॥

या कुण्डिनपुरी परिखावल्यच्छलेन परेषा शश्रूणां ग्रहणस्य न गोचरा
विद्यमा दुर्बोधा पत्तञ्जलिकृतभाष्यफक्किका कुण्डलनामापितेष अत्र
कुण्डिनपुर्या कुण्डलिप्रयत्वेनोत्प्रेक्षा, सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमाना ।

प्रतीपमिति—उपमान को निष्कृत बताना प्रतीप अलंकार कहाता है। प्रतीपनिम्नोन्नत (ऊँचे नीचे) स्थल को कहते हैं उसकी समानता में यह साक्षादिक शब्द है।

उदाहरण—शान्तमिति—यदि मन शान्त है तो अन्य यम नियमों की क्या आवश्यकता। यदि वाणी शिव और हितवाक्य बोलने वाली है तो स्तुति और चाटु वचनों की क्या आवश्यकता। यदि मन में दया है तो व्रत, होम और दान करने की क्या जरूरत है। यदि शिव में भक्ति है तो अन्य सुखों की इच्छा करना व्यर्थ है। यम नियम प्रसिद्ध ही हैं, स्वायं त्याग-पूर्वक पद दुःख को हटाने की इच्छा दया है। व्रत—न माना, समन्वक द्रव्य-याग—अग्निहोम' यहाँ शान्त्यादि मुक्त मन रहते वन-नियमादि की व्यर्थता बताई गई है ॥

प्रतीप का दूसरा उदाहरण—हे राष्ट्रपतीति—हे राष्ट्रपते राष्ट्र, आपके कर-कमलों के रहते हुए, विघाता ने कलद्रुम और कामधेनु दोनों ही व्यर्थ बनाये। यहाँ दोनों की व्यर्थता शब्द द्वारा कही गई।

उपप्रेक्षा का उदाहरण—समावनेति—स्वप्न में, पत्र में और हेतु में जहाँ किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में समावना की जाय वह उपप्रेक्षानकार होता है। यद्यपि हेतु और पत्र का भी स्वप्न होता है तो भी उसमें कुछ वैचित्र्य अवश्य रहना है, समावना प्रायः उपमान कीटि के मदाय को कहते हैं। सन्देह में दो कीटियाँ समावन रहती हैं। उपमा में उपमान और उपमेय दोनों लोक-सिद्ध होते हैं, और उपप्रेक्षा में कवि की प्रतिभा से कल्पित होते हैं इसीलिये यह उपमा भी नहीं हो सकती। अक्षर-प्रयक्षर यही दाउ चक्रवर्ती ने बाध्यप्रकाश की अपनी टीका में कही है—यदायमिति—समावना भी यहाँ कवि-प्रतिभा से कल्पित ही चमत्कारजनक होती है अल्पमा नहीं।

स्वरूपोपप्रेक्षा का उदाहरण—गुह्योति—गुह्य (महात्) स्तनों के भार से, पक्ष में वृहस्पति से, भास्वान्-देदीप्यमान मुग्यचन्द्र ने, पत्र में—सूर्य और चन्द्र से, शनैः शनैः चलने वाले परों से, पक्ष में—शनिदेव से वह

नामिका मय प्रहमयी-नी गोभिन हर्द । यही एक स्त्री के प्रहमय स्वम्प
का उत्प्रेक्षण किया गया है ।

पत्नीप्रेक्षा का उदाहरण—मावास्त्रिनीति—गङ्गाप्रस से सम्यक्
पूर्वमाग जो गभीर कुश (कोल) वही कुहर गुवा, उगमे निःसृत दीर्घ
गङ्ग जिनमे ऐसा ब्रह्मा का सिर बसान, जिन मगवान् शहर के गिर
मे सगङ्ग निरन्तर वेदधरि करता हुआ मा गोभा को प्राप्त हो रहा है ।
यही निरन्तर वेदधरि रूपन की उत्प्रेक्षा की गई है ।

हेतूप्रेक्षा का उदाहरण—अनाद्योति—अनादि सृष्टि-गरम्परा मे
अथवा पित्रो मे प्रयत्न की गई अथवा शबरारि काम द्वारा संगति
उम समय ती को इन्द्रजान पिछापू मय दिशा में नल ने देगा ।

यही जन्मातरानुभव, पित्रानुभव अथवा कामवत्त ये हेतु होने से
हेतूप्रेक्षा है । पलतार-गर्वेस्वरकार (रव्यक) के मत से जाति गुण द्रव्य
ओर क्रिया इन सभी मे उत्प्रेक्षण हो सकता है । उदाहरण—

आहुजानामिति—शत्रिय जानि के प्रध्वसाभाव करने वाले महा-
बनी, प्रतापगानी, और जमदग्नि के पुत्र श्रीपरशुरामजी, सर्वोत्कर्ष मे
वर्तमान हैं । यही शत्रियत्य जानि का अभाव उत्प्रेक्षित किया गया है ।

समस्तलोकदुःखानां—ऐसा पढ़ने पर गुणस्वाभाव का उत्प्रेक्षण
होगा, क्योंकि दुःख गुण है । स्परसादि गुणो मे गुण्य और दुःख का भी
पाठ है, द्रव्यकर्म भिन्न गुण होता है ।

क्रिया भावोप्रेक्षा का उदाहरण—युवतीति—ये दोनों स्त्री और
पुरुष परस्पर अदर्शन के कारण ही अतीव क्षीण हो गये हैं, ऐसा मैं
मानता हूँ क्योंकि वियोग दुःसह होता है । यही दर्शन क्रिया का
अभाव है ।

द्रव्याभावोत्प्रेक्षा का उदाहरण—मुख नेति—इस नायिका का मुख
इस प्रकार अक्षीभित है मानो अपूर्ण चन्द्र हो । चन्द्र एक ही है अतः यही
द्रव्याभावोत्प्रेक्षा है । उत्प्रेक्षा दो तरह की होती है वाच्या और प्रतीयमाना,
इवादि के रहने पर वाच्या न रहने पर प्रतीयमाना । प्रतीयमाना का

उदाहरण—परिष्ठा द्यल से जो कुण्डिनपुरी खाई के घेरे के द्यल से घिरी हुई विषम (दुर्जेय) अतः कुण्डलित पतजलि रचित भाष्य की फट्टिका के समान विषम—अप्रवेद्य और शत्रुओं से अग्राह्य थी। यहाँ इवादि होने से प्रतीयमानोन्प्रेक्षा है।

(उल्लेखालकारलक्षणम्)

बहुभिवंहृद्यैकस्योल्लेखेनोल्लेख इष्यते ।

एकस्य बहुभिवंहृद्यप्रकारेणोल्लेखनमुल्लेखालकारः । बहुघोल्लेखने च रूपादिकं प्रयोजकम् । यदुक्तम्—

ययारुचि ययार्थित्वं यया वुत्पत्तिभिद्यते ।

आभासोऽप्यर्थ एऋस्मिन्ननुसंधानसाधितः ॥

यया मम—

योगज्ञो योगिभिर्भोजः शाब्दिकंरथ शाब्दिकः ।

वैद्यैर्वैद्यः सभामध्ये कविभिर्दंष्ट्रैः कविः ॥

योगिभिर्योगशास्त्रज्ञैः, शाब्दिकंर्वैयाकरणैः, स्पष्टमन्यत् । योगज्ञ-त्वादिकं च वास्तविकमेवेति न भ्रान्तिमत्त्वम् । अत्र योगिप्रभृति-ग्रहीतृ-भेदादेकस्य भोजस्य योगज्ञत्वादिनोल्लेखश्चमत्कारजनकः । अभेदे भेद-रूपातिशयोक्तितो नाय भिद्यते, इति सुधासागरकाराद्युक्तिस्तु तुच्छा, अलंकारतत्त्वज्ञानां प्राचीनानां विभागस्यापामरेण खण्डयितुमशक्यत्वात् । सन्देहाश्रयोऽप्यय भवति—

‘किं भानुः किमु चित्रभानुरिति यं निश्चिन्वते वरिणः’

इत्यादावैकस्यैवानेकधात्वोल्लेखनादिति सूक्ष्ममोक्षणीयम् ।

(भ्रान्तिमदलंकारलक्षणम्)

तौल्यादतस्मिन्या तद्धीर्भ्रान्तिमान् प्रतिभान्वितः ॥११॥

भ्रान्तिश्चित्तधर्मो विद्यते यस्मिन् स भ्रान्तिमान् । अतस्मिस्तद्भिन्न-यस्तुनि, तौल्यात्तुल्यताप्रपुवतं तद्वस्तुत्वप्रकारकं ज्ञान भ्रान्तिमानलंकार

उत्प्रेक्षाया सम्भावयितुः सभावनाविषयस्य प्रकृतस्य ज्ञान भवति नात्रैति
भेद । इव रजतमिति रङ्गविशेष्यकदोषवारणाय प्रतिभान्वित इति विशेष-
णम् । कविप्रौढोक्तिनिष्ठ इति तदर्थः । उदाहरणम्—

पलाशकुमुमभ्रान्त्या शुक्रतुण्डे पतत्पनिः ।

सोऽपि जम्बूकलभ्रान्त्या तमालि धर्तुमिच्छति ॥

शुक्रतुण्डे—शुक्रमुखे, 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती'-
त्याभाषणात् । सोऽपि शुक्रोऽपि तमालि भ्रमर स्पष्टमन्यत् । अत्र परस्पर-
निबन्धना भ्रान्तिश्चमत्कारकारिणी, चमत्कारजनकतामन्तरेणालकारस्वा-
योगात् ।

दामोदरकराघात विह्वलीकृतचेतसा ।

दृष्ट घाणूरमल्लेन शतचन्द्र नभस्तलम् ॥

इत्यत्र तु नापमलकार । मर्मप्रहारकृतवित्तविशेषजग्यभ्रान्तेः
समानताप्रयोज्यत्वाभावात् ।

उल्लेखालकार का निरूपण करते हैं—बहुभिरिति—बहुतो से एक
ही वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन) करना उल्लेखालकार
कहाता है । बहुधा वर्णन में कथादिक प्रयोजक होते हैं । यथेति—
जिसकी जैसी शक्ति होती है, जिसका जैसा मतलब होता है जिसकी जैसी
व्युत्पत्ति (भावना) होती है, उसे वह वस्तु वैसी ही दीखती है । उदा-
हरण—योगज्ञ इति—यहा भोज म योगज्ञत्वादि घर्म वास्तविक हैं
अत यहा भ्रान्तिमात्र अलकार नहीं । वस्तुतः भोज या भी ऐसा ही ।
एक ही भोज में अनेक प्रकार का वर्णन चमत्कारजनक है । सुधासागर
कार ने अनेक में भेदरूपातिशयोक्ति में ही उल्लेख का अन्तर्भाव किया
है परन्तु वह ठीक नहीं क्योंकि अलकार के मर्मज्ञ प्राचीनों का विभाग
खण्डित नहीं हो सकता । सन्देहाश्रय भी उल्लेख देखने में आता है—किमानु-
रिति—यथा यह भानु (सूर्य) है अथवा चित्रभानु (अग्नि) है । इस प्रकार
कहते हुए जिसको निश्चित करते हैं यहा भी एक व्यक्ति का ही अनेक
प्रकार से उल्लेखन (वर्णन) किया गया है ।

भ्रान्तिमान् अलकार का लक्षण—तौत्यादिति—सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को यदि वह कवि-प्रतिभा से भ्रान्ति हो भ्रान्तिमान् अलकार कहते हैं। उत्प्रेक्षा में प्रकृत का ज्ञान रहता है पर यहा नहीं।

इद रजतम् —यहा रङ्ग-विशेष्यक शाब्दबोध को हटाने के लिये प्रति-भान्वित विशेषण कहा, जिसका अर्थ है—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध। उदाहरण—पलाशेति—ढाक का पुष्प (टेसू) के भ्रम से भ्रमर तोते के मुख पर बार-बार पडता है। तोता भी जम्बू (जामन का) फल समझ कर भ्रमर को खाना चाहता है। यहा दोनो को ही भ्रम होना चमत्कार-जनक है। जहा चमत्कार नहीं बहा अलकार ही नहीं होता। इसीलिये 'दामोदर' इस पद्य में यह अलकार नहीं है क्योंकि यहा चित्त-विक्षेप होने के कारण भ्रान्ति हुई है, समानता प्रयोज्य नहीं।

(सन्देहालंकारलक्षणम्)

प्रस्तुतेऽन्यस्य सन्देहः चमत्कारकरः स हि ।

उपमेयतावच्छेदके उपमानतावच्छेदकस्य चमत्कारजनक-सादृश्यजन्यः सन्देहः सन्देहालंकारः। अयमलंकारसर्वस्व-प्रकाशादियु ससन्देह इति कथ्यते। उदाहरण भ्रम—

किमय खलु मार्तण्डः कृशानुरथ किमयः ।

विक्रमादित्यमालोषय रणे सन्दिदिहे शकः ॥

विक्रमादित्यम्—विपमशील विक्रमादित्यम्, अयं विक्रमादित्यो गायसप्तशती, राजतरङ्गिणी, कथासरित्सागरादियु वर्णितो विपमशील-हर्षाद्यपरनामा महेन्द्रादित्यपुत्रः शक-सयत्प्रवर्तको ब्राह्मणथशावर्तस-कुन्तलसातकर्णः सातबाहनधिक्रम आसीत्। गायसप्तशतीकर्ता दीपकर्ण-सूनुः हाल सात बाहनस्तु गौतमीपुत्रः सातकर्णिरासीत्। अयिकं मदीये संस्कृतेतिहासे द्रष्टव्यम्। अत्रोपमेयभूत-विक्रम-राजनि दुर्निरीक्ष्य दुराघर्ष-सकलहन्तृत्वसामान्यान्मार्तण्ड-कृशानु-कृतागत्य-संशयः चमत्कारकारकः ॥

निर्णयान्तोऽप्यसौ दृश्यते यथा—

दूरतया स्थूलतया नीलतया दानलोसुवंसंधुपैः ।

भ्रामितमिभराजधिया हन्तामोदन्ततो महियः ॥

मधुरेभ्रमरैः । इभराजधिया = हस्तिभ्रमेण, हन्तेति दुःखे । स्पष्ट-
मन्यत् । अन्योक्तिरप्यत्र ध्वन्यते । किमाद्यभावे प्रतीयमानोऽप्यसौ भवति ।
यथा नैपथे—‘सहीकृतार्था यदि मानवोऽस्ति जित दिव्या यद्यमरेषु कोऽपि ।
फुल स्वयश्लकृतमोर’ चेन्नाघोऽपि कस्योपरि नागलोकः ॥ नागलोक-
पातालमघोऽपि सर्वोपरीत्ययः ॥ यत्त्वत्र ‘तीरे तरण्या बदनं सहास’मिति
पद्यमुदाहृत्य, अत्र पुरोवर्तिनि कमलमिदमिदं वेति भ्रमरगतः संशयो
व्यङ्ग्य इति रसगङ्गाधरकार उक्तवास्तन्न शोभनम् । अत्र ‘आलोक्य
धावन्युभयत्र मुग्धा, इति मुग्धपदेनोभयत्र सहकारेण संशयस्य
वाच्यत्वात् । एव चाग्निमोऽपि उदाहरणं सशयस्य वाच्यत्वमेव तद्वाचक,
किञ्चिदसद्भावादित्यलंकाराचार्यो विचार्य किमुक्तं सैलङ्गपुङ्गवेन ।

(अपह्नुत्यलंकारलक्षणम्)

अपह्नुतिरलंकारोऽपह्नुत्वात्कस्यचिद्भवेत् ॥१२॥

किञ्चिदपह्नुत्यान्वयस्य सत्यतया स्थापनमपह्नुतिरलंकारः । यथा
नैपथे—

साक्षात्सुधांशुमुखमेव भैम्या दिव पुनर्लाक्षणिकः शशाङ्कः ।

एतद्भ्रुवो मुखमनङ्ग चापं पुष्पं पुनः तद्गुणमात्रवृत्त्या ॥

लाक्षणिको लक्षणाम्यो नत्वभिधेयः । लक्षणा च शक्यतावच्छेद-
कारोपः अभिधेयत्वापेक्षया लाक्षणिकत्वस्य जघन्यत्वमेव ।

अत्र चन्द्रे सत्यमुधाशुत्वमपह्नुत्य भैमीमुखे सत्यमुधाशुता स्थापिता ।
एवं एतद्भ्रुवावेव मुख्य कामधनु पुष्पं तु भ्रूगुणोद्दीपकरत्वादि गुणसाम्यात् ।
'न विष त्रिपमित्याहुर्ब्रह्मस्व विषमुच्यते', इत्यत्रापीयमेव न तु रसगङ्गा-
धरालंकारकोस्तुभकाराम्यामुक्तं वृद्धारोपरूपक दण्ड्यादिग्रन्थविरोधात् ।
न चैव प्रकृतान्यत्वरूपातिशयोक्तिः । प्रकृतं निषिद्धान्यार्थस्य स्थापनात् ।

नाय सर्वं, इत्यादिर्नास्त्य विषयः । क्विप्रतिभया तदनुत्थानात् ।

सन्देहाकार का लक्षण—प्रस्तुत इति—प्रस्तुत अर्थात् उपमेय में अथ अर्थात्—उपमान का संगय होना सन्देहाकार होता है परन्तु संगय चमकारजनक होना चाहिये । सर्वम्वादिकों में यह नसन्देह नाम ने कहा गया है । उदाहरण—क्विमयमिति—यह विक्रमादित्य क्या मूर्यं है, क्या अग्नि है, अथवा यमराज है रणभूमि में विक्रमादित्य को देखकर इस प्रकार एक राजाओं ने सन्देह किया । यहाँ उपमेयभूत विक्रमादित्य राजा में—दुर्निरोक्ष्यत्वेन मूर्यं का, दुराघर्षत्वेन अग्नि का, सकल हन्तृत्वेन यमराज का सन्देह हुआ । और यह सन्देह चमत्कार को धारण करता है । सन्देहाकार निरुपयान्त भी देखा जाता है । उदाहरण—दूरतयेति—दूर (नम्वा चौड़ा) होने से, म्यूल (हृष्ट-पुष्ट) होने से, नील (काला) होने से, दान की इच्छा वाले भ्रमर हाथी के सन्देह से इधर उधर घूमे, परन्तु खेद है कि वह महिष (भैंसा) निकला । यहा अन्योक्ति भी घनित होती है । यहा रसगद्गाघरकार ने दो उदाहरण दिये हैं और दोनों में सगय को व्यङ्ग्य माना है परन्तु दोनों में ही सशय वाच्य है, व्यङ्ग्य नहीं । कारण—पहले में सशय का वाचक 'मुग्धपद' है । दूसरे में सशय का वाचक 'कि' शब्द है । अलकार के विद्वानों को जानना चाहिये कि नैलङ्ग पुद्गव (जगन्नाथ) ने यह क्या कहा ।

अपन्हृति का लक्षण—अपन्हृतिरिति—सय को अमत्य बनाकर किसी को सत्य बनाना अपन्हृति अलकार कहाता है । उदाहरण—साक्षादिति—भैमी (दमयन्ती) का मुख ही सत्य चन्द्रमा है, आकाश का कलङ्कयुक्त चन्द्रमा सय-चन्द्रमा नहीं है । यहा चन्द्र की सत्यता हटा कर भैमी मुख की सत्य-चन्द्रता सिद्ध की है—न विषय—यहा भी यही अलकार है, रसगद्गाघरकाराद्युक्त दृढारोप रूपक नहीं क्योंकि दण्डभादि के ग्रन्थ से विरोध है । प्रतिशयोक्ति भी यहा नहीं । नाय में अपन्हृति नहीं क्विप्रतिभा से उपापित न होने से ॥

(निश्चयान्कारलक्षणम्)

उपमानं निषिद्धान्यस्थापनं निश्चयो मतः ।

उपमानं निषिद्ध्य, प्रकृततावच्छेदकरूपेण ज्ञातस्पोपमेयस्य स्थापनं निश्चयान्कारः । यथा दर्पणे—

वदनमिदं न सरोजं नयने मेन्दीवरे एते ।

इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर मुदा किं परिभ्रमसि ॥

हे भ्रमर, इदं मुखं न कमलम्, न च यद्धर्मावच्छिन्नवाचकपदोत्तरं नञ्पद प्रयुज्यते, तद्धर्मावच्छिन्नाभाव एव नञा बोध्यत इति नियमः । तथा चेदन्तावच्छिन्नवदनत्वाभावो बोध्यते न सरोजत्वाभाव इति वाच्यम् । सति तान्पर्येऽन्याभावबोधनस्याप्यानुभविकत्वात् । अत्रोपमानभूतसरोजादीना निषेधेनोपमेयभूतवदनादेः स्थापनान्निश्चयान्कारत्वम् । 'निश्चित्य वदामि तुम्यमिति' नास्य विषयो वैधित्याभावात् ।

(अतिशयोक्तथलकारलक्षणम्)

कथ्यतेऽतिशयोक्तिः सा प्रस्तुतोत्कर्षणीयतः ॥१३॥

अतिशयिता लोकोत्तरोक्तिरतिशयोक्तिः । अतिपूर्वकशीङ्घातोत्कर्षे वृत्तिः । उत्कर्षश्चाधिक्यफलको न्यङ्कारो नत्वाधिक्यमात्र तथा सत्यकर्म-कत्वापातात् । न चेष्टापतिः शुक्लमतिशेते शुक्लतर इति भाष्यविरोधात् । यत्तुनीयार्थोत्कर्षेयोधजनकत्व तत्त्वम् । इयं पञ्चविधा अभेदे भेदरूपा, भेदेऽभेदरूपा, असंबन्धे संबन्धरूपा, संबन्धेऽसंबन्धरूपा, कार्य कारणविपर्यय-सरूपा चेति । अभेदे भेदरूपा यथा मम—

अन्या विक्रमसंपत्तिरन्या चातुर्यधोरणी ।

अन्यद्वयं च गाम्भीर्यं विक्रमादित्यभूपतेः ॥

अत्र विक्रमस्य लोकप्रसिद्धविक्रमादेरभेदेऽपि लोकोत्तरत्वप्रतिपादनाय भेदो वर्णितः । अयं विक्रमादित्यः चन्द्रगुप्त द्वितीय आसीत् । काव्यकार-हरिण्येण कालिदासोऽप्येव सभाकविरासीत् । अधिकं मदीये संस्कृतेति-हासे द्रष्टव्यम् भेदेऽभेदरूपापि यथा ममैव—

कामे यदस्ति सौन्दर्यं प्रतापस्तपने च य ।

रामे पश्यतु तत्सर्वं विष्णौ यश्च बलोच्चय ॥

अत्र कामादि-रूपादेर्भेदेऽपि सर्वगुणाभिरामे रामेऽभेदो वर्णितः । असंबन्धे सबन्धरूपा यथा विक्रमाङ्कचरिते विह्वलस्य—

सहोदरा कुकुमकेसरारणा भवन्ति नून कविताविलासा ।

अत्र कुकुमकेसरारणा कविताविलासानां च सहोदरत्व तर्कितमेव न तु वस्तुतः । तेन कविता-विलासानामतिशयो ध्वयते । ममापीय यथा—

गृहा नगर्या देहल्या विहायस्तलत्रुम्बिन ।

अत्र पुम्बनस्य चक्रसयोगस्य गगनतले वाघात्सयोगे लक्षणा, गृहा-णामत्युच्चत्वबोधन प्रयोजनम् । सबन्धेऽसबन्धरूपा यथा—

रे चित्त, चित्तय चिर चरणौ मुरारे पार गमिष्यसि यथा भवसागरस्य । पुत्रा कलत्रमितरे न हि ते सहाया सर्वं विलोक्य सखे मृगतृप्णिकाभम् ॥

अत्र स्वस्य पुत्रकलत्रादिना लौकिकसबन्धेऽप्यसबन्धो वर्णितः । कार्य-कारणपोर्वाप्यविपर्यासो द्विविधः । कारणात्कार्यस्य पूर्वं निबन्धने द्वयोः समकालावच्छेदेन निबन्धने च । प्रथमो यथा मम—

चिरमुत्कण्ठित चित्त देवकीवसुदेवयो ।

पूर्वमानन्दित पश्चादभवत्कृष्णसमभ ॥

अत्र कृष्णजन्म-कारण वित्तानन्द कार्यम् । द्वितीयो यथा वामदेवस्य, सममेव समाक्राम्यद्वीररत्न जवाहर ।

हिन्दुस्थानराजधानी हिन्दुस्थानस्य दुर्हन्द ॥

हिन्दुस्थानराजधानी देहलीम् । दुर्हन्द शत्रून्प्रजान् समाक्राम्यदजंष्ट । अयमलक्षारो घेदेऽपि दृश्यते 'द्वामुपर्णा सयुजासक्तायो समान कुक्ष परि-ष्यज्जाते । तयोरेव पिप्पल स्वाद्भस्ति अनश्नन्नयोऽभिचाकशीति । अयम-भेदेऽपि भेदरूपातिशयोक्तिः । सिद्धा तश्चुतियु जीषद्रह्यणोरभेदरयं वरणं नात् । न च 'नाहमीश्वर' इत्यादि प्रत्यय तत्र मानम् । अह गौर इत्यादिवद्भात-त्वात् । न च सहोऽप्यश्रुतिरप्रमाणेति वाच्यम् । भक्त्यर्थं क्वपि न द्वैत-मदंतादपि सुन्दरमिति सिद्धान्तेन द्वैतार्थमस्याः श्रुतेरावश्यकत्वात् ।

द्वैधं तु यत्र स्यात्प्रमाणमुभयं तत इत्युक्तेश्च ॥ अधिकं मदीयवेदान्तसार-
टीकायां द्रष्टव्यम् ।

निश्चयालकार का लक्षण—उपमानमिति—उपमान का निषेध
करके उपमेय की स्थापना करना निश्चयालकार है । उदाहरण—वदन-
मिति—हे भ्रमर, यह मुख है कमल नहीं, ये नेत्र हैं कमल नहीं, फिर तू
व्यर्थ ही इस स्त्री के आसपास क्यों घूम रहा है । यद्यपि 'वदनमिदं न'
का न वदन से आगे है उसी के अभाव का बोधक होना चाहिये तो भी
तात्पर्य होने पर अधिम के भी अभाव का सूचक हो जाता है । यह
सिद्धान्तकौमुदी-प्रकाश में हमने अर्थवत्सूत्र पर विचार किया है । यहाँ
उपमानभूत कमलादि का निषेध करके उपमेय वदनादि का स्थापन
किया गया है । वैचित्र्या भाव से 'निश्चित्य वदामि' में यह अलकार नहीं ।

अतिशयोक्ति का लक्षण—कथ्यत इति—प्रस्तुत (वर्णनीय) अर्थ के
उत्कर्ष की बोधजनकता अतिशयोक्ति अलंकार है । वह उत्कर्ष यहाँ
वर्णनीयार्थ की अधिकता अन्य का तिरस्कार-फलक है । केवल अधिकता-
मात्र नहीं ऐसा न मानने पर यह धातु अकर्मक बन जावेगा । अकर्मकता
भाष्यविरुद्ध है । अतिशयोक्ति के पाँच भेद हैं (उनमें अभेद में भेदरूपा
का उदाहरण—अन्येति—विक्रमादित्य की पराक्रमकला, चातुर्यप्रकार,
धैर्य और गम्भीरता ये सब अन्य ही थे । यहाँ यह दिखाया है कि विक्र-
मादित्य नरेश अलौकिक था ।

भेद में अभेद का उदाहरण—कामे इति—कामदेव में जो सौन्दर्य है
तपन (सूर्य) में जो प्रताप है और विष्णु में जो बल है वे सभी राम में
विद्यमान थे । यहाँ रूपादि का भेद होने पर भी अभेद का वर्णन
किया । असंबन्ध में सबन्धरूपा का उदाहरण—सहोदरा इति—कविता-
विलास कुकुम-केशरो के भाई हैं । यहाँ भ्रातृत्वसंबन्ध कल्पित है और
उससे कविता-विलासों का उत्कर्ष ध्वनित होता है । दूसरा उदाहरण—
गृहा इति—देहली के घर अत्यन्त ऊँचे हैं । यहाँ विहायस्तल घुम्बन का
संबन्ध कल्पित मात्र है, अत्युच्चत्व-बोधन प्रयोजन है ।

सबन्ध मे असबन्धरूपा का उदाहरण—रे चित्तेति—रे मन, तू कुछ समय भगवाद् विष्णु का चिन्तन कर, जिससे भवसागर को पार कर सके । पुत्र, स्त्री, भाई, बन्धु और मित्र तेरा कोई भी सहायक सबन्धी नहीं है । हे मित्र, देख, ये सब महमरीचिका सलिल तुल्य हैं । यहा पुत्रादि से लौकिक सबन्ध होता हुआ भी निषिद्ध किया है । कार्यकारण के पौर्वापर्य का विपर्यय दो प्रकार से होता है, एक तो कारण से पहले ही कार्य को वह देने से, और दूसरा दोनों के साथ-साथ कहने से । पहले का उदाहरण—चिरमिति—देवकी और वसुदेव का चिरवात्त से उत्कण्ठित चित्त पहले ही आनन्दित हो गया, और कृष्णजन्म पीछे हुआ । यहा कृष्णजन्म कारण है और चित्त का आनन्द होना कार्य । दोनों का विपर्यय हुआ ।

दूसरे का उदाहरण—सममेवेति—वीररत्न जवाहरलाल ने हिन्दु-स्थान की राजधानी देहली को और हिन्दुस्थान के परम शत्रु अंग्रेजो को एक-साथ ही वश मे कर लिया । यहाँ शत्रु जय कारण और नगरीवशी-करणकार्य दोनो एक साथ कहे गये । यह अलकार वेद मे भी देखा जाता है । द्वासुपर्णोति—दो जीव और ब्रह्म सुपर्ण—समान पतनशील, सयुजा—सहयोगी, सखि—मित्र, एक शरीर को आलिङ्गन करनेवाले, इनमे से एक सब आनन्दो का भोक्ता है दूसरा नही भोगता हुआ भी इच्छामात्र करता है । यह अभेद मे भेदरूपातिशयोक्ति है । अधिक हमारी वेदान्त-सार की टीका मे देखें । फिर यह श्रुति अप्रमाण है नही ? भक्ति के लिये वल्पित द्वैत (उपास्य उपासकभाव) अद्वैत से भी सुन्दर है । इस सिद्धान्त से यह श्रुति द्वैत के लिये प्रावश्यक है । और जहाँ दोनों जगह श्रुतिप्रमाण हों ये दोनो ही पक्ष ठीक हैं ।

(तुल्ययोगितालकारलक्षणम्)

प्रकृताऽऽप्रकृतानां वैकथमस्तुल्ययोगिता ।

प्रकृतानामेवाऽऽप्रकृतानामेव वा ॐ

तार्त्कारः । तुल्ययोगिताऽद्यो यत्रेति द्युत्पत्तेरन्वर्थसंज्ञेयम् । यथा मन—

आघयो व्याघयो लोके नेतयश्च कुरीतयः ।

नासन्मायः कुनायश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥

अत्र रामराज्यस्य प्रकृतत्वात्प्रकृतानामेवाध्यादीनामेकयानासत्त्व
क्रियया संबन्धः । इदमपि रामराज्ये बोध्यम् । नासीत् स्तेनो जनपदे न कदर्यो
न मद्यपः । नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कृतः ॥ यथा वा
चाण्वयनीती—

भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ।

विद्यार्यो निन्दकः शत्रुर्गुरुः शत्रुरपाठकः ॥

अत्र भार्यादीनां सर्वेषामप्रकृतानामेव शत्रुत्वरूपैकगुणसंबन्धः ॥

(दीपकालकारलक्षणम्)

प्रकृताऽप्रकृतानां चैकधर्मो दीपकं मतम् ॥१४॥

प्रकृतानामप्रकृतानां चैकधर्मान्वयो दीपकालकारः । दीप इव दीपकं
संज्ञायां कन्प्रत्ययः । प्रकृतंकनिष्ठ साधर्म्यमप्रकृतेऽणुपकरोति, प्रासादायै
रक्षितो वीधो रघ्यायामिवेति दीपकसाम्यम् । यत्तु रसगङ्गाधरकारेणोक्तं
तुल्ययोगितादीपकयोर्न यश्चन भेद इति । तन्न सम्यक् । प्रकृतानामप्रकृतानां
धर्मवये दीपकम् । । प्रकृतानामेव अप्रकृतानामेव वा धर्मवये तुल्ययोगि-
तेति द्वयोर्भेदस्य प्राचीनैः स्वीकारात् । उदाहरणं मन—

जनादेनस्य जाह्नव्या जनन्या जन्मभूमितः ।

प्रियायाः स्वस्य जातेश्च दर्शनात्को न तुप्यति ॥

अत्र प्रियत्वविशेषणोक्तजतिः प्रकृतत्वमितरेषामप्रकृतत्वमेकधर्मः
क्रियावृत्तयोपः । न चास्य विषये ध्वंग्योपमर्थेवास्तु निर्वाह इति वाच्यम् ।
काव्यस्य दीपकमुत्तेनैव चमत्कारकरत्वात् ।

तुल्ययोगिता का लक्षण—प्रकृताऽप्रकृतेति—केवल प्रकृत या केवल
अप्रकृत पदार्थो वा एक धर्माभिसंबन्ध तुल्ययोगिता होती है । अर्थात्
परस्पर संबन्ध का या अन्वय का तुल्य होना, जिस अलकार ने प्राक्-र-

एक में अथवा अप्राकरणिक में ही एक धर्म का अन्वय सवन्ध प्रदर्शित हो वह तुल्ययोगिता है ।

उदाहरण—आपय इति—श्रीगम के राज्य में न तो कोई आधि (मान-मिक व्याप्य) से दु खित था और न ही व्याधि (शारीरिक पीडा) से पीडित था । न कोई ईति (राजसवन्धी चौरसवन्धी तथा अवृष्टि, अधिक वृष्टि आदि उपद्रव था और न ही कोई सामाजिक कुरीतियाँ थी । न किसी भी प्रकार की कोई बीमारी थी और न कोई स्त्री या पुरुष व्यभिचारी थे । अर्थात् सब प्रकार से प्रजा सुखी थी । भाष्येति—रूपवती-भार्या शत्रु है, मूर्खं पुत्र शत्रु है, निन्दक द्यात्र शत्रु है—और जो गप्प लगाकर समय नष्ट करता है पढाना कुछ भी नहीं वह गुरु शत्रु है । यहाँ शत्रुत्वरूपक गुण सवन्ध है ।

दीपक का सक्षण—प्रकृत । प्रकृतेति—जहाँ प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों में एक धर्म का सवन्ध हो वहाँ दीपक अलंकार होता है । दीपक शब्द में सज्ञा अर्थ में कन्प्रत्यय हुआ । अर्थात् जहाँ प्रकृत धर्म अप्रकृत में भी उपकार करे जैसे घर में रखवा हुआ दीवा गली में भी प्रकाश करता है । उदाहरण—जनादेनस्येति—भगवान् जनादेन (कृष्ण) जाह्नवी (गङ्गा) जननी (माता) जन्मभूमि और अपनी जाति, इन पाँचों के देखने में कौन ऐसा होगा जिसके हृदय में आनन्द न होता हो । यहाँ जाति प्रकृत है और सब अप्रकृत, एक धर्म तोष क्रिया है । यहाँ दीपक का चमत्कार होने से व्यग्योपमा नहीं हो सकती ॥

(प्रतिवस्तूपमालंकारनक्षणम्)

धाव्ययोरेकधर्मत्वे प्रतिवस्तूपमा मता ।

उपमानवाक्ये उपमेयवाक्ये चैकरय साधारणधर्मस्य शब्दभेदेनोपादाने प्रतिवस्तूपमालंकारः । प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमेति व्युत्पत्तेः । धाव्ययो-रिति वाक्यानामप्युपलक्षणम् । तथा चैकरय विभिन्नशब्दोपात्तत्वे प्रति-

वस्तूपमेति फलति । एकेति दृष्टान्तव्युदासाय । उदाहरणं मदीये सस्कृते-
तिहासे—

को न प्रसोदति जनः समीक्ष्य किरणावलिम् ।

कुसुमाञ्जलिमाघ्राय कस्य चेतो न नृप्यति ॥

अत्र धावपद्वये प्रसन्नताएष एको धर्मः शब्दद्वयेनोपात्तः । प्रमाद-
नृप्योरनर्थान्तरत्वात् । किरणावलिः कुसुमाञ्जलिग्यायप्रणयो, पक्षे—
किरणानामावलिः कुसुमानामञ्जलिः । श्लेषचमत्कारादत्तकारत्वम् ।

उत्कर्षे उपमेयस्योपमानाद् व्यतिरेककः ॥१५॥

उपमानापेक्षयोपमेयस्य गुणविशेषदृष्टोत्कर्षो व्यतिरेकालंकारः ।
यथा मम—

कलङ्कुक्षमग्न्योऽसि विभयि सक्लाः कलाः ।

सदा सम्पूर्णं कृष्ण एवं चन्द्रो मूर्खेण भण्यते ॥

अत्रोपमानभूतचन्द्रापेक्षयोपमेयभूतधीदृष्ट्यस्योत्कर्षो वर्णितः । यथा मम
गृहे गृहे कलत्राणि मातरश्च गृहे गृहे ।

मामनी सहस्री माता पत्नी भक्त्या न सहस्री ॥

न च श्लोकाद्यत्रय कसत्र शब्दस्य कर्षं नपुंसकत्वमिति वाच्यम् ।
एकार्ये शब्दाग्यवाद् दृष्टं लिङ्गाग्यत्वमिति भाष्योक्तेः । यथा पुष्यः तारा-
नक्षत्रमिति चंपटः । अत्राग्यमातृवत्नीनामपेक्षया स्वभाग्यत्वयोः पुत्रस्य-
रगत्यपतिभक्तिरूपगुणोत्कर्षः क्विना क्वलितः । अलक्षारमर्षव्यवहाररूप-
मानापेक्षयोपमेयस्य ग्यूनत्वेऽपि व्यतिरेकमाह यथा मम—

धोदृष्ट्यात्तननिःगृता भगवन्नीता निधीतयताम् ।

मोहाय कल्पने गो वेशान्तानां विचारतारोऽपि ॥

अत्र भगवन्मुत्तनिःगृताया गोताया उदृष्ट्याय वेशान्तानामुपमेयत्वेन
विचिन्तानामप्यदृष्ट्यं क्वलितम् ।

अनिश्चयता वा सक्षान्त्य—वाक्ययोरिति—दिवा दी वाक्यो मे
शाह्वर्यं प्रदीयमानं होता हो, उनमें यदि एव ही माधारण्य धर्म को गृह्य-

पृथक् शब्दों से कहा जाय तो प्रतिवस्तूपमालकार होना है । उदाहरण—
कोनेति—दोन नैयायिक उदयन की किरणावलि (प्रशस्तपादभाष्यटीका)
और न्यायकुमुमाञ्जलि को देख कर प्रसन्न नहीं हो जाता । पक्ष म सूर्य या
चन्द्र की किरणों की पक्ति को और कुमुमों की अञ्जलि को, यहाँ एक
ही प्रमथनारूप वस्तु दो शब्दों से कही गई है ॥

व्यतिरेक का लक्षण—उत्कर्ष इति—उपमान से उपमेय का आधिक्य
बर्णन करने में व्यतिरेकालकार होता है । उदाहरण—कलवेति—हे
कृष्ण, तू कलङ्क और क्षय दोनों से दून्य है, समस्त कलाओं को धारण
करने वाला है, और सदैव सम्पूर्ण रहता है, फिर भी सूर्य लोग तुम्हे
कृष्णचन्द्र कह कर पुकारते हैं । यहाँ उपमान चन्द्र से उपमेय कृष्ण का
उत्कर्ष कहा है । दूसरा उदाहरण—गृहे गृहे इति—सब घरों में पत्नियाँ
और माताएँ हैं, परन्तु हमारी जैसी माता और पत्नी नहीं, यहाँ अपनी
माता और पत्नी में क्रमशः पुत्रवात्सल्य और पति, भक्ति-रूप गुण का
उत्कर्ष कवि से वर्णित है । अलकार-सर्वस्वकार उपमान की अपेक्षा
उपमेय की न्यूनता में भी व्यतिरेक मानते हैं, उदाहरण—श्रीकृष्णेति—
श्रीकृष्ण के मुख में नि सृत भगवद्गीता को सुनकर वेदान्तशास्त्र का
त्रिचार भी फीका लगने लगता है ।

(सहोक्तचलकारलक्षणम्)

सहोक्तिस्तु सहायस्य बलेनैकं द्विवाचकम् ।

यत्र सहायस्य बलादेकं त्रियापद द्वयोर्वाचकं स सहोक्तिरतकार ।
अपद न प्रयुज्यतेति भाट्टोक्ते वैवलप्रातिपदिकस्य प्रयोगात्तापुत्वादेका-
दोस्वादिभिक्तयः । उदाहरण रसगङ्गाधरे—

पद्मपत्रं नृणां नेत्रं सह लोकप्रयत्निवदा ।

उन्मीलन्तो निमीलन्तो जयति सत्रिगु वरा ॥

सत्रिगु सक्ताधदातुं सूर्यस्य, वरा किरणा, स्पष्टमयत्, अप्र
विद्यति प्रसरण-सङ्घनरूप उन्मीलन-निमीलने निम्नेऽपि जयन्तीत्यनेन

संबध्येने । हेमचन्द्रस्तु-सहभाषस्योक्तिः सहोक्तिरित्याह । सहसम्बन्धार्थोऽत्र साहित्यम्, यथात्मच्छिद्यदुर्गादत्तवधेः—

शब्दे न्याये च साहित्ये कवित्वे दर्शनेषु च ।

सम लोलायते पाणी, दग्जुरामस्य मद्गुरोः ॥

सहैव दग्गभिः पुत्रंभार वहति गर्वभो ।

इत्यत्र तु नायमलङ्कारोऽतिशयोक्ति मूलतयेनास्याश्चारत्वात् ।

(विनोक्तघलवारलक्षणम्)

सा विनोक्तिर्विना किञ्चित्केनचित्पक्ष शोभते ॥१६॥

यत्र किमपि वस्तु केनापि विना न शोभते स विनोक्तिरलङ्कारः । विना भाषस्योक्तिविनोक्तिरित्यग्र्यर्थसंज्ञेयम् । सा सार्थनियम्यनेव । तेनैव नानाविधयोगेऽपीय भवति । प्रमेणोदाहरणम्—

सपदा सपरिच्छिन्नो विद्यया धानवद्यया ।

नरो न रोचते लोके विना विनायकसदृशम् ॥

अथर्वं पापमिति श्रीगुहोक्तारः । अनवद्यया ससृष्टविद्यया, सपरिच्छिन्न इत्युभयान्तरयोः हेतुनी-दोषवन्वापान् । न रोचते नृम्य इति शेषः । अस्यसामर्थ्यवन्परवाहप्रयोगः ।

नाना नारीं नित्यया लोकायात्रा ।

विचार, सहोक्ति का लक्षण—सहोक्तिस्त्विति—सहशब्दार्थ के बल से जहाँ एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—पद्मपत्रैरिति—भगवान् सूर्य के किरण, पद्मपत्र मनुष्यों के नेत्र और सारे लोको की कान्ति के साथ अर्थात्—कभी उनका विकास और कभी संकोच करते हुए जय को प्राप्त होते हैं। यहाँ उन्मीलन और निमीलन का एक क्रिया 'जयन्ति' में सबन्ध है। हेमचन्द्र ने—सहभाव की उक्ति सहोक्ति कही है, उसका उदाहरण—शब्दे न्याये-इति—हमारे गुरुचरणों की वाणी (भारती) सब शास्त्रों में अव्याहृत रूप से रहती है। सहैवेति—इस पद्य में सहोक्ति नहीं है, क्योंकि अति-सयोक्ति मूलक ही सहार्थ अलंकारत्व-विधायक है ॥

विनोक्ति का लक्षण—सा विनोक्तिरिति—जहाँ एक वस्तु किसी वस्तु के बिना शोभित न हो वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है वह बिना भाव अर्थनिबन्ध नहीं जानना चाहिये। इसीलिये ऋते नाना आदि के योग में भी यह अलंकार हो जाता है। उदाहरण—संपदेति—सपत्ति से अथवा अनवद्य (ससृष्ट) विद्या से युक्त हो परन्तु बिना विनय के पुरुष शोभित सम्मानित नहीं होना। इसी प्रकार और भी उदाहरण समझने चाहियें जैसे—नानेति—लौकिक सुख स्त्री के बिना सर्वथा अप्राप्य है। इन तीनों उदाहरणों में अशोभनता का पुट बिलकुल स्फुट है। यया शीति—जैसे घील (पातिव्रत्य) बिना कुलाङ्गना, शोभित नहीं होती और विचार बिना विद्वत्ता, इमी तरह—शिवाराधन बिना पठित विद्या भी शोभा नहीं पाती। यहा शोच्या शब्द का अर्थ अशोभन ही है। केनेति—किस पुरुष ने घोर वन में वह कौन घोर तप किया होगा, जिसके बिना यह सुमुखी सपूर्ण अर्थों से युक्त होने पर भी विफल है शोभित नहीं।

(निदर्शनालंकारलक्षणम्)

अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमाकृत्तिदर्शना ।

वस्तुनः सबन्धो न घटमानः तन्नुपमाकल्पको निदर्शनालंकारः—

दृशेभ्यस्ताञ्जावे मुच । निदशन = दृष्टान्तकरणम् । न च निदशनाविषं
 व्यङ्ग्योपमयैवास्तुनिर्वाह इति वाच्यम् । कल्पितोपम्यमूलिकया निदशाय-
 चमत्कारोदयात् । उदाहरण साहित्यकौमुद्याम्—

क्वाह दयभराव्रत क्वाय श्रीपतिरच्युत ।

तृपातमुपनब्धोऽय सगम सौरसेधय ॥

यद्यपि निराशा-पोषकत्वाद् यमनाय जुष्टो गुरा । यदुक्त धेदे—शत-
 मदीना स्याम शरद । सुमनस स्याम इत्यादि । अतएव महात्मभिर-
 प्युक्त—मय य पश्यति तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीन धव । तथापि भगवदप्र-
 दय ७ दुष्यति । स्वशालीनतापरिहारायमव तदप्र दयप्रदशनस्य शास्त्र-
 सम्भत्वात् । अत्र तृपातस्य गङ्गासङ्गम इय दीनस्य म सुदान्तोऽच्युतसा-
 क्षात्कार इत्युपमा कल्प्यते ।

भट्टोद्भूटस्त्वाह—अभयवस्तुसबन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत् । उपमा-
 नोपमयत्व कथ्यते सा निदशना ॥ उदाहरण मदाये दुर्गाभ्युदये—

अग्निं सुततुमपि वदिम करावलम्ब

पाणौ विधातुमिह कामय इन्द्रमम्ब ।

वाञ्छामि लङ्घयितुमग्निं सुदण्डशल

यत्त्वद्वन गदितुमुद्यममद्य कुर्वे ॥

वदिम = इच्छामि न च वशे द्या-दसत्त्वेन तवैव प्रयोगोऽसाधुरिति
 वरच्यम् । वष्टिभागुरिरत्त्वोपमिति प्रयोगस्य वशेर्लौकिकत्वेमानात् । अतएव
 जयाय सेनायमुशति देवा इति कालिदास । कामये इच्छामि कमु कात्तो
 कातिरिच्छेति कौमुदीकारोक्ते । अम्बत्यत्र अम्बायनञोरिति ह्रस्व ।
 अत्र कराम्बा सागरत्तरणादिसदृशत्वद्गुणवर्णनमित्युपमाया पयवसानम् ।
 इमानि उदाहरणायभवद्वस्तुसबन्धनिबन्धनाग्निं सभवद्वस्तुसबन्धनिबन्धन-
 न्तुदाहरणमित्यम्—

उप्रत पदमवाप्य धो लघुर्ह्येय स पतदिति सुवन् ।

शलणैखरगतो दृष्टकरण चारुमाद्यत घृत पतत्यध ।

अत्र लाप्ये सत्युप्रतपद प्राप्तिस्त्व = कारणतावच्छेदक, पतनत्व

शायतावच्छेदकमिति कायंकारणवस्तुसवग्यं स भवति ॥

(दृष्टान्तालकार लक्षणम्)

उपमानोपमेयादेर्दृष्टान्तः प्रतिबिम्बनम् ॥१७॥

आदिना सामान्यधर्मादिग्रहणम् । तथाचोपमेयस्य उपमानेन सामान्य-
धर्मस्य सामान्यधर्मस्य विशेषस्य विशेषेण प्रतिबिम्बनं समर्थनं, दृष्टान्ता-
लकारः । अर्थांतरन्यासे तु सामान्य विशेषेण विशेष सामान्येन समर्थ्यते
इति भेदः । दृष्टं दर्शनं तस्यान्तो निश्चयो यत्रेति दृष्टान्तशब्दव्युत्पत्तिर्भाष्य-
कंपण्योरुक्ता संवात्रापि बोध्या दृष्टान्तश्च साधर्म्यबंधधर्म्याभ्यां द्विधा भवति ।
साधर्म्येण यथा—

हरिहरति पापानि दुष्टचित्तरपि स्मृतः ।

अनिच्छयापि सस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥

हरिद्विष्टः । दुष्टचित्तरपोत्यपिनाये तु शुद्धचित्ता भगवन्नाम स्मरन्ति
तेषां पापानि हरतीति तु किमु वक्तव्यमिति ध्वन्यते । तत्र दृष्टान्तः—अनि-
च्छयापोति । अत्र हरिपावकयोः पापशरीरयोः हरणदहनयोश्च बिम्बप्रति-
बिम्बभावोऽस्ति । बंधर्म्येण यथाऽनघराघवे—

याति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।

अपयान्तु गच्छत सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥

न्यायप्रवृत्तस्य—रामादेः तिर्यञ्चो वानरादयः कुपये यान्त रावणा-
दिभ्यः, सोदरो विभीषणादिरपि अयस्य तु कथं च केत्यपिना ध्वन्यते ।
स्पष्टमन्यत् । यथाथा मम—

असते ससृतेर्भौतिर्दृष्टे सति महेश्वरे ।

भयत्यम्बुजवृन्दस्याऽदृष्टे स्तानिरहस्करे ॥

ससृतिर्भौतिर्न ममरणदुःखं, अ सते नश्यति, तत्प्राप्तेरेव भोगस्वा-
दिति भावः । अत्र ससृतिर्न्याया-अ सनग्लानिभवनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः ।
प्रतिवस्तूपमाया धर्मं प्रतिबिम्बतो न भवतीह तु भवतीति ततो भेदः । तथा
त्रोपमा यथेवादिशब्दाभावात् । नाप्यर्थान्तरन्यासः । सामान्यविशेषभावा-

भावात् । 'वृत्तियोग परेणापि महिम्ना न महात्मनाम् । पूर्णंश्चन्द्रोदयाकांक्षी
दृष्टान्तोऽत्र महार्णव ॥ इति माघपद्ये तु नायमलकारः । बिम्बप्रतिबिम्ब
भाव एव तस्योत्थानात् । अत एव दृष्टान्तादिशब्दा न प्रयोक्तव्याः, पीत-
रक्तचापत्तेरिति दिक् ॥

निदर्शना का लक्षण—अभवन्निति—जहाँ वस्तुओं का परस्पर
संबन्ध अभाव न होकर उपमाकल्पक हो वहाँ निदर्शना अलकार
होता है । यद्यपि यहाँ व्यङ्ग्योपमा से निर्वाह हो सकता था तथापि
चमत्कार होना शक्य नहीं । उदाहरण—काहमिति—अतीव दीनता से
आक्रान्त मैं सुदामा कहीं, और लक्ष्मीपति भगवान् अच्युत (श्रीकृष्ण)
कहीं, यह तुपात (प्यासे) को गङ्गा का संगम हो गया । यद्यपि दीनता
करना वेदो में निन्दित है और शास्त्रों में, तथापि भगवान् की अधीनता
करना दूषित नहीं । यहाँ प्यासे के लिये गङ्गा संगम (प्राप्ति) के तुल्य
मुक्त सुदामा के लिये कृष्ण दर्शन हुए हैं ।

भट्टोद्भूट की निदर्शना का लक्षण—अभवन् इति—जहाँ वस्तु का संबन्ध
बाधित हो अथवा अबाधित होकर उपमानोपमेयत्व कल्पित करे वह निदर्श-
नालकार होता है । उदाहरण—अब्धिमिति—हे अम्ब, मैं हाथों से समुद्र
तैरना चाहता हूँ, चन्द्रमा को हाथ में पकड़ना चाहता हूँ और सुमेरु का
लघन करना चाहता हूँ, जो तुम्हारे गुणों का वर्णन करने में अपने को
समर्थ मानता हूँ । यहाँ हाथों से समुद्र तरण के सहस्र तुम्हारे गुणों का
वर्णन करना है । अतः यहाँ यह सादृश्य कल्पना उपमा में पर्यवसित है ॥

ये सब उदाहरण अभवद्वस्तु संबन्ध के हैं । सभवद्वस्तु संबन्ध का
उदाहरण—उन्नतमिति—जो छोटा (साधारण) पुरुष उच्च पद को प्राप्त
हो जाता है, वह शीघ्र ही उस पद से गिर भी जाता है यह कह ही रहे
थे तो क्या देखते हैं कि एक पत्थर का टुकड़ा, उठ कर पर्वत शिखर
पर जा चढ़ा परन्तु षोडश से वायु चलने से ही नीचे गिर पड़ा । यहाँ
सधु होने पर ऊँचा पद मिलना कारण है गिर पड़ना कार्य है इसलिये
कार्यकारणभाव रूप वस्तु संबन्ध यहाँ विद्यमान है ।

दृष्टान्त का लक्षण—उपमान इति—यहाँ आदिपद से सामान्य धर्म का ग्रहण है। जहाँ उपमेय का उपमान से और साधारण धर्म का साधारण धर्म के साथ प्रतिविम्बन है वहाँ दृष्टान्तकार होना है। दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति भाष्य और वैयाकृत में लिखी है वही यहाँ समझनी चाहिए दृष्टान्त साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है।

साधर्म्य का उदाहरण—हरिरिति—नगवात् विष्णु दुष्ट बिल से भी स्मरण किये हुए स्मरणकर्ता के पापों की गूढ कर देते हैं जैसे—शनि पर चाहे जानकर हाथ रखो चाहे बिना जान रक्ता बाप वह तो भवदय ही जला देगा। वैधर्म्य का उदाहरण—शान्तीति—जो नौति मार्ग पर चलता है (जैसे श्रीराम) उसकी सहायता पशुपती (शान्तिदि भी) करते हैं, जोर जो कुमार्ग से चलना है उसकी सहायता भाई भी (जैसे रावण की विभीषण) छोड़ देता है। वैधर्म्य का दूसरा उदाहरण—संस्त इति—शर के साक्षात्कार होने पर अन्य मरण भी हट जाती है क्योंकि उसका दर्शन ही मोक्ष माना है। बसु सवार दुःख का ध्वंस मित्र भाव है। प्रतिवस्तूपमालकार में मानस धर्म से विभव-प्रति-होना और महा होता है यही दोनों में भेद है। बसु का भी नहीं क्योंकि यथा इव आदि शब्द यहाँ नहीं हैं जो हान सद्धि। अर्थान्तर-पथ में दृष्टान्तकार नहीं है क्योंकि बसु विभव प्रतिविम्ब भाव नहीं है ॥

(समासोत्पत्तयः)

समासोक्तिः प्रतीतिप्रतीतिप्रतीति सा ॥

प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्याभेदेन प्रतीतिः कर्तव्यकार । समासेन लक्षणे-
 रायं द्वयस्योक्तिः समासोक्तिः कृत् । यथा राजतरङ्गिण्या-
 कर्तव्यकार—

असमाप्तजिगोपस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।

अनाश्रम्य जगत्सर्वं मो सन्ध्यां भजते रविः ॥

जिगोपा = दिग्विजयेच्छा, मनस्विनो धीरस्य स्त्रीचिन्ता यत्, सूर्यः सर्वजगत् अनाश्रम्य अनुत्लंघ्य सन्ध्यां न भजते । अतएव हयंचरिते ह्ये-प्रतिना—यायन्मम न सकला जिता-भूमिरतावगमे ब्रह्मचर्यमिति । अत्र प्रस्तुत-रविसन्ध्यायोरप्रस्तुत-नायक-नायिका-ध्यवहारस्य समारोपः । नच-समाप्तोत्तौ उपकथ्यनिर्देशं निवर्हि पृथगलंकारत्वं व्यर्थमिति याच्यम् । याच्यार्थबोधकालिक-चमत्कारस्यापह्नातुमशक्यत्वात् ॥

(परिकरानंकारलक्षणम्)

सोऽलंकारः परिकरः सायं यत्र विशेषणम् ॥१८॥

अर्थोऽभिप्रायः तथाच साभिप्रायविशेषणत्वं परिकरालंकारः । परि-करः साभिप्रायशब्दः सोऽस्मिन्नस्तोति मत्वर्थीयोऽध्, भूयणत्वाभावात्-सुट् । साभिप्रायत्वं—प्रकृतार्थोपपादकचमत्कारिष्यद्गणत्वम् । यथा—सम्राट् समुद्रगुप्तस्य कृपणचरिते—

पुरन्दरयलो विप्रः शूद्रकः दास्यशास्त्रवित् ।

यत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत् वंक्रमम् ॥

अयं सम्राट् शूद्रकोऽग्निमित्रः ३०४४ कलिचर्येजेन मालवनेत्रा शकान् विजित्य मालवापरनामक द्विक्रम सं० प्रचालितः । प्रथमो नाटककारः कालिदासोऽस्यैव सभायामासीत् ।

यथा या मम हृज्जूरामायणे—

ससीत लक्ष्मणोपेतं शत्रुघ्नभरतस्तुतम् ।

कीशल्यागभंसंभूतं रामं दाशरथि भजे ॥

रमन्ते मोगिनोऽस्मिन्निति रामः हलश्चेति घञ् । सीतारामयोर्वेदेऽपि वर्यंनमस्ति । 'रामः सीतां विगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु' विगृह्णातु स्वीकरोतु-पूषाजनकोऽनुयच्छतु वदतिविति तदवर्थः । तत्र पुरन्दरवत्सादीनि शूद्रक-विशेषणानि, अत्रोदाहरणे सर्वाणि च रामविशेषणानि साभिप्रायानि ।

लक्षणं विशेषणपद विशेष्यस्याप्युपलक्षणम् । तेन विशेष्ये साभिप्रायेऽपि परिकर एव, यथा—

चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ।

अत्र चतुर्भुज इति विशेष्यं पुरुषार्थंचतुष्टयदानसामर्थ्याभिप्रायगर्भम् ॥

समासोक्ति का लक्षण—समासोक्तिरिति—जहा प्रवृत्त (प्रस्तुत)

में अप्रवृत्त (अप्रस्तुत) का व्यवहार आरोपित किया जाय वहा समासोक्ति अलकार होना है (समान से अर्घद्वय का क्यन समासोक्ति की स्युत्पत्ति है । उदाहरण—असमाप्तेति—जब तक विजय करके समस्त शत्रुओं को न जीत लिया जाय तब तक स्त्री की चिन्ता क्या नहीं करनी चाहिये । जैसे—भगवान् मूर्धं जब तक सम्पूर्ण जगत् को आक्रान्त नहीं कर सेवा तब तक सन्ध्या को नहीं होने देता । वहीं पर 'असमापितविद्य' भी पाठ है । यहाँ प्रस्तुत रवि (सूर्य) और सन्ध्या में अप्रस्तुत नायक नायिका व्यवहार का आरोप है ॥

परिकरालकार का लक्षण—सोऽलकार इति—जहा सारे विशेषण साभिप्राय हों वहा परिकरालकार होता है । परिकर शब्द में भूषणत्व का अभाव होने से मुट् का आगम नहीं हुआ । प्रस्तुत अर्थ का उपपादन करने वाला चमत्कारी व्यङ्ग्य साभिप्राय होता है । उदाहरण—पुरन्दर इति—इन्द्र ने समान उलशापी, विप्रजातीय, इन्द्र शास्त्र का ज्ञाता, शूद्रक राजा था । उगने चारों को हराकर मानवा पर नामक विक्रम सबक् पलाया । दूसरा उदाहरण—समीतेति—सीता में युक्त, लक्ष्मण के सहित, शत्रुघ्न और भरत में अभिष्टुत, कौसल्या के गर्भ में उत्पन्न और दशरथ के पुत्र श्रीराम को मैं बारबार प्रणाम करता हूँ ॥ यहाँ नारे विशेषण साभिप्राय है । लक्षण में विशेषणपद विशेष्य का भी उपलक्षण है । अत्र विशेष्य के साभिप्राय होने पर भी यही अलकार होता है । पुत्रलयान्द्यादि में वहा वृत्ता परिकराणुर पृथक् अलकार मानना व्यर्थ है । उक्तका उदाहरण 'चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः' है, इसमें चतुर्भुज विशेष्य साभिप्राय है पुरुषार्थ चतुष्टयदान में ।

(अप्रस्तुतप्रशसालकारलक्षणम्)

अप्रस्तुतप्रशसेय यत्र सा प्रस्तुताश्रया ।

अप्रस्तुतस्य प्रशसेनि न तदर्थ । अपितु अप्रस्तुतात्प्रस्तुतप्रतीतिरप्रस्तुत-
प्रशसालकारः । यथा—

मित्रेण मित्रवर्गेण बहुतेन विरोधिन ।

दशपञ्चदिने वृद्धि चन्द्र ते नियत क्षयः ॥

यत्र चन्द्रादप्रस्तुतात्प्रस्तुतप्रतीयते । यथावा शकरदिग्विजये

'श्रुतिदूषक-निहर्दिं विक काककुलं सह ।

मलिनेदचेन्न सगस्ते श्लाघनीयस्तदा भवे ॥

अत्र विरादप्रस्तुतात्प्रस्तुत कश्चिद्राजा प्रतीयते ।

(व्याजस्तुत्यलवारलक्षणम्)

व्याजस्तुतिर्षत्र निन्दास्तुतिभ्या स्तुतितिवन्दने ॥१६॥

यत्र स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा, निन्दापर्यवसायिनी स्तुतिश्च सा व्या-
जस्तुतिरलकारः । व्याजेन स्तुतिर्वा व्याजरूपा स्तुतिर्व्याजस्तुतिरिति
व्युत्पत्तेः । निन्दया स्तुतिर्षया मम—

त्यस्यादप्य भजता लाभो दूरेऽस्तु शबर ।

प्राप्तनस्यापि बेहस्य हानिस्तव पृषेदृशी ॥

भजता सेवमानानाम्, गौरवप्रयुक्त प्रीत्यवच्छिन्नप्रिया भजनमाराधन
व । लाभोऽशुभं वस्तुप्राप्तिस्तु दूरापास्त । प्राप्तनस्य = वर्तमानस्य,
बेहस्यापि हानिरत्यन्त विमोशः । तदस्य तविमोशोऽपवर्ग इति म्याय
सूत्रात् । अपिक् मद्भृसो अभाव वादरिरादेति येदागत्युत्रे, तस्मादभाव
शरीरेन्द्रियाणां मोशे इति शारीरकभाष्यायः ।

अत्र निन्दया निवसेवको निन्द्यशरोऽपर्यन्त मायामत्त निधुंय निव-
सापुण्यं समत इति स्तुतिपर्यवसने । निवसापुण्ये सति न पुनरावृत्ति
सात्कारवर्त्मगु 'न स पुनरावर्तने, इति द्वा' बोध्यते । स्तुत्या निन्दा यथा मम-

नैव कस्य प्रशस्यस्त्वं मौनप्रतिशिरोमणिः ।

सुखयाम हरेर्नाम नोच्चारयसि कर्हिचित् ॥

उच्चारण कीर्तनम्, तच्च मत्प्रियं यथा—हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

अत्र मौनप्रतित्व-स्तुत्या त्वमतिपाभरो भगवन्नामापि फदापि न गृह्णासि ततो नरव यास्यसीति निन्दा व्यज्यते ।

अप्रस्तुत प्रशमा का लक्षण—अप्रस्तुतेति—जहा अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति हो वहा अप्रस्तुतप्रशमा अलकार होता है । प्रशमा शब्द यहा स्तुमयंक नहीं है । धिक्नालस्य मे अव्याप्ति होने के कारण । अप्रस्तुतपद मे तात्पर्य विषयीभूत अर्थ से अन्य अर्थ ग्रहण करना है । अत कुवलपानन्द मे उक्त प्रस्तुताकुर अलकार पृथक् मानना व्यर्थ है । उसके विषय में यही अलकार है । उदाहरण—मित्रेणेति—हे चन्द्र, मित्र (सूर्य) से और साथी ग्रहों से बहुल (कृष्णपक्ष) से विरोध रखने वाले तेरी दश-पाच (पन्द्रह) दिन की यह वृद्धि है, फिर निश्चित क्षय, यहा अप्रस्तुत चन्द्र द्वारा किसी प्रस्तुत (शत्रु) को समझाया है । दूसरा उदाहरण—भ्रुतेति—हे कोकिल, तथा हे राजन्, तू श्रुतिदूषक (कर्णकटु) और मलिन इन कौशो को पक्ष मे—वेदनिन्दक और मलघारियो को हटा देने से श्लाघनीय होगा ।

व्याजस्तुति का लक्षण—व्याजस्तुतिरिति—जहाँ निन्दा से स्तुति गम्य हो और स्तुति से निन्दा गम्य हो वहाँ व्याज-स्तुति अलकार हाता है । व्याज स्तुति पद के दो अर्थ हैं—एव व्याजेन स्तुति निन्दा के वहाने स्तुति करना, और दूसरा व्याजव्या स्तुति, स्तुति वा वहानामात्र । पहले अर्थ का उदाहरण त्यत्पादपद्मिति—हे शकर, तुम्हारे चरणों की सेवा करने वाले को लाभ तो दूर रहा बल्कि वर्तमान शरीर की भी हानि हो जाती है । यहाँ हानि का अर्थ है अत्यन्त मोक्ष, वह शकर की कृपा से ही लभ्य है । मोक्ष मे शरीर और इन्द्रियों का अभाव हो जाता है ।

यहाँ निन्दा के द्वारा यह स्तुति निवसती है कि शिव की धारणा

लकार होता है। विशेष से सामान्य के समर्थन वा उदाहरण—
 यद्यथेति—महान् पुरुषो ये लिये कोई बात दुष्कर नहीं है। भगवान्
 राम ने समुद्र का पुल बंधवा दिया, श्री हनुमान् जी ने उसका लघन
 किया और अगस्त्य ने उसको पी लिया। यहाँ 'दुष्कर कि' यह सामान्य
 बबन्धेत्यादि वातों से समर्थित किया गया। विशेष का सामान्य से समर्थन
 का उदाहरण—तव सम्मतिमिति—हे नल, तुम्हारी सम्मति लेने के लिये
 ही यह निवेदन किया है, श्रेष्ठ पुरुष कार्य कर दिया करते हैं कहलवाया
 नहीं करते।

उपकारमिति—श्रेष्ठ गुणवान् चाहे विपत्ति में भी हो तथापि उप-
 कार ही करता है, जैसे पारा चाहे मूर्च्छित हो चाहे मृत, पूरा-पूरा गुण
 करने वाला होता है। इन पद्य में भी अर्थान्तरन्यास ही अलकार है,
 इसके लिये रसगङ्गाधरकार ने एक उदाहरण नामक अलकार की कल्पना
 की वह त्याज्य है। प्राचीनों ने उदाहरण को उपमा से ही गतार्थ माना
 है। दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में विशेष से विशेष का समर्थन होता है।
 काव्यलिङ्ग में सामान्य विशेष भाव होता ही नहीं अतः उन सब से
 इसका भेद है।

विरोध का लक्षण—यत्राभास इति—जहाँ विरोध का आभास हो
 वह विरोधालकार होता है। विरोध का आभास निवृत्त होता हुआ भी
 चमत्कार का कारण होता है। उदाहरण—अज्ञस्येति—वह ईश्वर
 अज्ञन्मा होने पर भी, यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अम्युत्थानम-
 धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥' इस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जन्म लेता
 है। निरोह होने पर भी 'येहि धर्मस्य तोत्सारस्ते बभ्या मम सर्वदा' प्रतिज्ञा
 के अनुसार शनुओं को मारता है, चैतन्य स्वरूप होने पर भी प्रलय
 समय में शेषशायी होता है अतः ईश्वर के स्वरूप का किसी को भी
 यथार्थ ज्ञान नहीं है। इसी बात का समर्थन श्रुति ने किया है। शंकरा-
 चार्य जी ने भी यही माना है कि ईश्वर के स्वरूपाज्ञान से जीव का बंध
 और ज्ञान से मोक्ष होता है। पहले उदाहरण में—अज्ञमादि का जन्म

ग्रहणादि क्रियाओं से विरोध है और दूसरे में अपाणिपादादि का जब-नादि क्रिया से विरोध है परन्तु श्रुति में ज्ञात है कि ईश्वर के दोनों रूप हैं इसलिये वह विरोध निवृत्त हो जाता है । उदाहरण—सतीत्वमिति—यहाँ पूज्य माना जी में दशभुवोत्वादि धर्म न होने में सती आदि नाम प्रभुपत्र दीक्षते हैं, परन्तु पतिव्रता गृहलक्ष्मी विदुषी आदि धर्म होने से विरोध हट जाता है । विरोधाभास के अन्य भेद और उदाहरण भाव्य-प्रवाशादि में देखने चाहिए ।

(आक्षेपालंकारलक्षणम्)

स्वेनोक्तस्य नियेषो यः स आक्षेपो विचारणे ।

स्वयमुक्तस्य विचारदशायां प्रतिषेध आक्षेपालंकारः । यथा मम—

रे मूढ तव दोरात्म्यं वक्ष्यामि विदुषां पुरः ।

कृतं वा कृतया पापिन् कथया हृतयापि ते ॥

दोरात्म्यं—दुष्टताम् गुणवचनत्वात्प्यम् । तव हृतया कथयापि कृतया कृतमलं 'कथापि खलु पापानाम् अलमथेयते यत' इति भाष्योक्तेः । अत्र मूढस्य दोरात्म्यातिशयो वक्ष्यमाणः किमपि विचार्यं निषिद्धः । कश्चित्तु नियेषमात्र-माक्षेप इत्याह । अमत्कारजनकर्मलंकार-सामान्यलक्षणं प्राप्तमेव यथा नागानन्दे—न खलु न खलु मुग्धे साहसं कार्यमोहक इत्यादौ ।

(कारणमालंकारलक्षणम्)

कारणमालंकारे पूर्वं कारणं क्व च कार्यकम् ॥२१॥

एकत्र पूर्वं कारणं पर कार्यम्, क्वचित्कार्यं पूर्वं कारणं परमिति द्विधा कारणमालंकारः । द्वयोर्द्वयाहरणम्—

पुष्पेन लम्बते लक्ष्मीः लक्ष्म्या दानं ततो यशः ।

जायते नरकः पापात् पापं दुःखङ्गतो भवेत् ॥

पुष्पेनेति हेतौ तृतीया । फलमत्र हेतुः । ततोश्चोपकारोपकारकभावः । उदाहार्योपकारकत्वं चेह साध्यभावत्वम् । पूर्वापि प्रथमं पुष्पादि-कारण-स्य ततः कार्यस्य, उत्तरापि पूर्वं नरकादि कार्यस्य ततः कारणस्य निर्देशः ।

अत्र यद्यपि कार्यस्यापि माला वर्तते, तथापि कारणगुणवर्णने कवि-सरम्भास्योक्तिः ।

आक्षेप का लक्षण—स्वेनेति—स्वयं वही हुई बात का कुछ विचार करने पर जो निषेध हो वह आक्षेपालकार होता है । उदाहरण—रे मूढ—रे मूर्ख, तेरी इस दुष्टता का वर्णन मैं भजे आदमियों के आगे करूंगा, अथवा रहने दो बुरो की चचा करना भी महापाप है । जैसा कि माघ ने लिखा है । महा मूर्ख की दुष्टता कहनी थी परन्तु कुछ विचार कर नहीं कही । कोई विद्वान् निषेधमात्र को आक्षेपालकार मानता है । उदाहरण—न खलु इति—हे मलयवति, मरने का साहस मत कर मत कर । कारणमाला का लक्षण—कारणमालंकेति—कहीं पर पूर्व कारण का निर्देश पश्चात्कार्य का और वही पर पहले कार्य का पीछे कारण का, यह दो प्रकार की कारण-माला होती है । दोनों का उदाहरण क्रम से पुण्येनेति—पुण्य से लक्ष्मी प्राप्त होती है लक्ष्मी से दान, दान से कीर्ति । नरक पाप से और पाप दुःसङ्ग से ।

यहां पूर्वार्थ में पुण्यादि कारण का पहले और लक्ष्म्यादि कार्य का पीछे निर्देश किया गया है । और उत्तरार्थ में नरकादि कार्य का पहले पाप का पीछे । यद्यपि यहां काममाला भी है तथापि कवि का अभिप्राय (प्रेम) कारणमाला में विशेष है अतः उसी से नाम रक्खा गया ।

(एकावत्यलकारलक्षणम्)

संकावली पर यत्र स्थाप्यतेऽपोह्यते च प्राक् ।

यत्र पूर्वं प्रति परस्य विधिर्वा निषेधो वा स द्विधा एकावत्यलकारः ॥
एकावली हारभेदस्तत्तादृश्याश्चकारे लक्षणा । यथा रम्भाशुकसवादे—

गहे गहे जगमा हेमवल्मी बल्या बल्यां पार्वण चन्द्रबिम्बम् ।

बिम्बे बिम्बे दृश्यते मोनयुग्म युग्मे युग्मे पञ्चवाण-प्रचारः ॥

अत्र हेमवल्पादि पदानां कामिनीत्वादिक लक्ष्यतावच्छेदकम् । पार्वण चन्द्रबिम्बं मुखम् । मोनयुग्मं नयनद्वयम् । पञ्चवाणप्रचारः हावभावादिः । अथ चातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽलकारः । ध्वनिकृताप्युक्तम्—अतिशयोक्ति-गर्भतव प्रायोऽलकारेषु चमत्कारिणीति । यथा वा हितोपदेशे—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

धर्मं स नो यत्र न सत्पमस्ति सत्यं न तद् यद्भ्रममभ्युपैति ॥

अत्र सभा वृद्धरहिता न ते धर्मरहितानेत्येवं रीत्या निषेधोऽभ्यधापि ।

नचात्र वृद्धान् विना सभा नरमणोयेति विनोक्तिष्वनिरेवायमिति वाच्यम् ।
वाच्यार्यकृतस्य चमत्कारस्यानपलपनीयत्वात् ॥

(स्वभावोक्तचलकारलक्षणम्)

स्वभावोक्तिस्तु शिदवादेः चेष्टाऽसाधारणी मता ॥२२॥

बालकादीनामसाधारणचेष्टावर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः । शिष्या-
देरित्यादिपदेन पदवादि-परिग्रहः । उदाहरणं मम ज्येष्ठभ्रातुरुपाध्याय-
मूलचन्द्रस्य ।

चरणाब्ज कराब्जेन मुखाब्जे विनिवेशयन् ।

वटपत्रपुटे तिष्ठन् बालकृष्ण, प्रसीदतु ॥

प्रसीदतिविति प्रार्थनाया लोट् । प्रार्थना चेष्टसाधनाय 'सर्वे स्वेष्ट-
साधनाय प्रार्थयन्ते' इति हेतुमतिं चेति सूत्रभाष्योक्तेः ।

असाधारणचेष्टावर्णनमिदं भगवद्बालकृष्णस्य, साधारणचेष्टावर्ण-
नस्य तु नालंकारत्वम् । यथा कण्ठाभरणे—

गोरपत्यं बलीवर्धो घासमत्ति मुहेन तः ।

मूर्धं मुञ्चति शिशनेन अपानेन तू गोमयम् ॥

अत्र घासभक्षण-मूर्धत्यागादिषु न काचन विचिद्यतिः ।

एकावली का लक्षण—संकेति—जहा पूर्व वे प्रति पर की विधि
(स्याप्ता) अथवा प्रपोहन (निषेध) हो वह दो तरह का एकावली अल-
कार होता है । विधि का उदाहरण—गेहे गेहे इति—घर-घर में स्त्रिया
हैं उनमें मुख, मुख में नेत्र, नेत्रों में बटाक्ष विशेष । यहा पूर्व-पूर्व के प्रति
पर का विधान है ॥

दूसरा उदाहरण—न सा सनेति—वट सभा नहीं जिसमें वृद्ध न बैठे
हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्माधर्म का निर्णय नहीं करते । यह धर्म नहीं जहा

सत्य का अपलप है, वह सत्य नहीं जिमने भय हो । अन्यत्र भी लिखा है—'सत्ये नास्ति भय क्वचित् । शका—यदा विनोक्ति घ्वनि क्यो नहीं— समाधान—एवावलीनिष्ठ वाच्यार्थ का चमत्कार अधिक होने में ।

स्वभावोक्ति का लक्षण—स्वभावोक्तिरिति—बच्चे आदिकों की चेष्टा का असाधारण वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार होता है । आदि से पशुआदि की चेष्टा । उदाहरण—चरणान्जमिति—बट के पुटक पर बैठे हुए बाल-कृष्ण प्रसन्न हो, मुखकमल में करकमल से चरणकमल को रखकर चूमते हुए । असाधारण चेष्टा का वर्णन ही अलंकारत्व को प्राप्त होता है । साधारण चेष्टा का वर्णन नहीं जैसे—गोरपत्यमिति—यह पौ का पुत्र बेल, मुँह से घास खाता है शिश्न से मूतता है और गुदा में मोबर करता है ।

(अनोक्त्यलंकारलक्षणम्)

छलोक्तिर्निह्वो भूयः छलेनोद्भिन्नवस्तुनः ।

गोप्य वस्तु केनापि हेतुना प्रतीत तस्य छलेनैव पुनर्गोप्य छलोक्तिर-
लंकारः । छलेनोक्ति छलोक्तिरिति व्युत्पत्ते । यथा—

अहो शैत्यस्य महिमा, हिमानिल, तवेदुश ।

नवयते नच निह्वोत् कृतो येनाधरव्रण ॥

अत्र कान्त-सङ्गमहेतुकोऽधरव्रणो हिमानलशैत्य-हेतुवत्त्व छयना
गोप्यते । नचा साधरपहृति प्रकृताप्रकृतयो साम्ये तस्वीकारात् ॥

(परिवृत्त्यलंकारलक्षणम्)

परिवृत्तिः क्रयो द्वाभ्या द्वयोर्न्यूनातिरिक्तयोः ॥२३॥

न्यूनाधिकयोर्द्वयोर्द्वाभ्या सह परस्पर क्रयः परिवृत्तिरलंकार । यथा
मम आयापद्ये—

जटापुर्जर्जर देह दत्त्वाप विमल यशः ।

सीतार्यं हृदय स्व च मृत्यु नत्तञ्चराधिप ॥

जटापू रामायणे प्रतिष्ठः । जजरं जराजीर्णम्, 'दत्त्वापसीतायै' इति देहली-दीपकव्यायेन सब-यन्ते । अत्र पूर्वार्धे यूनेनाधिकस्य, उत्तरार्धे-धिकेन न्यूनस्य परिवृत्तिः । क्वित्तुल्ययोरपि परिवृत्तिर्भवति । यथा—अङ्गानि दत्त्वा हेमाङ्गि-प्राणान् श्रीणां । त्व नृणाम् । इत्यादौ, दानादान-व्यवहार-आत्र कविकल्पित एव न वास्तवः । तेन क्रीणन्ति यत्र मुक्ताभिर्बंदराष्यपि बालिका । इत्यत्र नायमलकारः । चमत्कारजनकत्वमन्तरेणालंकारत्वा-योगात् । चमत्कारएवालकार जीयातुः । चमत्कारः सहृदयानन्दः ।

छलोक्ति (व्याजोक्ति) का लक्षण—छलोक्तिरिति—किमी भ्रष्ट हुई वस्तु का किसी बहाने से छिपाना छलोक्ति अलकार होता है । उदाहरण—अहो शैत्यस्येति—हे हिमवायो, तेरे शैत्य (ठण्डेपन) की विचित्र महिमा है, तेरे से किया हुआ अधरोष्ठव्रण छिपाया नहीं जा सकता । यहाँ नायक-कृत अधरव्रण हिमानिल के शैत्यकारण से बतलाया गया है अतः यहाँ छलोक्ति अलकार का चमत्कार स्पष्टतया दृष्ट है ॥

परिवृत्ति अलकार का लक्षण—परिवृत्तिरिति—न्यून, अधिक और समान के साथ परस्पर में क्रय (बदला) करने से परिवृत्ति अलकार होता है । क्रम से उदाहरण—जटापुरिति—जटापु ने सीताजी के लिये अपना जराजीर्ण देह देकर निर्मल कीर्ति प्राप्त की और रावण ने उमी सीता के लिये अपना हृदय देकर मृत्यु को प्राप्त किया । यहाँ पूर्वार्ध में न्यून से अधिक वस्तु प्राप्त की और उत्तरार्ध में अधिक से न्यून, तुल्य परिवृत्ति का उदाहरण—अङ्गानीति—हे सुन्दर अङ्गवाली, तू ने अपने अङ्गों के बंदने लोगों के प्राण ले लिये हैं । श्रीणन्ति—मे यह अलकार नहीं क्योंकि यहाँ चमत्कार नहीं । चमत्कार ही अलकार का प्राण है ।

(पर्यायोन्नालकारलक्षणम्)

पर्यायोक्तं यत्र गम्यवचो वैचित्र्यमावहेत् ।

यत्र गम्य वचो वैचित्र्यं व्यङ्ग्यतावच्छेदनातिरिक्त-प्रकारमाश्रयति तत्पर्यायोक्तमलंकारः । पर्याय-प्रकारान्तेलोक्तिमिनि व्युत्पत्तेः । एते हि

नहि पर्यायोक्ते व्यङ्ग्यचसौन्दर्यकृतो विच्छिन्नति विशेषोऽपि तु प्रकारान्तरा-
भिधानकृतं इति । यथा मेण्डस्य हयग्रीवचवनाटके—

हयग्रीव समालोक्य सहजापि स्थितिर्जहे ।

मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरे. ॥

अत्रैरावणशकौ मदमानमुक्ती जाताविति व्यङ्ग्यार्थ एव प्रकारान्तरे-
णोक्तः । इह व्यङ्ग्यचममूढ वाच्यादचारुचेति न ध्वनित्वव्यवहारः । प्राञ्चस्तु
सर्वमपि व्यङ्ग्यचप्रपञ्च पर्यायोक्तकुक्षिनिक्षिप्त मन्यन्ते ॥

(विभावनालकारलक्षणम्)

विनैव कारणं कार्योत्पत्तिर्दंसा विभावना ॥२४॥

विनैव कारणं = कारणनावच्छेदबाधच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावेऽपि
कार्योत्पत्तिर्विभावनालकारः । विभाव्यते विचार्यते कारणमस्मानिति-
विभावेनेतिष्पुत्पते । सा च द्विविधा उक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ता च । उक्त-
निमित्ता यथा मनुस्मृतौ—

योऽनघोत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ॥

वेदानिति बहवचन वेदाङ्गव्याकरणादीनामुपलक्षणम् । अन्यत्र =
अप्रेजी भाषावौ । शूद्रत्वमिति । शूद्रतुल्यत्वम् । लक्ष्यतावच्छेदकमश्लाध्य-
जीवित्वम् । शूद्रा द्विविधा सृष्ट्या नापितादयोऽसृष्ट्याश्चर्मकारादयोऽधिक
शूद्राणामनिरवसितानामिति सूत्रभाष्ये । वेदाध्ययनविधिश्चार्यविवोधपर्यन्तः ।
पङ्क्तौ वेदोऽप्येवो जेषश्चेति श्रुते । अत्र शूद्राच्छूद्राया जन्मकारणाभावेऽपि
शूद्रत्वोक्त्या विभावनाचमत्कार परिष्कृतः । अनुक्ता यथा—मुनेरपि धनस्यस्य
स्वानि कर्माणि कुर्वन्तः । उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ॥ अत्र मे-
श्यादिकारणाभावेऽपि मित्रोदासीनशत्रुत्वरूपकार्योत्पत्तिरिति विभावना ॥

(विशेषोक्तचलकारलक्षणम्)

कारणं कार्यकृतोच्चेद् विशेषोक्तिर्नगद्यते ॥२४॥

कारणे सत्यपि कार्यानुक्तिर्विशेषोक्तिरलकारः । सापि द्विविधा

अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता च अनुक्तनिमित्ता यथा देवीभागवते—

प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहने ।

जन्ममृत्यू च देहस्य षड्भिरहितः शिवः ॥

अत्र प्राणादिकारणसद्भावेऽपि क्षुत्पिपासादिकायस्य शिवे अनुक्त विशेषोक्तिरलकारः । न च विभावनाविशेषोत्तरोर्न किञ्चित्पार्थक्यमिति वाच्यम् । एकत्र व्यतिरेकस्फुरणनिबन्धनचमत्कारस्य परत्रान्वयस्फुरणचमत्कारस्य दुरपह्ववत्वात् ॥ उक्तनिमित्ता यथा नैपथे—‘स भिन्नमर्मापि तदतिक्काकुभिः स्वदूतधर्मान्नविरन्तुमंहत ॥’ अत्र दूतत्वाद्विरामस्य तदतिक्काकादिकारणसत्त्वेऽपि तदनुक्ते विशेषोक्तिः ।

पर्यायोक्त का लक्षण—पर्यायोक्तमिति—जहा गम्य वचन विचित्र प्रकार को ग्रहण करे वह पर्यायोक्त अलकार होता है । पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य मोन्दर्यवृत्त चमत्कार नहीं होता । अपितु प्रकारान्तर से कहने का चमत्कार होता है । उदाहरण—हयग्रीवमिति—हयग्रीव को देखकर ऐरावण के मुख में मद ने श्रीर इन्द्र के हृदय में मान ने अपनी स्वाभाविक स्थिति त्याग दी । यहा ऐरावण (इन्द्र का हाथी) श्रीर इन्द्र दोनों मद श्रीर मान से रहित हो गये । यह व्यङ्ग्यभार्य ही प्रकारान्तर से कहा गया है अचाह होने से ध्वनि न रह सका । प्राचीन भालकारिक तो सारे ही व्यङ्ग्य-प्रपञ्च को पर्यायोक्त में छिपा मानते हैं ॥

निर्नवेति—जहाँ कारण के विनैव कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो वहाँ विभावना अलकार होता है । अर्थान्—कारणता का जो अवच्छेदक तदवधिप्र प्रतियोगिताक पदार्थ अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति होना विभावना है । उदाहरण—योऽनयोति—जो द्विजन्मा ब्राह्मण अत्रिय श्रीर वैश्य के घर जन्म लेकर भी वेदों का पठन-याठन नहीं करता वह दूद हो जाता है । दूद दो प्रकार के होने हैं सृग्य (नापितादि) श्रीर असृग्य (चर्मकारादि) यहाँ दूद से दूदा में जन्म होने का वाक्य न होने पर भी दूद कहा गया है ॥

विशेषोक्ति का लक्षण—कारणमिति—कारण के छूटे इ. ३३

कार्यं (फल) के न होने पर विशेषोक्ति फलवार होता है । उदाहरण—
 प्राणस्येति—जहाँ प्राण है वहाँ धुग और प्यास जरूर है जहाँ मन है
 वहाँ शोक और मोह जरूर है जहाँ शरीर है वहाँ जन्म और मृत्यु जरूर
 है परन्तु भगवान् शिव में प्राणादि है धुगदि नहीं । सभिन्नेति—बह नल
 दमयन्ती की पीडा से दु खिन हुआ हुआ भी अपने दूत घर्म में नहीं हटा ।
 यद्यपि विभावना और विशेषोक्ति में स्फुट भेद प्रतीत नहीं होता तथापि
 एक में व्यतिरेक वा चमत्कार है दूसरे में अन्वय का यही भेद है ।

(अग्नयलकारलक्षणम्)

कार्यस्य कारणास्याथोऽसंगतिभिन्नदेशता ॥

विरोधे भिन्नदेशकयोरेकदेशकत्वं चमत्करोति । अत्र त्वेकदेशकयो-
 रभिन्नदेशकत्वं चमत्कारकारणम् । यथा—

अहो खलभुजङ्गस्य विवित्रोऽयं वचनमः ।

अग्नयस्य दशति श्रोत्रमन्धः प्र संवियुज्यते ॥

खल एव भुजङ्ग इति मयूरव्यंनकादिसमासो रूपकं च । जनेहंम्रक्रम्य
 गमेरपीति भाष्योक्तं डः । दशतीति । वंशनं च हिंसाहेतुको दन्तकरणकः
 संयोगानुक्तो न्ययापारः । अत्र अयस्यकरणयद्व वगयापारमुह्यप्रिशोष्यकएव-
 शाब्दबोधो भवति न तु न्यायनय इव कर्तुं मुख्यप्रिशोष्यकः साहित्य शास्त्रस्य
 व्याकरणपरिशिष्टत्वात् । अत्रार्थविशेषप्रतिपत्तये श्रोत्रदंशनप्राण-
 वियोगयोः कार्यकारणयोर्भिन्ननिष्टत्वेनोपनिबन्धनादसंगतित्वम् ।
 अतिशयोक्तौ कार्यकारणयोः पूर्वपर्यन्तविषययोऽस्यान्तु कायकारणयोर्व्यपि-
 करणत्वमिति भेदः ॥

(पर्यायालकारलक्षणम्)

पर्यायो बहुधा ह्येक भवति क्रियतेऽथवा ॥२५॥

यत्रेकं वस्तु बहुधानेकत्र भवति वा क्रियते वा स पर्यायालंकारः । यथा
 पद्मगुप्तस्य नवसाहस्रीकचरिते—

विम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमहृदयत ।

अधुना हृदयेऽप्येव मृगशावाक्षि लक्ष्यते ॥

अनेक एव राग. क्रमेणानेकत्र ओष्ठे हृदये च भवति । रागस्य चाधार-
भेदाद्भेदेऽप्येकतयाऽप्यसितत्वादेकत्वम् । यथावा मन्दीये दुर्गाम्युदये—
प्राश्चर्यमेतदति मे हृदये त्वमेका वास करोष्यसु'निर्जरयोपिता यत् ।

दुःखसुखं च जनयन्त्यतिक्रौत्तुकं च शौर्यादतीव विनयादय रम्यतायाः ॥

अश्रयं देव्यनेकेषां हृदये निवास कर्णेतीति भवति पर्यायः । यत्त्वश्र-
रसगङ्गापरकृता नायमलकार । एकसयन्धनाशोत्तरमपरसबन्धे सत्येव
पर्यायपदस्य लोके प्रसिद्धिरित्यभाणि तन्न, रमणीयताभावहति । काव्य-
सरणी शब्दसादृश्यमात्रेण लौकिकार्याविवक्षणात् । वाच्यकृतस्य चम-
त्कारस्यात्रापह्नोतुमशक्यत्वाच्चेत्फलं परकीयद्रूपणगवेषणया ।

असगति का लक्षण—कार्यस्येति—जहाँ कार्य और कारण भिन्न-
भिन्न देश में हों वहाँ असगति-अलकार होना है । क्योंकि यहाँ एक-
देशियो का भिन्नदेशीय वर्णन ही चमत्कार-कारण है । उदाहरण—
अहो खलेति—आश्चर्य है कि इन सब दुष्टरूपी मुजङ्ग (सर्प) के डमने का
प्रकार किनना विचित्र है, एक पुरुष के श्रोत्र (जान) को छूना है दूसरा
प्राणी से विमुक्त हो जाता है । यहाँ अर्थ विशेष ज्ञान के लिये श्रोत्र का
दशन (स्पर्श) और प्राण-वियोग रूप कार्य-कारण का भिन्न देश में
स्थिति का वर्णन होना से असगति अलकार-सगत है । अनिश्चयोक्ति
अलकार में कार्य और कारण का पीवापर्यं (पहने पीछे) का विपर्यय
(उलटालट) होता है, परन्तु यहाँ कार्य और कारण का व्यधिकरणत्व
(भिन्नभिन्नदेशीयत्व) देखा जाता है, यही दोनों में भेद है जो पृथक्-
पृथक्ता सिद्ध करता है ॥

पर्याय का लक्षण—पर्याय इति—एक वस्तु अनेकों में हो या की
छाय तो पर्याय अलकार होना है । अम से उदाहरण—विम्बोष्ठ इति—
हे सुभगे ! यह राग (मालिमा) पहले तेरे बैजल विम्बोष्ठ में ही था परन्तु
अब हृदय में भी देखी जाती है । यहाँ एक ही राग अम से अनेक जगह

हो गया । दूसरा उदाहरण—आश्चर्यनिति—हे देवि, मेरे हृदय में यह बड़ा आश्चर्य है कि तुम एक होती हुई भी तीन जगह निवास करती हो, शीघ्र से असुरों को दुःख देती हुई उनके हृदय में विनय में मुस देती हुई देवताओं के हृदय में धीर सौन्दर्य से आश्चर्य करानी हुई स्त्रियों के हृदय में ॥

यहाँ एक ही देवी ने घनेको के हृदय में निवास किया अतः पर्याया-लकार है । रसगन्नाथरकार ने इसको अलंकार नहीं माना लोचनदृष्टि से, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि वाध्यसरणि में लौकिक अर्थ की विवक्षा नहीं होती और वाक्यार्थकृत अलंकार भी यहाँ परिस्पृष्ट है ।

(विद्यमानकारतन्त्रम्)

विद्यमः स यदेवात्र विरूपद्वयवर्णनम् ।

परस्परमानुष्यरहितयोर्द्वयोर्ध्वं चरानं स विद्यमांतरारः ।
विद्यमानयो वाच्यनिष्पत्तिसंज्ञारविशेषणेषु क्लृप्तयोर्ध्वि । गुणवचनात्प्र-
थयतो निष्पत्तयवनानीति भाष्योक्तैः । यथा मय दुर्गाभ्युदये—

प्रतिभूतविविक्तवायुना यद्विद जल्पति मन्त्रं प्रणिः ।

क स च एतद्गुमंशो भटः क्वचन एव मन्त्रपत्रवाट्टिः ॥

तत्र देव्याः, मन्त्रं गुणम्, स प्रणिष्ठ इत्यर्थः । न च सर्वनाम्नोत्तर
सत्तिरेवेति वाच्यम् । बुद्धिसपरवप्रकारव्योपजनकार्येऽपि प्रतिज्ञावप्रकारक-
व्योपजनकार्ये तेषां काल्पमाशङ्क । अतरोचितसंग्रहार्थेऽपि अत्रागतप्रणिष्ठा-
गुणुत्तरार्थविषयः तत्रादयोपपत्तयोपपत्तयानं गार्थेऽपि । इति—यद्विदोर्ध्वि
तद्विदोर्ध्वम् । यथा तत्रात्र, मनुष्मन्तत्र कृत्वापरिते—

मातृगुप्तो जल्पति यः क्वचित्तत्रो न देवतम् ।

काल्पोरुत्तराद्योऽयमत्रात्प्रकार्या प्रगाढतः ॥

इति—इतोः सात्त्विक यथाःतिनाकारात् कृत्वापरिते—

सा वाच्यं विदुस्तत्रात्प्रकार्या सा तद्विषयं भगवति यामसागुत्तरात् ॥

इति—इतोः सात्त्विक यथाःतिनाकारात् कृत्वापरिते—

भारतस्य कः । रक्षिष्यति वृषाशोकः सर्वरसक ईश्वरः ॥ अत्र य ईश्वरः
सर्वरसकः स एव भारतीयसंस्कृति रक्षिष्यतीति बुध्यते । उदाहरणे क
शम्भुद्वयं देवीशुम्भो रणे महद्वैद्यम्यं सूचयतीति विषमालंकारः । एवं क
सूक्तयः स्व वा मुक्ता इत्यादावप्ययमेवालंकारः । यत्तु वस्तुषुत्तस्य लोक-
सिद्धत्वाप्रायमलंकार इति रसगङ्गाधरकार आह । तत्र युक्तम् । शुक्ति-
मुक्तयोः संबन्धस्य लोकप्रसिद्धिशून्यत्वात् ॥

(समालंकारलक्षणम्)

स समो वर्णनं यत्र द्वयोरेवानुरूपयोः ॥२६॥

परस्परमनुरूपयोः संबन्धस्य वर्णनं समालंकारः । अत्र वक्तव्यं
विषयेऽवादिष्य । उदाहरणं मत्कनिष्ठभ्रातृ रामकृष्णमठस्य—

यत्प्राप विदुषी भक्तिदेवी बंवेन संगतिम् ।

विदुष्या छज्जुरामेण तच्चान्नं प्राप चन्द्रिका ॥

संगति=पाणिग्रहणम्, स्पष्टमन्यत् । न च नकं पदं द्विः प्रयोग्यं
प्रापेणेति न्यायात्कथमिह प्राप्नोतेद्विः प्रयोग इति वाच्यम् । उद्देश्यं प्रति
निर्देश्यत्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनियेषस्य तद्वति विषये तस्यैव
प्रयोगं विना बोधात् । सात्त्वतावच्छेदकमहिम्ना निप्रत्वेनेव प्रतीतेः ।
यथा वा—

विशयं-व्यप्र-चितोऽपि विषियुंक्तविषयानहत् ।

विशुमर्षंते काकः सहजारे वृतः पिकः ॥

विशयः शृष्टिः । विशुमर्षः निम्बः, स्पष्टमन्यत् । पूर्वोदाहरणे सम-
संबन्धः स्तुतिपर्यवसायी । अत्र निम्बकाकयोः सहजारेपिकयोश्च संबन्धो
निगदापर्यवसायी स्तुतिपर्यवसायी चेति भेदः ॥

विषमालंकार वा मत्वा—विषम इति—जहाँ एक ही जगह विरुद्ध दो
वास्तुओं का वर्णन हो पर विषम होता है । उदाहरण—प्रतिभूत इति—हे देवि,
प्रतीत होता है कि त्रिपि गुटारे प्रतिभूत है क्योंकि तुम मेरे स्वामी के लिये
दुर्बला कह रही हो त्रिभुवनके देव स्वामी कही, और नू भति निर्बल कही ।

वही दोनों विरुद्ध वास्तुओं की घटना होने से विषमालंकार है । स

का अर्थ यहाँ प्रसिद्ध है। शंका—इसी अर्थ में सर्वनामों की शक्ति क्यों नहीं मानी जाती। उत्तर—सर्वनामों की शक्ति बुद्धिस्यत्व प्रकारक बोधजनन में है प्रसिद्धत्व प्रकारक बोधजनन में नहीं। यद्यपि यत् और तत् का नित्यसबन्ध होता है तथापि प्रकरण में प्राप्त प्रसिद्ध और अनुभूत अर्थ वाला तत् शब्द यत् शब्द की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार यत् शब्द तत् की अपेक्षा नहीं रखता जैसे 'मातृगुप्तः' इस पद्य में, कहीं पर यत् तत् दोनों ही उल्लिखित होते हैं जैसे 'सा बाणी' पद्य में और कहीं पर दोनों ही अर्थ से जाने जाते हैं। जैसे—'किं कुर्मः' पद्य में, क्या करें कहाँ जावें, भारतीय सस्कृति की रक्षा कौन करेगा, विदेशी सस्कृति से यह दिनोदिन नष्ट होती जा रही है। अरे क्यों शोक करते हो, जो ईश्वर-सदा से इष्ट की रक्षा करता आया निःसन्देह वही रक्षा करेगा। उदाहरण में दो क शब्द देवी और शुभ के रण का वैपम्य सूचित करते हैं। इसी तरह 'क शुभतयः' में भी यही अलंकार जानना चाहिए।

समालंकार का लक्षण—स सम इति—जहाँ पर दो अनुरूप वस्तुओं का वर्णन हो वह समालंकार होता है। उदाहरण—यत्प्रापेति—जो विदुषी पूज्य थी भक्तिदेवी ने पूज्य श्री अञ्जूरामजी को प्राप्त किया है वह सगत है।

शंका—यहाँ 'प्राप' पद दो बार कैसे कहा गया विरुद्ध होने से, उत्तर—एक पद का दो बार होना उद्देश्य प्रतिनिर्देय भाव से अतिरिक्त स्थान में दूषित होता है, ऐसी जगह नहीं। प्रत्युत ऐसी जगह दो बार अवश्य होना चाहिए, नहीं तो दोष होता है भिन्नवत् सी प्रतीति होने से। उदाहरण—विसर्ग इति—सृष्टि के निर्माण में व्यग्र वित्त वाले भी विधि ने यह ठीक ही किया कि निम्ब के फल का मर्मज्ञ काक बनाया, और आम्रफल का कोयल। पहले उदाहरण में सम-सबन्ध है और स्तुतिकृत् दूसरे में क्रम से विन्दा और स्तुतिकृत्।

(व्याघातालंकारलक्षणम्)

स व्याघातोऽन्यपाकारी तथाकारी भवेद्यदि ।

येनोपायेन यत्कार्यमेकेन कृतं तदग्रेण तदुपायकमेव तद्विषयं चेत्

क्रियते तदा स व्याघातलंकारः । साधितवस्तुध्याहृतिहेतुत्वाद् व्याघात इति श्रुत्यन्तेः । यथा मम—

सलानां वचनैः क्षिन्नं सज्जनं प्रीणयन्ति ये ।

वचनैरेव ते घोरा जयन्ति जगतीतले ॥

व्यापतेरंघातेर्वा घोरिति भाष्यम् । धियं रान्तीति घोरा धैर्यवन्तः स्पष्टमन्यत् । अत्र वचनैरेव खेदनं प्रीणनं च । यद्यपि सल-सज्जनवचनानां नैश्वं तथापि एक-जातीयत्वादेक्यं विवक्षित्वेदमुक्तम् ।

(विशेषालंकारस्य लक्षणम्)

स विशेषो विनाधारं यत्राधेयस्य वर्णनम् ॥२७॥

इतिप्रतिष्ठापारपरिहारेणाधेयावस्थितिवर्णनं विशेषालंकारः । यथा मम दुर्गाम्बुरधे—

इतिहासविदां मेवं द्रुवधादपवाहपति ।

संहारय इत्यनिघ्नयं यत्कृतं परितं स्वया ॥

स्वयेति हेम्या 'अतिङ्गे पुष्पदत्तमीति साम आकामिति सूत्रे भाष्योक्तेः । पुष्पदत्तस्यत्संज्ञाः त्रिषु सख्या इति कौमुदीकारोक्तेः दक्ष सिङ्गभेदो मात्र बोधः । अत्र हेम्योक्त्याधारं विनंवाधेयमूतस्य पवित्र-धरित्रायावस्थितिवर्णनाद्विशेषालंकारत्वम् । 'उत्पत्य गगनं हेमो केदोल्वा-हृष्य निष्कृतम् । समरं कुम्भे घोरे तिरापारा मुरारिणा ॥' इत्यस्मिन् दुर्गा-म्बुरधपद्ये तु नापमर्णकारः । तिरापारत्वावस्थित्यस्य स्वभाव्येन निवेदनात् ।

व्यापार का लक्षण—स व्यापार इति—जो कार्य जिसने एक उपाय से किया वही दूसरे ने उगगे विरुद्ध किया तो वह व्यापारालंकार होता है । उदाहरण—सत्तात्राविति—जो सत्ता के बचनों से शत्रु सज्जन को बचनों से ही प्रगम कर देते हैं वे धीर सर्वोच्च हैं वही दुष्टों के बचनों से शत्रु पुष्ट को सज्जनों से बचनों से ही प्रगम किया ।

विशेषालंकार का लक्षण—स विशेष इति—जहाँ क्वि प्रसिद्ध व्यापार के बिना ही वाधेय का वर्णन हो वहाँ विशेषालंकार होता है ।

उदाहरण—इतिहासेति—हे देवि, जो अद्भुत कृत्य तुमने दैत्यों को मारकर किया है उसकी कोई भी इतिहासज्ञ भूल न सकेगा ॥ यहां देवी रूप आधार के बिना ही आधेयभूत देवी के पवित्र चरित्र की प्रवस्थिति वर्णन से विशेषालंकारता है । 'उत्पत्य गगनं' इस पद्य में यह अलंकार नहीं होता क्योंकि यहां निराधारत्वावच्छिन्न का स्वशब्देन निवेदन है कवि प्रसिद्ध आधार परिहार से ही अलंकारता मानी है ।

(यथासंख्यालंकारलक्षणम्)

क्रमेणोक्तपदार्थानां यथासंख्यं क्रमान्वयः ॥

क्रमेणोक्तपदार्थानां तेनैव क्रमेणान्वयो यथासंख्यमलंकारः । संख्यामनतिक्रम्य यथासंख्यमिति श्युत्पत्तेः । संख्याया अनतिवृत्तिश्च प्रथमस्य प्रथमेन द्वितीयस्य द्वितीयेनेत्यादिक्रमेण समन्वये भवति । यस्त्वत्र रसगङ्गाधर-कारेणोक्तं, अत्र यथा संख्यतामात्रमेव नत्वलंकारः चमत्काराभावादिति तदसत् । एकत्र गद्ये पद्ये वा बहूनां क्रमान्वये चमत्कारानुभवादस्यालंकारत्वोपपत्तेः । चक्रवर्तिनाप्युक्तम्—एकत्रानेकेषां क्रमान्वयेर्बन्धित्यादस्यालंकारत्वमित्यलं परोक्तेषु शंकापंकावक्षेपेण । यथासंख्यलक्षणम्—

परोद्देशे परानन्दे खलसञ्जनयोर्द्वयोः ।

स्वभाव एव शरणं विषयीपूपयोस्त्रि ॥

यथा परोद्देशे जनकत्वं विषयस्य परानन्दजनकत्वं चामृतस्य स्वभावस्तथा खलसञ्जनयोरित्युपमार्थः । अत्र चमत्कारजनकं यथा संख्यान्यपादलंकारत्वम् । खलाः सञ्जनाश्च सहृदयानन्दकृता—निर्णीताः । 'यात्रा-खलानां च सतरां च किञ्चिद्विषेवनाथं क्रियते न चिह्नम् । परस्य दोषेषु गुणेषु चामी प्रमोदलाभात्प्रकटीभवन्ति ॥

(समाध्यलंकारलक्षणम्)

समाधिर्यत्र कार्यस्य सौकर्यं कारणान्तरात् ॥२८॥

भावत्मिक - कारणान्तर - समवधानाद्यत्रारिप्तित्त-कार्यस्य सौकर्यं

जायेत स समापितंकारः । एतेनाकस्मादीप्सितायं- लाभादिविषये प्रहर्षण-
नामा रसाङ्गापरकारोक्तो मित्रोऽलंकारः परास्तः । अस्मैव तत्र संभवात् ।
नामभावेण भवेत्सकारान्त्यप्रसङ्गादनवस्थादोषः । उदाहरणं मम—

उत्कृष्टां वश्विदाचक्रे यावदात्मविनिश्चये ।

तावदेव कुतोऽप्यासीद् देवान्तविबुधागमः ॥

प्राचीनबुद्धेत्पर्यः । अस्ति मवतिवर्ततिविद्यतमः समानार्था इति होल-
रोते । चार्वाकः—स वा एष पुद्गयोऽन्नरसमय इति धृतेः स्थूलशरीरमात्मेति
वदति । अपर इन्द्रियाण्यात्मेति वदति । मीढोऽज्ञानमात्मानं वदति । एत-
दुक्तधृत्या भासानामुत्तरधृतिभिर्जाघाप्रित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभावं
प्रत्यक्षं तन्ममेवात्मपदार्थं इति वेदान्तसारे निर्णयः । अथिकं मत्प्रणीतायां
शान्ति-प्रकाशितायां तद्दीक्षायां द्रष्टव्यम् । अत्रोदाहरणे कार्यमात्मतत्त्व-
विनिश्चयः कारण शास्त्रं, कारणान्तरं वेदान्तविद्वत्समागमः । आत्मतत्त्व-
निश्चये मोक्षो निश्चितः । कारणमात्मानं जन्ममृत्यु प्रहाणिरिति । तमेव विवि-
त्वाऽतिमृत्युमेति नाग्यः यन्वा विद्यतेयनायेति च द्येताऽवतरधृतौ ।

यथासंख्य वा सशाण—क्रमेणेति—क्रम से बहे पदार्थों का क्रम से
ही अन्वय होता यथासंख्य चलकार होता है । संख्या का घनतिक्रम
करके जो ही वह यथासंख्य है यह ध्युपति है । संख्या का घनतिक्रम
प्रथम से प्रथम का द्वितीय से द्वितीय का इस समन्वय में है । रस-
पञ्चापरकार ने समन्वयभाव से इसमें अनकारता नहीं मानी । वह
टीका नहीं, दर मय या पदमे बहूनों का अमान्य होना समन्वयजनक
होता है यही बात अकार्वाक ने अपनी प्रमाण टीका में सिद्ध की है । उदा-
हरण—परोक्षेण इति—विषय धीर समृद्ध की तरह—दूगरों को दुग्ग देना
तर का धीर आनन्द देना मन्त्र का स्वामानिध पमें होता है । यही
समन्वयभाव अन्वय होने से यथासंख्यकार है । मय धीर धर्मों
का निर्णय गह्वरानन्द बाण्य कार ने दिया है—जो दूगरों के संघ का
दुग्ग में प्रगम हो है वे मय है धीर को दुग्ग या आनन्द में प्रगम होने
है वे मन्त्र है ॥

समाधि का लक्षण—समाधिरिति—जहाँ कारणान्तर से कार्य का सीक्यं हो वहाँ समाधि धलंकार होता है । उदाहरण—उत्कण्ठामिति—एक सज्जन धात्मतत्त्व का निर्णय करना चाहता है, पर साधन केवल शास्त्र या श्रौरनहीं । इतने में ही अकस्मात् एक वेदान्त का मर्मज्ञ विद्वान् आ गया । चार्वाक (नास्तिक) एक धृत्याभास के आधार पर स्थूल शरीर को आत्मा मानता है दूसरा इंद्रियों को बौद्ध विद्वान् अज्ञान की आत्मा मानता है परन्तु ये इनके धृत्याभास सिद्धान्त धृतियों से बाधित हैं अतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्यस्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मपदार्थ है । यहाँ कारण हैं शास्त्र; श्रौर वेदान्त शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् का आकस्मिक आजाना कारणान्तर है । आत्मा के निश्चय होने पर मोक्ष निश्चित है ।

(तद्गुणालंकारलक्षणम्)

स्वगुणत्यागतोऽन्यस्य गुणप्राही च तद्गुणः ।

स्वगुणत्यागादन्यदोगुणग्रहणं तद्गुणालंकारः ।

उदाहरणम्—

पद्मरागायते नासामोक्षिकं सेऽपरत्विषा ।

नीलोत्पलानि दधते कटाक्षंरतिनीलताम् ॥

हे राधे, ते नासा=नासिकं च मोक्षिकं विनयादित्वात्स्वायं ठक् । अथरकान्त्या पद्मरागमणिरिवाचरतीत्यर्थः । ते कटाक्षं: कटाक्षविक्षेपैरेतानि नीलोत्पलान्यतिनीलतां दधते=धारयन्ति । नीलोत्पलानीत्यत्र विशेषणं विशेष्येण बहुलमिति समाप्तः । अभेद-संबन्धावच्छिन्न-नीलत्वावच्छिन्न-नीलनिष्ठ-विशेषणता-निरूपित-विशेष्यत्वावन्ति उत्पलानीति शाब्दबोधः । पूर्वभागे नासामोक्षिकस्य स्वगुणत्याग-पूर्वकपद्मगुणाग्रहणादत्तद्गुणत्वम् । परत्र परसंनिधानेन स्वगुणोत्कर्षादपि तद्गुणत्वमेव । नीलित-सामान्या-धस्यैव भेदो भेदाग्रहस्य तोल्यात् ।

(धतद्गुणालंकारलक्षणम्)

स्वसंबद्धगुणाप्राही यः स प्रोक्तो ह्यतद्गुणः ॥२६॥

स्वसंबद्धपदार्थ-गुणाप्रहणमतद्गुणालंकारः । उदाहरणं मन
च्छायापद्यम्—

गाङ्गयामुनयोर्मञ्जनं जलपोः शुक्लकृष्णयोः ।

हंस, त्वं शुभ्र एवास्ति नच कश्चिद्विपर्ययः ॥

मञ्जनं सर्वावयवावच्छेदेन स्नानकरणम् । शुभ्र एव = शुभ्रत्वपरमाव-
च्छिन्न एवास्ति वसंसे, अत्र प्रकृतहंसद्वारा गाङ्गयामुनजलयो शुक्लकृष्णगुणा-
प्रहणादसङ्गुणत्वम् । नद्यास्य विशेषोक्तावेवान्तर्भावोऽस्तिवति वाच्यम् ।
परगुणाप्रहणरूपविच्छिदति-विशेषजनकतयास्य पृथगलंकारताया निह्नोतु-
मशक्यत्वात् । अन्यदोषगुणेनान्यगुणाभावस्य, अन्यदोषेणान्यदोषाभावस्य
च वर्णनेऽप्ययमेवालंकारो नतु रसगंगाधरकारोक्तः पृथगवज्ञालंकार
इत्यलंकारममंज्ञा विचारयन्तु किमस्माकं बहूक्त्या ।

तद्गुणालंकार का लक्षण—स्वगुणत्यागादिति—अपने गुण को
त्यागकर अन्य का गुण स्वीकृत करना तद्गुणालंकार होता है । उदा-
हरण—पचरागापत इति—हे सुन्दरि, तुम्हारी नाक का मोती तुम्हारे
अपरोष्ठ की बान्ति से पचराग मणि जैसा दीखता है और नील-वमल
बटाश बान्ति से अति नील हो गए हैं । यही पूर्व भाग में नासा के मोती
ने अपना गुण त्याग कर पद्य का गुण ग्रहण किया है और नीलोत्पलानि
में दूसरे के सामीप्य से अपने गुण का उत्कर्ष होने से भी तद्गुण ही हुआ ।

अतद्गुण का लक्षण—स्वसंबद्ध इति—जो अपने से सबन्ध रखने
वाले गुण का ग्रहण नहीं करता वह अतद्गुण अलंकार होता है । उदा-
हरण—गाङ्गेति—हे हंस, तू सफेद और बाले गङ्गा और यमुना के
जल में स्नान करता हुआ भी सफेद हो रहा, कुछ भी विपरीतत्व नहीं
आया यह आश्चर्य की बात है ॥

मञ्जन = सर्वाङ्ग स्नान होता है । जहां पन और व्यापार एक में
रहें वह मञ्जन का पातु होता है यही मत भूपणकार का है । यहा प्रकृत
हंस के द्वारा गङ्गा और यमुना के जल और कृष्ण जल का ग्रहण नहीं
किया गया, अतः अतद्गुण अलंकार हुआ । इस अलंकार का विशेषोक्ति

में अतमवि नहीं हो सकता क्योंकि इसमें पर गुण का ग्रहण न करना रूप विच्छिन्ति विशेष पृथग्लकारत्व साधक है ।

(परिसख्यालकारलक्षणम्)

परिसख्या परित्यज्य पर पूर्वत्र यन्त्रणम् ॥

पर परित्यज्य पूर्वस्मिन्वस्तुनो नियमन परिसख्यालकार । यत्र क्विप्रतिभयेतरयस्तुष्यवच्छेदस्तत्रैवास्या अलकारत्वम् । तेन पञ्च पञ्चनखा भठ्या इति मीमांसकोक्ता परिसख्या नास्य विषय । यत् परिसख्या शब्दो लोके परिगणनवाचक इति नास्या अलकारत्वमवर्षमिति तत्तुच्छम् । अलकारिक-परिभाषितानां शब्दानां लोकविसंवावस्याकिंचि त्करत्यात् । उदाहरणम्—

भक्तिभवे न विभवे चिन्ता, मशसि नात्मनि ।

शास्त्राभ्यासो न कामाक्षे विदुषा परिहृष्यते ॥

भवत्यस्माज्जगदिति भव ईश्वर । यतो वा इमानि भूतानि जायते इति श्रुते । 'जग्माद्यस्य यत' इति स्मृतेश्च । नदीश्वरसद्भावे किं प्रमाण न तावत्प्रत्यक्षम् । न चक्षुषा गृह्यते इति श्रुते । अदृष्टविग्रहो देवो भावप्राप्तो मनोमय इति धातयत्त्वयस्मृतेश्च । नातुमान लिङ्गाभावात् । नाप्यागम । वेदानामीश्वरोक्तत्वेनेश्वरा भावे वेदानामप्रमाणत्वात्तथा च वैश्विकसूत्र तद्वचनादान्तापस्य प्रामाण्यम् । इति चेच्छृणु । मनुष्यमात्रेणशश्वरचन सावयवत्वेन कार्यं नयंवेश्वरशिलादिक स्वकर्तारमीश्वरमाक्षिपति सकल स कर्तृक कार्यत्वाद्दुष्टवदित्यनुमानात् । नात्मनि न शरीरे, अतएव आत्मा आत्मानं जानातीत्यत्रात् करणावच्छिन्न कर्ता शरीरावच्छिन्न कर्मेति कर्मवत्सूत्रभाष्य सगच्छते । शास्त्रे वेदादिशास्त्रे अभ्यासो रुचि, कामाक्षे = स्त्र्यादौ, अत्र मक्त्यावेभवाद्यतिरिक्ताधिकरणकत्व प्रतिषिद्धम् ॥

(उदात्तालकारलक्षणम्)

वर्णन तदुदात्त स्यात्समृद्धिशालिवस्तुन ॥३०॥

समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तालकार । यथा मम—

नूनमेव कुरुक्षेत्रं स्वर्गद्वारमुदीर्यते ।

अद्यापि बुग्धध्यावेनंदी वहति यत्र धं ॥

‘धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे’ इत्यादिगीतोक्तोक्तं केवलं धर्मक्षेत्रमिदमपि तु भोग-
क्षेत्रमपीत्याह—स्वर्गद्वारमिति । तच्च महाभारतेऽप्युच्यते — ये वसन्ति
कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे । कथमित्यत आह—अद्यापीति । भूतकालस्य तु
कथनमेव किमिति ध्वन्यते । मम्मटमते महतामङ्गलमपिसः । यथा भम-
सेयमयोष्या नगरी गरीयसी शक्रधाम्नोऽपि ।

यत्रावतीर्य रामोऽशेषान्निकयात्मजान् जिग्ये ॥

सेयमिति । तद्विदमोः सर्वनामत्वाविशेषेऽपि पूर्वानुभूतपुरोवति-
विषयत्वान्नैककल्पताऽन्यथापर्यापितापत्तिः स्यात् । अत्र भगवान् रामो
नगपङ्क्तम् । यथा वा मर्मव—

स जयतु गणेशदत्तो गोस्वामी त्यागमूर्तिश्च ।

यन्नेतृत्वेऽद्यत्वे प्रचलति भूपान् सनातनो धर्मः ॥

परिसंख्या का लक्षण—परिसंख्येति—पर को त्याग कर पूर्व में
वस्तु का नियन्त्रण कर देना परिसंख्या अलंकार होता है ।

जहाँ पर कवि की प्रतिभा से अन्य वस्तु का निरास होता है वही
पर परिसंख्या को अलंकारता है, अतः ‘पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या,’ यह मीमांसको
की परिसंख्या इस अलंकार का विषय नहीं है । कुछ विद्वान् कहते हैं कि
संख्या शब्द ही श्लोक में गणना का वाचक है यह नाम इसका ठीक नहीं
है । परन्तु यह कथन निरर्गल है क्योंकि यह विसंवाद कुछ महत्त्व नहीं
रखता । उदाहरण—भक्तिरिति—भक्ति शिव में होनी चाहिये न कि शरीर की,
विभव (ऐश्वर्य) में, चिन्ता कीर्ति की होनी चाहिये न कि शरीर की,
अभ्यास शास्त्रों में हो न कि काम-बला में, यह निष्ठा विद्वानों की है ।
भव नाम ईश्वर का है । ईश्वर के होने में क्या प्रमाण है । यदि प्रत्यक्ष
कहो तो कौन प्रत्यक्ष, याह्य ध्यवा ध्याम्यन्तर, बाह्य तो हो नहीं सकता
ईश्वर को रूपरहित द्रव्य होने से, वेदों में भी ईश्वर को रूपरहित माना
है ‘न धनुषा गृह्यते’ ईश्वर का ग्रहण धनु से नहीं होता । स्मृति में भी

ऐसा ही माना है। धाम्यन्तर प्रमाण भी ईश्वर साधक नहीं क्योंकि ईश्वर आत्ममुखादि से भिन्न है। अनुमान प्रमाण भी ईश्वर साधक नहीं क्योंकि कोई भी लिङ्ग (चिह्न) न होने से लिङ्गलिङ्गी ज्ञान ही अनुमान होता है। धागम (शब्द) प्रमाण-वेद्य भी ईश्वर नहीं, क्योंकि वेद ईश्वरोक्त हैं। जब ईश्वर ही असिद्ध है तो वेद कहाँ। समाधान—नवदेश्वर शिलादि स्वयं तो नहीं बन सकते तो वे अपनी इच्छामात्र से कर्ता ईश्वर को सिद्ध करते हैं।

उदात्तालकार का वर्णन—वर्णनमिति—समृद्धिशाली वस्तु का वर्णन उदात्तालंकार होता है। उदाहरण—नूनमेवेति—कुक्षेत्र प्रदेश अवश्यमेव स्वर्ग का द्वार है, जहाँ भव भी दूध दही का नाला बहता है। मम्मटाचार्य के मत में महान् पुरुष जहाँ किसी के अङ्ग हो जाते हैं वहाँ भी उदात्तालकार होता है। उदाहरण—सेयमिति—इन्द्र की नगरी (अमरावती) से भी बढ़कर यह अयोध्या नगरी है जहाँ श्रीराम ने अवतरित होकर समस्त राक्षसों का विजय अर्थात् विनाश किया था ॥

सेयमिति—इस पद में तत् और इदम् दोनों ही शब्द सर्वनाम हैं परन्तु तत् का अर्थ है पूर्वानुभूतत्व और इदम् शब्द का पुरोवर्तित्व है इसीलिये पर्यायवाचकता इनमें नहीं। इस उदाहरण में श्रीराम नगरी के अङ्ग हो गये। दूसरा उदाहरण—स जपशिविति—त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्त जी, विजय को प्राप्त हो जिनके नेतृत्व में सनातनधर्म सम्यक्तया प्रचलित है। यहाँ श्री गणेशदत्त जी सनातन धर्म के अङ्ग हुए।

(विकल्पालकारलक्षणम्)

प्रतिभोत्यविरोधो यो विकल्पः समसत्त्वयोः ॥

यत्र कविप्रतिभोत्थितात्तुह्यवनयोर्विरोधाद् वंचित्यं तत्र विकल्पा-
लंकारः । विरोधश्च समसत्त्वयोरैव योग्यः । अथद्विग्नानवच्छिन्नयोर्विरो-
धानुपपत्तौः । यथा—

एको देवः केशवो वा शिवो वा ॥

द्वयोरेककालावच्छेदेन सेवने, घनग्याश्चित्तपत्तो नानिति भगवदुक्तपा-
 ज्ञग्यमस्तद्विरोधः स चंदाप्रयणपर्यवसानः । समबलं च द्वयोः यथा हरि-
 स्तया हर इत्यादी समानंश्वयंशालित्वोक्तेः । स ब्रह्मा स शिवः स हरिः
 इति श्रुतेरेकत्वान्मुपगमस्तु यस्तुतो न लोकतः ।

अत्र विकल्प्यमानयोर्द्वयोरीपम्यमेवालंकारस्त्वबोजम् । 'ते घन्यास्ते
 महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः । यैर्निबद्धानि काव्यानि वेधा काव्येषु
 परिणताः ॥ इत्यादी तु समुच्चयार्थो वाशब्दो न तु विकल्पार्थ इति नास्य
 विषयः ।

(वाच्यलिङ्गालंकारलक्षणम्)

समयंनार्हस्यायंस्य काव्यलिङ्गं मतं बुधैः ॥३१॥

समयंनार्हस्यायंस्य समयंनार्हत्वात्, काव्यलिङ्गमतंकारः ।
 काव्याभिमतं लिङ्गं काव्यलिङ्गम् । साहित्याभिमतलिङ्गत्व-ध्रुवासाय
 काव्यग्रहणम् । लिङ्गमत्र हेतुः । तत्स्वरूपमग्निपुराणे—सिधापयिपि-
 तायंस्य हेतुर्भवति सामरु इति । पञ्चम्यादिप्रतिपादितहेतुत्वस्य हेतो-
 ध्रुवासाय लक्षणे समयंनपत्रम् । गम्यमानहेतुत्वस्यैव हेतोरासंकारिकैः
 काव्यलिङ्गवाङ्मोकारात् । तेन वक्ष्येन घट इत्यत्र नासंकारत्वम् । यत्तु
 रसाङ्गाभरवारेणोक्तं काव्यलिङ्गं नासंकारः । हेतुहेतुमद्भावस्य लोक-
 तिष्ठत्वादिति घ सभ्यम् । गम्यमानहेतुत्वहेतोः समत्कारजनकतया
 लोकतिष्ठत्वाभावात् । उदाहरणमस्मिन्मृष्यपञ्चिन-शिरोमणि-शिवदत्त-
 पादानाम्—सम्भूतमरणगम्भूतविज्ञानगतसम्भ्रमः ।

सांसारिकमुत्र मये दूरोन सह्य सधु ॥

यं मुनं भावयतीति सम्भुः । तस्य स्मरणेन सम्भुतमुत्पन्नं, यागात्स्वर्गो
 भवतीत्याहःकुम्पत्ने इत्याद्यर्था इति महोच्चिरीतिशोक्तैः । 'अनेकार्था हि
 यावत्' इति आद्यद्वारोक्तैश्च । यद्ज्ञानं शोऽभितपादिभूतेः सिधायं-
 त्वस्य तेन यो मयः संभ्रमो पाप सः । इत्यस्यम् । अत्र पुराणोक्त-
 र्थं समर्थितम् । यथा वा मम—

नन्दनन्दन-पादाब्ज-भक्तघानन्द-परिप्लुताः ।

कामयन्ते न वै कुण्ठं वैकुण्ठमपि पण्डिताः ॥

वैकुण्ठस्य विष्णोर्वैकुण्ठं लोकमपोत्यपिना स्वगदिस्तु कथैव केति ध्वन्यते । अत्रोत्तरार्धेन पूर्वार्धं समर्थितमिति भेदः । अयमलंकारो वेदेऽपि दृश्यते । अक्षरमा दीव्य. कृषिभित् कृषस्वेत्यादौ ॥

विकल्प अलंकार का लक्षण—प्रतिभोत्य इति—जहाँ समान बल वाले वस्तुओं का कविप्रतिभोत्यत विरोध हो वहाँ विकल्पालंकार होता है । उदाहरण—एक इति—देव एक ही उपास्य है केशव या शिव । एक समय में दोनों की उपासना अनन्यभक्तत्वनियेधक है । समबल दोनों का प्रसिद्ध है ।

यहाँ विकल्पमान दो वस्तुओं का औपम्यही अलंकारता का कारण है । 'से घन्या' इस पद्य में वा-शब्द समुच्चयार्थक है न कि विकल्पार्थक इसीलिये यहाँ यह अलंकार नहीं ।

काव्यलिङ्ग का लक्षण—समर्थनाहंस्थेति—समर्थना योग्य अर्थ का समर्थन करना काव्यलिङ्ग अलंकार होता है । तार्किकाभिमत लिङ्ग के निरासार्थ काव्य-पद पढा । लिङ्ग नाम हेतु का है उसका स्वरूप अग्निपुराण में दिया है—सिपाधयिपित अर्थ का जो साधक है वही हेतु होता है । पञ्चम्यादि-प्रतिपादित हेतु यहाँ विवक्षित नहीं है अपितु गम्यमान हेतुकत्व ही हेतु काव्यलिङ्ग माना गया है । अत 'नास्ति घटो-ज्जुपलब्धे.', 'दण्डेन घट.' इत्यादि में यह अलंकार नहीं होता ॥

रसगङ्गाधरकार ने इस अलंकार का खण्डन किया है वह ठीक नहीं क्योंकि उसने लिखा है कि इसमें लौकिक हेतुहेतुमद्भाव रहता है कोई चमत्कार नहीं परन्तु हम देखते हैं कि इसमें गम्यमान हेतुकत्व हेतु है लौकिक नहीं अतएव चमत्कार है । उदाहरण—शम्भुस्मरणेति—भगवान् शंकर के स्मरण से जन्य जो ज्ञान उससे नष्ट हो गया है सधर्म (अज्ञान) जिसका, वह भी सासारिक सुख को तृण के समान तुच्छ मानता है । यहाँ पूर्वार्ध भाग से उत्तरार्ध की बात का समर्थन किया गया है ।

दूसरा उदाहरण—नन्दनन्दनेति—नन्द के पुत्र (भगवान् कृष्ण) के चरण कमल की भक्ति के आनन्द में मग्न पण्डित लोग, वैकुण्ठ (विष्णु) के वैकुण्ठ लोक को भी नहीं चाहते ।

स्वर्ग आदि का तो कहना ही क्या यह बात महीं अपि से ध्वनित हुई । यहाँ उत्तरार्ध भाग से पूर्वार्ध भाग का समर्थन हुआ है यही पहले उदाहरण से भेद है । यह अलंकार 'अर्क्षर्मा बीष्यः' यहाँ वेद में भी देखा गया है ।

(प्रत्यनीकालंकारसंज्ञाणाम्)

प्रत्यनीकं रिपोः कस्मिन्संबन्धिनि पराक्रमः ।

यत्तयच्छत्रुपक्षपातिनि कस्मिन्नपि पराक्रमकरणां प्रत्यनीकमलंकारः । अनीकारप्रतीतिविग्रहः । शत्रुनिष्ठश्लेषस्वरूपनेनात्मनिष्ठं दुर्बलत्वं गम्यते । लोके शत्रुपराजयार्थमनीकं सैम्यं प्रयुज्यते तत्पराजयाशक्ती तसंबन्धिनः पराभवः क्रियते तच्चानीरतुल्यतया प्रत्यनीकमिति । यथा नंपद्ये—

जितस्तवास्येन विष्णुः स्मरः धिया वृत्तप्रतिभो मम तो ध्ये वृत्तः ।

तथेति वृत्तवा यदि तत्रितं मया न भोपसंरत्पपराः त्रिस्तामराः ॥

तथ मत्तस्य भ्रुयेन विष्णुः वन्दो जितः । शरीरवाग्दया कामम् । ती विष्णुस्मरो मम इमपमया ध्ये भारणे वृत्तप्रतिभो । वृत्तः वरमादेतो, स्वय-
मुत्प्रेक्ष्याह—तथेति वृत्तेर्यादि । अत्र मतेन जितो चन्द्रकामो मत्तं जेतु-
मनाद्यौ तत्पक्षपातिनी इमपन्ती योइत्यत्र इति प्रत्यनीकालंकारः । अत्र संभावनाया विद्यमानायेऽपि गोत्रेऽनांशरत्तवप्रसङ्गः प्रत्यनीकवृत्त-संबन्धि-
त्वं च अमरवारादिनायजनवृत्तया तेनोत्रेऽसा च मत्तवत्तस्य तिरोयानात् ॥

(वाच्यार्पावत्यनवारणसंज्ञाणाम्)

वाच्यार्पावतिरधस्य सिद्धिः संभुतिवाग्दयात् ॥३२॥

संभुत्पद्मादेनाधस्य तसिद्धिः वाच्यार्पावतिरलंकारः । सीमातत्पार्पा-
वतिमद्वयताद्युदात्ताय वाच्यवद् ॥ यथा ध्ये—

मनांस्यपि मुनीनां वै हरन्ति हरिणोक्षणाः ।
विषयासक्तचित्तानां प्राकृतानां कथं च का ॥

मनांस्यपीत्यपिभिन्नक्रमः मुनीनामपि मनांसीत्यर्थः । हरन्ति मोहयन्ति ।
विसिन्वन्ति विषयिणमनुबध्मन्तीति विषयाः इत्यादयः । अत्र हरिणीदृग्-
विलासे मानसे पदमपित्तवति मुनीनामपि नास्ति कुशलं प्राकृतानान्तु का
वर्त्तयत्यर्थादापद्यते । यत्तु अत्र कैमुत्यन्यायतामात्रमेव न त्यक्तकारत्वमिति
रसगङ्गाधरकारेणोक्तम् । तत्र युक्तम् । अनुभवसिद्ध-कैमुत्यन्यायचमत्कार-
रस्य निरासम्बन्धत्वापत्तेरित्मलं परकीयदूषणगवेषणया । केनचिदर्थेन
तुल्यन्यायत्वार्थान्तरस्यापादनमप्यर्थापत्तिः । यथा मम बुगन्धिवये—

तव शरणं समुपागतो यदि ना कश्चन तापी ।
तर्हि तवितुरप्यप्रतो भवेत्तमः संस्थापि ॥

तापी तापत्रयवान्, भस्वर्ये इतिः ननु तप्तुं शीलमस्येत्यर्थे शिनिः । कृद्वृ-
त्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसीति भाष्योक्तेः । ते च तापा द्वाधिभौतिकाध्यात्मिका-
धिदैविकसंज्ञकाः । तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्यावरनिबन्धनम् ।
आध्यात्मिकं शारीरं मानसं च । आधिदैविकं भूतप्रेतप्रहाद्यावेशनिबन्धन-
मिति । तमःसंस्थाञ्चकारस्य स्थितिः, न च कथं संस्था घुमास्येतीत्व-
प्राप्तेरिति वाच्यम् । इयः क चेति सूत्रे संस्येति भाष्यप्रयोगात् । भवेत्—
भवितुं शक्नुयात्, शक्यार्थे लिङ् । अत्र तुल्यकारणत्वावर्थान्तरं न्यायसाम्या-
बापद्यते । अयमसंकारो वेदेऽपि दृश्यते । यथा—यस्तित्याजससि विवं
सच्चायं न सस्य वाच्यपि भागोऽस्ति । यदि शृणोत्यलीकं शृणोति न हि प्रवेद-
मुकृतस्य पत्याम् ॥ यः पुमानध्ययनमकृत्वा यैवं परित्यजति तस्य वाच्यपि
भाग्यं नास्ति कले भाग्यं नास्तीति किमु यत्तदप्यमिति सायणभाष्यम् ।
अद्यत्वे तु—धीतस्मार्तादिविद्या स्मृतिस्मृतिविषया कापिसौ कापि सोना,
शीलाकाणाबधारी इहियहरगिरः सौरभं नारभन्ते । कामाकीमारितोक्ति-
र्जगति पुण्यतं गौरवाहू रवान्त, का शंका शंकरावेहृदयमपिपते काव्य-
साहित्यशास्त्रे ॥

प्रत्यनीकः प्रलंकार का लक्षण—प्रत्यनीकमिति—बलवान् रिपु के किसी सम्बन्धी पराजय पर पराक्रम करना प्रत्यनीक प्रलंकार होता है। उदाहरण—अत्रि इति—तुम्हारे (नल के) मुख से चन्द्रमा पराजित है और कान्ति से कामदेव, वे दोनों तुम्हें कुछ न कहकर तुम्हारे से संबन्ध रखने वाली मुक्त (दमयन्ती) को पीड़ित कर रहे हैं परन्तु मैं प्रसन्न हूँ कि वे मुझको तुम्हारी वस्तु समझते हैं। यहाँ नल के मुख और कान्ति से पराजित चन्द्रमा और कामदेव, नल के परामव करने में असमर्थ होकर उसकी प्रतिनिधि भूत दमयन्ती को पीड़ित करने लगे, अतः यहाँ प्रत्यनीकालंकार है। यद्यपि यहाँ उत्प्रेक्षा का प्रसङ्ग है तो भी प्रत्यनीक का समतार अधिक है।

वाच्यार्थापत्ति का लक्षण—वाच्यार्थापत्तिरिति—जहाँ कौमुद्य न्याय से अर्थ का समाधान हो वहाँ वाच्यार्थापत्ति अलंकार होता है। मीमांसकों की अर्थापत्ति के निरासार्थ वाच्यपद पढ़ा। उदाहरण—मनास्यपीति—हरिणोत्पत्ता = सुन्दर स्त्रियों मृनिषों के भी मन को हर लेती हैं, विषयासक्त साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है। यहाँ यह कहा है कि जिनका हानभाव मृनिषों को भी मृष्य कर देता है वहाँ विषयी जनों की क्या अर्थापत्ति ॥

रसगङ्गापरवार ने इस अलंकार के संबन्ध में लिखा है कि यहाँ कौमुद्यिक न्यायका मान है कोई समतार नहीं, परन्तु यह कथन तथ्यता से रहित है क्योंकि कौमुद्यन्याय में समतार है। किसी तुल्य न्याय से अर्थान्तर की गिद्धि भी यही समतार है। उदाहरण—तब शरणाभिनि—हे देवि, यदि तेरी शरण में आकर भी कोई दुःखी यह करता है तो मूर्ख के आगे समतार भी यह करता है। वे दोनों बात असंभव हैं। यहाँ एक अर्थ द्वारा तुल्य कारण होने से अर्थान्तर न्यायनाम्य से आपत्त हो जाना देखा गया यहाँ अर्थान्तर समतार होता है। यह समतार वेद में भी देखा जाता है। उदाहरण—वसिष्ठोवाच—ओ पुरुष, वेद को न पढ़कर मान अज्ञान का लक्षण मानकर उपन्यासादि को पढ़ता है, यद्यपि आर्षी

फलशून्य है, क्योंकि वह व्यर्थ ही वाणी को कष्ट देता है, उससे सुकृत मार्ग का ज्ञान नहीं होता । यहाँ कैमुत्य न्याय होने से अर्थापत्ति अलंकार हुआ । आजकल तो— श्रुति और स्मृति का स्मरणमात्र रह गया, कपिल-प्रणीत सांख्यविद्या—विलीन हो गई, कणादकृत वैशेषिक-शास्त्र का पठन-पाठन लोग भूल गये, गौतमीय न्याय की तो सुगन्ध भी कही नहीं रही । भट्टपाद कुमारिल के तन्त्रवातिक और श्लोकवातिक का पठनपाठन आज कहाँ होता है ? गुरु (प्रभाकर) का तंत्र भी कठिन होने से प्रचलित नहीं हो सका, शाकर (अद्वैत मत) तो निवान्त ही पाखण्ड सा हो गया, जब से काव्य साहित्यशास्त्र का प्रचुर प्रचार हुआ ।

(सारालकारलक्षणम्)

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो यो हि तत्सारमुच्यते ।

यत्र पूर्वपूर्वपि क्ष योत्तरोत्तरस्योत्कर्षः चरमस्य सर्वोत्कृष्टत्वपर्य-
वसायो तत्र सारालंकारः । सारमिति सामान्ये नपुसकं मृदु पचतीतिवद् ।
अतएवोक्तं भाष्ये—‘शक्यं घानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुमिति ।
यथा घाभटालंकारे—

संसारे मानुष्य सारं मानुष्यके तु वैबुध्यम् ।

वैदुष्ये धर्मित्वं धर्मित्ये चापि सदयत्वम् ॥

मानुष्य—मनुष्यत्वम्, सारं श्रेष्ठं तस्य बुद्धिमत्त्वात् । नहि मानुषात्
श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् इति भारतेोक्तेः । बुद्धिं त्रयमेवंतद्द्वैवानुग्रहेतुक्तम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥ इति भगवत्शंकरपादोक्तेश्च ।
वैदुष्यं भोक्षविषयकं ज्ञानम् । तच्च भोक्षसाधनमिहाभिप्रेतम् । नच—
‘तत्प्राप्तिहेतुविज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने ।’ इति कर्मणोऽपि भोक्षसाधनत्व-
धवणात्, ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति वाच्यम् । नित्यनेमित्तिकरेव कुर्वाणो
दुरितक्षयमित्यादिना कर्मणो ज्ञानसाधनत्वोक्तोरिति कृतमप्रकृतविचारेण
अत्र सदस्य उत्कर्षो विधाय्यति । यथा वा मम—

वेदेषु भारतं सारं तत्र भारतमुत्तरम् ।

तत्रापि च कुरुक्षेत्रं तत्र पण्डित-मण्डलम् ॥

‘भारतं नूनमेवात्र पूर्वव्यां सर्वतोऽधिकम् । यदिहास्ति तव यत्र
यन्नेहास्ति न तत्कचित् ॥ भारतं देशो प्रपञ्च, सर्वतः सर्वदेशेभ्यः सर्व-
प्रभेदेभ्यश्च । उभयोर्वेदिष्वपिमाह—यदिहास्तोति । भारतात्पतं कुक्ष-
क्षेत्रमपि श्रुतिस्मृत्योर्गोपते । कुक्षेत्रं च देवानां वेदयजनमासेति श्रुतिः ।
आदौ ये ब्राह्मणा जाता ब्रह्मक्षेत्रे तपोधना । ब्रह्मक्षेत्रं कुक्षेत्रं ब्रह्मदेशो
निगद्यते ॥ इति स्मृतिः । अत्र पण्डितमण्डले उत्कर्षो विद्याभ्यसिति ।
अपमत्कारो वेदेषु हृद्यते । यथा—

महत् परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष परं ।

पुरुषान् परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

अत्र सांख्ययोगाभिमतपुरुष उत्कर्षविधाम-धाम । अपरपर्योऽपीममत्कार-
माद्यक्षते विचक्षणा । यथा—

सृष्टाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः ।

वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयेदिति ॥

पर्यात्—याचकः सर्वापर्यं विधामभूमि ।

(ससृष्टफलकारलक्षणम्)

तिलतण्डुलसदलेपात्स्थितिः ससृष्टिद्वयते ।

अत्र ससृष्टभेदानां दाग्दार्थात्तदागच्छां तिलतण्डुलान्यायेन ससृष्टयमाना
स्थितिः अमत्कारमायातुमीष्टे तत्र ससृष्टेरसकारत्वम् । परमात्रप्राप्तयो
दाग्दालकारयोः ससृष्टिर्यथा—

यो संरिष्यन्नसो मत्सो बहुमती-बीयो विनीयोऽच यो,

यो मानेन पृष्टुं शृष्टुमंभवति यो निर्माद्यसो राघवः ।

यं बीतो भरतो रतो शृष्टुगुणं दाग्दालु गन्तुं ,

संजाते त्वयि विद्यम, गितिरने, तच्चोऽपि ते विसृता ॥

यथा या—दृष्टोरात्रवित्रय-दाग्दालु अयामकस्य

तत्रयं अत्ररात्रयं अत्ररात्रयं इषामकम् ।

सपहं यं शृष्टुतायां शृष्टुतायांमिदं व्ययम् ॥

सुवृत्तानां—श्लेषध्वन्दसा, सुवृत्ताना सञ्जनानामिव । शब्दार्थ-
लकाराणामनुप्रास-रूपकोपमानां यथाऽस्मच्छिद्यं वामदेवोपाध्यायस्य—
निर्वापिते निजप्रकाशकदिव्यदीपे केनापि नाथु युवकेन महात्मगान्धो ।
दृष्टि न नन्दयति भारतभूमिरेया, योषेव हाररहिता सहितापि रत्ने ॥
अत्र रहिता सहितेत्यनुप्रास । विषयतावच्छेदकरूपेण ज्ञाते विषये
महात्मगान्धो, विषयितावच्छेदकावच्छिन्न विषयिणो दिव्य-दीपस्याभेद-
घटित सादृश्य रूपकम् । यद्यप्यभेदो न ससर्गं तथापीतरसवन्धानवच्छिन्न
विशेष्य विशेषणभावस्तेन विवक्षित । इयसद्भ्रावाबुपमा, तत्र भेदघटित-
सादृश्यस्य उल्लासात् । यत्रारोप स विषय । यस्वारोप स विषयीत्यपि
बोध्यम् । यमकोपमारूपकारुप्रासाना यथा—

शिव पायादपायान्न शरदिन्दुसमप्रभ ।

भक्तहृदसरसोहस चन्द्रोत्तस त्रिलोचन ॥

त्रिलोचन त्र्यम्बक, त्र्यम्बक यजामहे इति ध्रुते । तत्र त्र्योप्यम्बकानि
लोचनानि यस्य स इत्यर्थः । अत्र देवविषयिणी कविनिष्ठा रतिरपि व्यज्यते ।
सा च भावः । व्यङ्ग्यस्यैव रत्यादेर्भावत्वात् । अत्र पायादपायादिति यम-
कम् । भक्तहृदय सरस्यभिन्नतयावतिष्ठत इति रूपक केवल भक्त-हृदये
हसस्यितेरनुपपत्ते । हस उत्तस इत्यनुप्रासः ।

(सकरालकारलक्षणम्)

नीरक्षीरनयादेया सबन्ध सकरो मत ॥३३॥

अत्र अपरिस्फुट भेदानामलकाराणां नीरक्षीर-नयायेन सकीर्यमाणत्वा-
नुपकारोपकारकभावः तत्र सकरालकारः । यथा—

पाणो पानीयमानीय पिपासुरपि पावंतो ।

शोणिते शोणितभ्रान्त्या भूयो भूयो विमुञ्चति ॥

भगवतो पावंतो पिपासुरपि शोणिते रक्ते स्वपाणौ हस्ते पानीय जल
मानीय—गृहीत्वा शोणितभ्रान्त्या—रुधिरभ्रमेण, भूयोभूय—पुन पुन
विमुञ्चति—त्यजति । नचात्र शोणितपत्र निहतार्थमिति वाच्यम् तद्व ध्रान्ति

कारणरूपबोधेन शोणितावबोधत् । अत्र तद्गुणोऽङ्गी भ्रान्तिमानङ्ग-
मिति तयोदपकार्योपकारकभावः । न चात्रोन्मादो व्यङ्ग्य सचान्यस्मिन्न-
न्यावभास एवेति वाच्यम् । भ्रान्तिमति सादृश्य-प्रयोज्यत्वोपत्तेः ।
उन्मादस्य च सादृश्य-प्रयोजकत्वाभावात् । यत्र बहूनामलंकाराणां सन्देहः
स सन्देह-संकरः । यथा मन—

विद्योभ्रत्या यानविद्युत्प्रभृत्या कृप्यादिभ्यः पूर्णलाभाद्विभृत्या ।

किंचित्किंचित्सर्वसौहृदस्य वृद्ध्या हिन्दुस्थाने रामराज्यं प्रवृत्तम् ॥

हिन्दुसर्वं—गोरक्षरूपरम् । हि कृष्णती वसुपत्नी वसूनां बुहामद्विभ्यां
पयोऽध्या इति ध्रुतेः । तेषां स्थानं स्थितिर्यत्र तस्मिन् । रामस्य राज्यं राम-
राज्यं, रामकृष्ण-प्रजाकर्मक पालनादि-सुखविशिष्टं राज्यमिति बोधः ।
अत्र कि हिन्दुराज्यस्य रामराज्यत्वेन वर्णनादतिशयोक्तिः । अथवा
रामराज्य-प्रवृत्त्या हिन्दुराज्यप्रवृत्तिरवगम्यत इत्यप्रस्तुतप्रशंसा यदा
हिन्दूनामुत्कर्षजनकः कालः सम्प्रति वर्धित इति प्रकारान्तरेण
मिथानात्पर्यायोक्तमिति सन्देहसंकरः ।

सार मनकार वा उदाहरण—उत्तरोत्तरमिति—यहाँ सार शब्द सामान्य
नपुंसवर्तित है, जैसे 'मृदु पचति' में यही बात भाष्य में मानी है । उदा-
हरण—संतारे इति—ससार में मनुष्य-जन्म अति श्रेष्ठ है, उसमें भी
ज्ञान होना, ज्ञान से धर्मात्मा होना धर्मात्माओं में भी दयालु होना सब-
श्रेष्ठ है । महा ज्ञान मोक्षसाधन (मोक्षजनक) लेना चाहिये । शका—
मोक्ष तो उपयुक्त पद्य से भी कर्म के द्वारा माना गया है मन मोक्ष-
साधन, ज्ञान और कर्म दोनों होने चाहिये—उत्तर—नित्य नैमित्तिक
कर्म, ज्ञान वा साधन माना है मोक्ष वा साधन नहीं । महा सदपत्न में
उन्मत्त वा विधाम है ॥

दूसरा उदाहरण—देशोत्थिति—गङ्गालां देशों में भारतवर्ष सब से
श्रेष्ठ है जहाँ भी उत्तर भारत, यहाँ पर भी कृषीय, उसमें श्री पण्डितों
की मण्डली गारभूत है । भारतवर्ष, सब से श्रेष्ठ समझिये है कि वह कर्म-
भूमि भी है और भोगभूमि भी, अथ देश भोगभूमि ही है । इत्यतिशे

देवता भी इसमें जन्म लेने की इच्छा रखते हैं। उत्तर भारत में सर्व-श्रेष्ठ कुरुक्षेत्र भूमि है, तभी महाभारत में इसकी त्रिविष्टप (स्वर्ग) माना है। श्रुति स्मृति प्रमाणों से यह मुक्तिकोश है, इसमें मरे हुए पुरुषों की मुक्ति अवश्यमेव हो जाती है और उपर्युक्त प्रमाण से यह भी निर्भ्रान्त सिद्ध है कि महर्षियों की आदिम जन्मभूमि यही कुरुक्षेत्र है नकि पाश्चात्यो से कथित अन्य।

यह अलंकार वेद में भी देखा जाता है—उदाहरण—महत इति—महत्त्व से परे अव्यक्त (प्रकृति) है, प्रकृति से भी परे पुरुष है, पुरुष से परे कोई वस्तु नहीं, वह तो पराकाष्ठा है। भगवान् ने भी गीता में कहा है 'मत्तः परतरं नास्ति'। यहा पुरुष नाम से ईश्वर अभिप्रेत है। जैसा कि योगसूत्र में लिखा है—'क्लेश-कर्म-विपाकाशयंरपरामृष्ट पुरुष-विशेष ईश्वरः'। यहा पुरुष में उत्कर्ष का विधान था। यह अलंकार अपकर्ष में भी रहता है। उदाहरण—तृणादिति—तिनके से भी लघु रूई है, रूई से भी लघु याचक (मागनेवाला) है। वायु उसको इसलिये नहीं उठाकर ले जाता कि कदाचित् मेरे से भी यह कुछ माग न बैठे।

संस्मृति का लक्षण—तिलतण्डुलेति—जहा शब्दालंकार और अर्थ-लंकारों का तिलतण्डुल न्याय से मेल हो वहा संस्मृति अलंकार होता है। शब्दालंकार यमकानुप्रास की संस्मृति का उदाहरण—यो वरिष्ठिविति—जो शत्रुओं के लिये अनल (अग्नि) तुल्य नल था, पृथ्वी का दीपक रूप दिलीप राजा, परम सम्मानित सम्राट् पृथु, महामान्य श्री रामचन्द्र, समस्त नृप गुणों से भूषित दुष्यन्त पुत्र-भरत, स्मरणमात्र से कल्याणकारक शन्तु राजा, हे पृथ्वीपते विक्रम, तुम्हारे गुणों से ये सब राजा लोग गताय हो गये। दूसरा उदाहरण—तनय इति—चन्द्र वरदायी के पुत्र ने, जो चन्द्र के ही तुल्य था, पृथ्वीराज रासो में श्रेष्ठ पुरुषों की तरह श्रेष्ठ छन्दों का संग्रह किया। अनुप्रास, रूपक और उपमा की संस्मृति का उदाहरण—निर्वापित इति—किसी नायुराम गोड़से नामक युवक के द्वारा महात्मा गांधी जी रूपी दीपक के बुझाये जाने से यह भारतभूमि, जवाहरादि रत्नों से

अलङ्कृत होती हुई भी हारमून्य स्त्रीवत्क्षोभित नहीं हो रही है। यहाँ रहित संहिता में अनुप्रास है। महात्मा गान्धी रूपी दिव्य दीपक यहाँ रूपक है। इव होने से उपमा। यमक उपमा रूपक अनुप्रास की संसृष्टि का उदाहरण—शिव इति—भगवान् शिव, विघ्नों से हमारी रक्षा करे, शत्रु इन्दु के समान वे सुन्दर कान्ति वाले हैं, भक्तों के हृदय रूपी तट्टाग में हंस सदृश हैं, चन्द्रमा जिनका शिरोभूषण है और तीन नेत्रों वाले हैं।

सकरालकार का लक्षण—नीरक्षीरेति—जहाँ अपरिस्पृष्ट भेद वाले प्रलकारों का 'नीरक्षीर' न्याय से सर्वायमाण होने पर उपकार्य और उपकारक भाव का समव हो वहाँ संकर प्रलकार होता है।

उदाहरण—पाणाविति—गुलाब के समान लाल वणुं वाले हाथ में पानी पीने की इच्छावाली श्री पार्वती, जल लेकर उस जल को शशिर के भ्रम से बार-बार हाथ से छोड़ देती है। यहाँ तद्गुणालकार भङ्गी (प्रधान) और भ्रान्तिमातृ भङ्ग (गौण) है इसलिये दोनों का उपकार्य और उपकारक भाव है। जहाँ बहुवचन से प्रलकारों का सन्देह हो वह सन्देह सकर होता है। उदाहरण—हिन्दुस्थान इति—स्कूलों से, सवारी से, घर-घर में विजली तथा भासड़ा जल से, कृषि, मकान, पोस्टालम, आकाशवाणी और सुखवृद्धि से हिन्दुस्थान में रामराज्य हो गया। श्री स्वामी करपात्र जी की 'रामराज्य' नामक एक कस्या भी है।

प्रलंकारा गुणा दोषाः प्रसिद्धा एव दर्शिताः ।

अप्रसिद्धनिबन्धस्तु केवल प्रत्यविस्तरः ॥३४॥

वेदाधिके द्विसहस्रे यिक्त्वावित्यवत्सरे ।

विश्वमान्ये महापन्ये वेहली-नगरे धरे ॥३५॥

काठिन्य-विस्तरौ हित्वा यथाशक्ति धिया मया ।

साहित्यविन्दुद्धतः साहित्यामृतसिन्धुतः ॥३६॥

साहित्य-शास्त्रीय-ग्रन्था-सह स्र सन्ति यद्यपि ।

तथापि तेभ्यः सर्वेभ्यः चमत्कारोऽस्य दृश्यताम् ॥३७॥

देवता भी इसमें जन्म लेने की इच्छा रखते हैं। उत्तर भारत में सर्वश्रेष्ठ कुरुक्षेत्र भूमि है, तभी महाभारत में इसको त्रिविष्टप (स्वर्ग) माना है। श्रुति स्मृति प्रमाणों से यह मुक्तिकेन्द्र है, इसमें मरे हुए पुरुषों की मुक्ति अवश्यमेव हो जाती है और उपर्युक्त प्रमाण से यह भी निभ्रान्त सिद्ध है कि महर्षियों की आदिम जन्मभूमि यही कुरुक्षेत्र है न कि पाश्चात्यों से कथित अन्य।

यह अलंकार वेद में भी देखा जाता है—उदाहरण—महत इति—महतत्त्व से परे अव्यक्त (प्रकृति) है, प्रकृति से भी परे पुरुष है, पुरुष से परे कोई वस्तु नहीं, वह तो पराकाष्ठा है। भगवान् ने भी गीता में कहा है 'मत् परतर नास्ति'। यहाँ पुरुष नाम से ईश्वर अभिप्रेत है। जैसा कि योगसूत्र में लिखा है—'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष-विशेष ईश्वरः'। यहाँ पुरुष में उत्कर्ष का विश्राम आ। यह अलंकार अपकर्ष में भी रहता है। उदाहरण—तृणादिति—तिनके से भी लघु रुई है, रुई से भी लघु याचक (मागनेवाला) है। वायु उसको इसलिये नहीं उड़ाकर ले जाता कि कदाचित् मेरे से भी यह कुछ भाग न बँटे।

ससृष्टि का लक्षण—तिलतण्डुलेति—जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकारों का तिसतण्डुल न्याय से मेल हो वहाँ ससृष्टि अलंकार होता है। शब्दालंकार यमकानुप्रास की ससृष्टि का उदाहरण—शो बंरिद्विति—जो शत्रुघ्नो के लिये अनल (अग्नि) तुल्य नल था, पृथ्वी का दीपक रूप दिलीप राजा, परम सम्मानित सभ्राट् पृथु, महामान्य श्री रामचन्द्र, समस्त नृप गुणों से भूषित दुष्यन्त पुत्र-भरत, स्मरणमात्र से कल्याणकारक शन्तनु राजा, हे पृथ्वीपते विक्रम, तुम्हारे गुणों से ये सब राजा लोग गतार्थ हो गये। दूसरा उदाहरण—तनय इति—चन्द्र बरदायी के पुत्र ने, जो चन्द्र के ही तुल्य था, पृथ्वीराज रासो में श्रेष्ठ पुरुषों की तरह श्रेष्ठ छंदों का समूह किया। अनुप्रास, रूपक और उपमा की ससृष्टि का उदाहरण—निर्वापित इति—किसी नाथुराम गोड़से नामक युवक के द्वारा महात्मा गांधी जी रूपी दीपक के बुझाये जाने से यह भारतभूमि, जवाहरादि रत्नों से

बलंकृत होती हुई भी हारान्म्य स्त्रीवत् घोभित नहीं हो रही है। यहाँ रहिता सहिता में अनुप्रास है। महात्मा गांधी रूपी दिव्य दीपक महा रूपक है। इव होने से उपमा। यमक उपमा रूपक अनुप्रास की संसृष्टि का उदाहरण—शिष इति—भगवान् शिव, विघ्नों से हमारी रक्षा करें, घरद् हन्दु के समान वे सुन्दर कान्ति वाले हैं, भक्तों के हृदय रूपी तड़ाग में हंस सदृश हैं, चन्द्रमा जिनका शिरोभूषण है और तीन नेत्रों वाले हैं।

संकरालंकार का लक्षण—नीरक्षीरेति—जहाँ अपरिस्पृष्ट भेद वाले अलंकारों का 'नीरक्षीर' न्याय से संकीर्णमाण होने पर उपकार्य और उपकारक भाव का संभव हो वहा संकर अलंकार होता है।

उदाहरण—पाणाबिति—गुलाब के समान लाल बरुण वाले हाथ में पानी पीने की इच्छावाली श्री पावंती, जल लेकर उस जल को सधिर के भ्रम से बार-बार हाथ से छोड़ देती है। यहाँ तद्गुणालंकार अङ्गी (प्रधान) और भ्रान्तिमान् अङ्ग (गोण) है इसलिये दोनों का उपकार्य और उपकारक भाव है। जहाँ बहुत से अलंकारों का सन्देह हो वह सन्देह संकर होता है। उदाहरण—हिन्दुस्थान इति—स्कूलों से, सवारी से, घर-घर में विजली तथा भाखड़ा जल से, कृषि, मकान, पोस्टालय, आकाशवाणी और सुखवृद्धि से हिन्दुस्थान में रामराज्य हो गया। श्री स्वामी करपाव जी की 'रामराज्य' नामक एक संस्था भी है।

अलंकारा गुणा दोषाः प्रसिद्धा एव दर्शिताः ।

अप्रसिद्धनिबन्धस्तु केवलं ग्रन्थविस्तरः ॥३४॥

वेदाधिके द्विसहस्रे विप्रमाविश्यवत्सरे ।

विश्वमान्ये मर्याप्ये देहली-नगरे वरे ॥३५॥

काठिन्य-विस्तरौ हिंसा यथाशक्ति विद्या मया ।

साहित्यविन्दुप्लुतः साहित्यापृतसिन्धुतः ॥३६॥

साहित्य-शास्त्रीय-ग्रन्थाः सत् अक्षन्ति यद्यपि ।

तथापि सैन्यः शत्रून् अक्षन्ति इत्यताम् ॥३७॥

सर्वशास्त्रीय-विद्वत्त्वं कवित्वं चानुप्रासिकम् ।
 यत्र साहित्यसत्तारे ग्रन्थाः तेऽस्मान्न चापरे ॥३८॥
 भासते भास्करो यावत् यावच्चन्दति चन्द्रमाः ।
 तावन्मनो विनोदाय कवीनामस्तु वस्तिवदम् ॥३९॥
 श्रीमत्पण्डितराज-पण्डित-जगन्नाथे प्रयाते दिवम् ।
 किं शून्यासि किमाकुलासि कविते साहित्यवाग्देवते ।
 एतं ग्रन्थकृतं निभाल्य कमपि प्रासादमासादय ।
 संथास्य प्रतिभा स सूक्तिपु रस सा नद्यता भग्यता ॥४०॥
 याताऽस्तं हि शुण्णता समुदितो भूपानसूयाभरः ,
 कालोऽयं कलिराजगाम महतां बुद्धेरपि भ्रामकः ।
 अस्त्येका विनयाधिका तव पुरो वाग्देवि मेऽन्यथना ,
 मद्ग्रन्थस्य रहस्यवेदन-परः कोऽप्यस्तु धीरः सदा ॥४१॥

इति महामहोपाध्याय श्रीध्वज्विराम-शास्त्रि-विद्यासागर प्रणीते
 साहित्यविन्दी पंचमो विन्दुः ।

यहा हिन्दु राज्य का रामराज्यत्वेन वर्णन होने से अतिशयोक्ति अल-
 कार है, अथवा—रामराज्य प्रवृत्ति कथन से हिन्दुराज्य की प्रवृत्ति अवगत
 हो जाती है इसलिये अप्रस्तुतप्रशसा नामक अलकार यहा है अथवा
 हिन्दुओं के उत्कर्ष का काल आ गया है, इस तरह—प्रकारान्तर से कह
 देने में पर्यायोक्ति अलकार है। यह सब सन्देहसकर अलकार है। अलकार,
 गुण और दोष प्रसिद्ध ही यहां रखे गये हैं, क्योंकि अप्रसिद्धों का
 निबन्धन करना केवल ग्रन्थ-विस्तार होता है। विक्रम स० २००४ में
 हमने भारत-राजधानी दिल्ली में यथाशक्ति बुद्धिपूर्वक, कठिन्ता और
 विस्तार को छोडकर साहित्य-विन्दु ग्रन्थ को साहित्यामृत सिन्धु से निकाला
 है। यद्यपि साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हजारों हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में उन
 सबसे अधिक चमत्कार है। वह है, सर्वशास्त्रीय-विद्वत्त्व और अनुप्रास
 विशिष्ट कवित्व, जो इस ग्रन्थ में आपको मिलेगा। जब तक सूर्य भगवान्

पृथ्वी पर मासित हैं और चन्द्रमा आह्लादित कर रहे हैं तब तक यह ग्रन्थ कविजनों का मनोविनोद करता रहे । हे साहित्य वाग्देवते कविते ! तू पण्डित-रात्र जगन्नाथजी के अभाव से दून्य तथा खिन्न हो रही है । इस ग्रन्थकार को देखकर जरा सोधी संभाल । इनमें वही योग्यता, वही नवीन चरुनक्षमता और रसिकता है । भव गुणज्ञता नहीं रही, असूया बहुत बढ़ गई, समय भी कलियुग आ गया जो महान् व्यक्तियों की बुद्धि को भी भ्रान्त कर देता है । हे वाग्देवि ! तुम्हारे चरणों में विनम्र प्रार्थना है कि हमारे इस ग्रन्थ का रहस्य-ज्ञाता कोई न कोई व्यक्ति अवश्य बना रहे ।

महामहोपाध्यायस्य महाकवि-शिरोमणेः ।

श्रीधञ्जुरामविद्याख्येः प्रसादेन महागुरोः ॥

पंचाप-विश्वविद्यालय-समुत्तीर्ण-प्रभाकरः ।

शास्त्री जीवनरामाख्यो हिन्दी-टीकामिमां व्यधात् ॥

इति महामहोपाध्याय श्री धञ्जुराम शास्त्री विद्यासागर मुक्त
श्री जीवनरामशास्त्री, हिन्दी-प्रभाकर-कृत साहित्यबिन्दु-टीका समाप्ता ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
अविज्ञानस्य०	७३	असमाप्तजिगीपस्य	१६२
अनर्गवंहारके	७४	असनोऽपि०	११
अङ्गनातिङ्गना०	७४	अहो शैत्यस्यमहिमा	२०२
अगच्छदाशयान्त्रेषी	११३	अहो रूपमहो धाम	७६
अजस्य गृह्णो जन्म	१६७	अहो मलमुजङ्गस्य	२०६
अष्टावेष रसा०	८०	अहो केनेहती	१४६
अन्या विक्रम सपत्तिः	१७८	अहो प्रभावो०	२६
अनारत गुरु०	१६	अज्ञानान्धस्य लोकस्य	८५
अचारम्य चिर साधो	२०	आचष्ट विस्पष्ट	१२०
अनया तव रूपसोमया	१६५	आघयोव्याघयो	१८२
अनादिसर्गस्रजिवानुभूता	१६६	आपदिब्यापृतनया	१५४
अनेके भ्रातरो लोके	१२५	आसतेशतमधिक्षितिभूपाः	१११
अनूनामास	१०४	आसन्नतापक	१००
अपारमसारसमुद्रमध्ये	१३१	आसीत्तुरङ्गोऽपि	१११
अपारे काव्यसंसारे०	११	आश्चर्यमेतद्	२०७
अग्निं सुतर्तुमपि	१८८	इतिहामविदा नेद०	२११
अग्निनय नयनेनिमीलितश	६७	इदमदमुत्तयीवनं नय	८५
अमुष्यविचारसनाशनतंकी	११२	इन्दु मुस्ताङ्गु गृण	११०
अलीव मल्लिने नेत्रे	१५६	इमा किमा०	६५
अवष्टु पदिवोऽपि	१०४	ईशाणिमैश्वर्यं	६५
अवश्यमव्येष्वनवग्रहप्रहा	१०३	ईश्वरानुग्रहा	६५, ६६
अशोचत तनस्तन्वी	६३	उत्पत्त्या०	४१
अवलोक्य निपन्द	४०	उद्भूत मत्त	२१३
			१३१

उत्पादयन्०	२४	किं भानुः किमु	१७९
उन्मीलस्त्रीलनीसोत्पल	१००	वा काली वा मधुरा	१५३
उन्नतं पदमवाप्य यो	१८८	कामे यदस्ति सौन्दर्यं	१७६
उपहारमेव तनुते	१६६	काव्यस्य	६१
एकश्लोकस्य निर्मात्रे	८५	कुरङ्ग मातङ्ग	४१
एकः श्लोकवरो	१४	कुहूगिरः चन्द्रुपुटं	१००
एतत्प्रार्थ्यं०	७४	को न प्रसीदति जन-	१८४
एतावन्मुखपत्रे य	५२	कङ्कणालिवल्लहेश्च	१०६
एवमेव जनस्तस्या	५७	क्रिया प्राह्वेतनी	६३
एष वन्ध्यासुतो०	३८	क्वाह दैन्यभराक्रान्तः	१८८
एह्येहि पुत्र, रघुनन्दन	८५	खलाना वचनैः	२११
एह्येहि लाल	१५५	गाङ्गयामुनयो०	२१५
कः शिवदेकाकी	१५३	गृहे गृहे कलत्राणि	१८४
कठिन थव्य०	२२	गृहा नगर्गा देहल्या	१७६
कवीना घटना०	११	गुप्तं घटप्रतिभटस्तनि	११२
काव्यशास्त्र वि०	६	गुरूणा स्तनभारेण	१६६
किमविनाशि विना	१२५	गुरूमध्यगता सीता	१७
कृष्ण ! त्वदीयपदपकज	१६६	गुरूणा पारतन्व्येण	१४७
कलङ्कक्षयशून्योऽसि	१८४	गेहे गेहे जगमा	२००
कला कलाप	६४	गौरपत्य बलीवर्दी	२०१
किं कवेस्तेन०	१६	घनपटलीबहु	१५४
किमसुभिर्गल्पितैर्जड	१०३	चतुर्णां पुरुषार्थिना	१६३
किमहं वराण्ये	७४	चन्द्राभमाभ्रं	६५
किमय खतु मातङ्गः	१७५	चरणान्ज कराब्जेन	२०१
किं कुर्म, क्वच गच्छामः	२०८	चलन्नतकृत्य	१३०
दिः चक्रे कालिदासेन	६६	चिरमुत्कण्ठित	१७६
किं जल्पितेन	८३	चेतो नल कामयते.	१२१

क्षेत्रा व्यनेश०	६५	दत्त्वात्मजीवं स्वयि	११२
क्षेत्रमिन्द्री भवद्वक्त्र	१०१	दयितोऽन्यन्तकुपितो	८७
जटापुर्जंजर देह	२०२	दार्शनिकीयत्प्रतिभा	१४८
जनादंनस्य जाल्लब्धा	१८२	दिवि वा भुवि वा वासो	८४
जितस्नवास्येन	२२१	दामोदरकराघात	१७४
जीयय येन कविना यमकं	१२१	दूरतया स्थूलतया	१७६
जीन्दपुर्या रवि०	२	देशेषु भारत सार	२२४
भ्रूभानिलेन	१०१	देवीस्तोतुर्जगद्वश्य	१२०
तत्कण्ठमालिङ्गघ	१२०	दोषाः पदाना	६१
तव शरण०	२२२	दृष्ट दृष्ट महाराज ।	६६
तत परमोमित्युक्त्वा	१०२	धर्मैव हतो हन्ति	७४
तदल्पमपि	६१	धर्मिषु काम	६१
तनय चन्द्रराजस्य	२२५	धरातुरासाहि	६५
तप श्रुत च योनिश्च	१५०	न किलानुययुस्तस्य	१२६
तस्यार्थे गरुडामरेन्द्रसमर	१०२	न खलु न खलु मुग्धे	१६६
त्वत्पादपद्म भजता	१६४	न सज्जान०	२६
त्वन्मुख यदि भो राघे	६१	नलोऽपि मा	५६
त्वामामनन्ति प्रकृति	१२३	नन्दनन्दन	२२०
तव वर्त्मनि वर्त्तता	६४	न सा सभा यत्र न सन्ति	२०१
तव सम्मतिमेव केवलाम्	१६६	न तुलाविपये	१०४
तावन्म्लेच्छ०	७५	न याचे गजालि न या	८६
त्रयाम०	६५	नलिन मलिन विवृण्वती	१३१
तैस्त्रैरलकृति	१४३	निस्त्रन्दचन्द्रवदना	१३१
तृणानीव घृणावादान्	११३	नाना नारी निष्फला	१८६
तृणानि शुष्कानि वने	१६२	नास्था योगे न च	७४
तृणाल्लघुतर	२२५	निजास्य चन्द्रस्य	१००
द्वे वर्त्मनी गिरी०	१२	निजाननस्पर्शन०	११०

निषीय यस्य क्षितिरक्षिणा'	१३८	प्राणस्य क्षुत्पिपासे	२०५
निर्वाण-वैरिदहनाः	५६	प्रीतिभक्त्यादयो	८१
निःशङ्कमङ्कुरितता	१०१	प्रीतिर्भवति	८३
निसान्तनिद्रेवदशेव	१६०	प्रायः कार्ये	१५३
नूनमेव कुरक्षेत्र०	२१७	प्रादयो द्योतकाः	१५६
नैव कस्य प्रशस्यस्त्व	१६५	प्रतिकूलविधिस्तवाबुना	२०८
पतत्पतङ्गप्रतिम	१२३	प्रवृत्तिर्वा निवृत्ति०	१५
पदे पदे मन्दिराणि	१५३	बन्ध सेतु रामोऽधे.	१६६
पद्मपत्रं नृणानेत्रैः	१८५	बहुमानि विधिनापि	११०
पद्मरागायते	२१४	बहूना	८३
पण्डितेन्द्रो जगन्नाथ शर्मा	१४०	बाहुजाना समस्ताना	१७०
परिखावल्यच्छलेन	१७०'	विम्बोष्ठ एव रागस्ते	२०७
परोद्वेगे	२१२	बुद्धो न धर्मः	६५
पलाशकुसुमभ्रान्त्या	१७४	बृहस्पतिर्न	७५
पाणौपानीयमानीय	२२६	स्राह्मणस्य महत्पार्श्वं	१५०
पादानत मामालोक्य	८७	भगिनी भगवत्यादि	१२३
पिकोपि कीपि	१२१	भक्तिर्भवे०	२१६
पुण्येन लभ्यते लक्ष्मीः	१६६	भवताऽपकृतं यन्मे	४७
पुरन्दरदसो विप्रः	१६२	भवतोपकृतं यन्मे	४६
पुष्पेषु मल्ली	१२६	धम्यते यत्र तत्रैव	१५०
पृच्छामि त्वा	१५३	भार्यारूपवती शत्रुः	१८२
प्रजाना पालने माने	१६३	भागीरथी हरद्वारे	१११
प्रतिष्ठा सौकरी	१२०	मनास्यपि	२२२
प्रसिद्धेऽपि	८१	मनुष्यत्वस्य गर्वेषु	७३
प्रसूनास्नीरुंतल्पे	७०	मन्दोदरीमपि विमुञ्चति	८६
प्रचण्डदेवदोदण्ड	२०	मन्दाकिनी सलिल	१६६
प्रभूनेऽप्य दुराचार	१२७	मयादमुर्तकस्मिन्नध्वे	६६

मयि कुर्वन्ति शास्त्राथ	७४	योजनघोत्यद्विजो	२०४
महत्तः परमव्यक्त	२२५	योगज्ञो योगिभिर्भोजः	१७३
महामहोपाध्यायेन	२	यो वैरिष्वनलोनलो	२२५
मद्दिमा न हिमाममे	१५४	रक्षः स्वरक्षणमवेदमनिज	११२
मारारि-शक्र	१५५	रसादिभिन्नत्वे	१४३
मातानताना	१४६	रस भाग्वादि	२१
मानृगुप्तो जयति य.	२०८	राघे ते अक्षिणौ एते	१०१
मित्रेण मित्रवर्णो	१६४	राघा प्रसाद्यमानाधि	८७
मुख न शोभते	१७०	रे चित्त चिन्तय चिर	१७६
मुखमय	६३	रे मूढ ! त्व तावदेव	७१
मुखपाणीपदाक्षिणपद्भुजे	१११	रे मूढ तव-दीरात्म्यं	१६६
मृदु शब्दाभिधानं	२३	लक्ष्मी-परिचयान्मूढा	४७
यनः सुराणा	१०२	लोके प्रविष्टनामा	१००
यत्पूजनीय-वमनीय	१३०	वदनमिद न सरोज	१७८
यत्प्राप विदुषी	२०६	बहगुणवेदः	७६
यथासुधि	१७३	वान्देव्या	३४
यदत्र सौष्ठव	१४८	धानीर बुद्धौहीन	१६
यद्यप्यद्भानि	२६	विश्रमादिय भूपाली	१५६
यदि गर्जन्ति गोमायु	१२५	विदग्धः सरनोरागी	१५१
यदुग्ग्रसत्त्वं	१३७	विद्योप्रस्था	२२७
या निरा मर्षमूकानो	५७	विनायकेन भवता	१५५
यान्ति न्याय प्रवृत्तस्य	१८६	विप्राणा वदनेषु०	३३
यानेव शब्दान्०	२६	विप्रोभूतमन्स्यमूल	१६६
यावन्मे धमनीमुगेपु	७५	विनायकेन०	१५५
मुञ्चं राज्यधरानां०	२४	विनायके	६३
युवती सुरवासेनी	१७०	विनायक	१२५
येषु येषु गरगा	६३	विनायक	२०६

वेदम पत्युरविशान्नसाध्वसात्	११८	स गौरीशकरो०	७३
वेद वेद०	२६	सन्तापशान्तिकारित्वा	११३
वेदस्याध्ययन०	३४	सभिन्नमर्माणि	२०५
वात्रौ मित्रे मुनी म्लेच	८०	सम्पदा सपरिव्वक्तो	१८६
सम्भुस्मरण०	२१६	सममेव समाक्राम्यद्	१७६
वन्दे याये च साहिचे	१८६	समानया समानथा	१५५
शब्दार्थयो	१३१	स्मितेन गौरी	६३
श्यामतामरमदाममुदर	१४८	समिद्धशरणादीता	१५४
श्येनमायान्नमालोक्व	७७	सरोजकोशाभिनयेन	१२७
धुचेस्तदासीत्सर	११३	ससते ससुतेर्भी	१८६
धुम्भमुक्तानि	१५६	स्वतत्रा सवतत्रेषु०	१
धूय धुञ्जगृह दृष्ट्वा	६६	स्वेषु ववत्रेषु	७८
धा तमनो यदि	१६८	स्व च ग्रहा च ससारे	१०३
धा तस्य समसाध्यत्वात्	८०	स्तोतु प्रवृत्ता०	१३
दिग्गणे राजसिंहाना	१६४	स्पर्शित न	११५
दिव पायादपायात्	२२६	स जयतु मखेद०	२१७
दूनी न सर्पा०	११	समीत सधमणोनेन	१६२
ध्रम्य तत्वाध्य	३६	सविषमधुना	१०२
धयणाञ्जनिपुटपेय	८५	सहोदरा बुकुम	१७६
ध्रीकृष्णुचत्रमालावय	८७	शागम्यमीचिनी०	५१
ध्रीकृष्णानननि सृता	१८४	शाशागुषागुर्मुगमेव	१७६
धीमणेन नमस्कृत्य०	२	शापयन्ती प्रिय	४१
धृतिदूषक	१६४	शा भङ्गिरस्या गनु	१०३
दत्त प्रगाद	११५	मुषापयलिता	२१
शाश्विगारमाशय०	२	मुनीन गोमदसारयो	७०
शम्भुध्याशापुत्रीरथ	१६७	शेयमयोध्या	०१७
रा जपति सुगम०	७३	सति दोषा	६१

समावयति वैदर्भी	१००	ह्रीणा च हृष्टा	६२
संयोगो विप्रयोगश्च	५१	हरे राम, हरे राम,	१६५
संसारे मानुष्यं सार	२२४	हरेयंदक्कामि	६५
संसार एष कूट.	१६६	हिताग्र यः	१५४
हृत्प्रमदाद्यैर्यशमा	११३	हे राष्ट्रपति राजेन्द्र	१६८
हरिहरंरति पापानि	१८६	हेमेव वाय०	६३
ह्यग्रीव समालोक्य	२०४	क्षितिगर्भंधराम्बरालयः	१११



महामहोपाध्याय प० छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर
द्वारा रचित ग्रन्थ

- | | | |
|------|---|-------------|
| (१) | न्यायसिद्धान्त मुक्तावली—
परीक्षोपयोगि सरलटीकासहित | २ ०० |
| (२) | न्यायदर्शन—
परीक्षोपयोगि सरल टीका सहित | १ ०० |
| (३) | वेदान्तसार—
परीक्षोपयोगी सरल टीका सहित | ० ७५ |
| (४) | दुर्गाभ्युदय नाटक सटीक—
श्रीजीवनरामशास्त्री हिन्दी-प्रभाकर कृत हिन्दी टीका (यन्त्रस्थ) | १ ०० |
| (५) | संस्कृत का इतिहास—संस्कृत-हिन्दीमय | १.०० |
| (६) | लघुकौमुदी साधनोदाहरणयुक्त—
श्रीजीवनरामशास्त्री 'हिन्दीप्रभाकर' कृत हिन्दी टीका सहित | (यन्त्रस्थ) |
| (७) | कुरुक्षेत्र महात्म्य—खोजपूर्ण हिन्दी टीका सहित | १ ०० |
| (८) | महाभाष्य द्वयाह्निक परीक्षा टीका— | (यन्त्रस्थ) |
| (९) | निरक्त पञ्चाध्यायि—परीक्षा टीका | (यन्त्रस्थ) |
| (१०) | संस्कृत का बृहत् इतिहास | (यन्त्रस्थ) |

प्राप्तिस्थान

मेहरचंद्र लक्ष्मणदास

अध्यक्ष—संस्कृत-पुस्तकालय,

कूचा चेला, दरियागज, दिल्ली-६

प्रेसागृह तथा विक्रमालय—१ घनसारी रोड, नया दरियागज, दिल्ली-६

बाल-हिन्दी-संस्कृत-कोष

रचयिता—आचार्य लक्ष्मीनारायण शास्त्री, विद्याभास्कर ।

(मंडिक, हायर-संस्कृती एव बी० ए० के संस्कृत छात्रों के लिए)

हिन्दी से संस्कृत में अनुवाद करने के लिए संस्कृत पढ़नेवाले विद्यार्थियों को हिन्दी के संस्कृत शब्द, उनके लिङ्गादि जानने के लिए बड़ी कठिनाई होती थी । इस कठिनाई को दूर करने के लिए हमने उपरोक्त कोष बनवाया है जिससे हिन्दी का संस्कृत में अनुवाद करना बड़ा सुगम हो गया है ।

यह कोष चार भागों में बाटा गया है —

पहला भाग—इस भाग में नित्यप्रति व्यवहार (इस्तेमाल) में आनेवाले कुल हिन्दी शब्द अकारादि क्रम से देकर उनके संस्कृत शब्द लिख दिये गये हैं । संस्कृत शब्द लिखकर साथ ही लिङ्ग-प्रदर्शन भी कर दिया गया है ताकि विद्यार्थी को तुरन्त पता लग जावे कि यह शब्द पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग है ।

दूसरा भाग—इस भाग में अनुवादायें रोजमर्रा उपयोग में आनेवाले कुल संस्कृत शब्दों को ५५ वर्गों में बाटा दिया है जैसे—पशुवर्ग, भोजनवर्ग, पात्रवर्ग, शकवर्ग, वृक्षवर्ग इत्यादि । पत्र कीजिए आपको 'बकरे' का संस्कृत शब्द चाहिए, आप तुरन्त पशुवर्ग निकालिए वहाँ आपको तुरन्त 'अज' शब्द मिलेगा और उसके साथ ही उसका अर्थ 'बकरा' । इसी तरह यदि आपको 'आटा' की संस्कृत चाहिए, आप तुरन्त भोजनवर्ग निकालिए, आपको वहाँ बिना परिश्रम किये 'गोधूम-धूम' शब्द मिलेगा और साथ ही उसका अर्थ 'गेहूँ का आटा' । ५५ वर्गों में अनुवाद के काम में आनेवाला कोई भी शब्द शेष नहीं रह गया ।

इनके अतिरिक्त अव्यय वर्ग अलग दे दिया गया है जिसमें सब अव्यय आपको मिलेंगे ।

संस्थावाचक वर्ग अलग है जिसमें १ से लेकर पच्चीस तक की संख्या १ संस्कृत शब्द दिये गये हैं ।

एक और विशेषता देखिए—एक ऐसा अलग वर्ग दिया गया है जिसमें अंग्रेजी के नित्यप्रति बोलचाल में आनेवाले शब्दों के संस्कृत रूप

दिये गये हैं । नमूना ५। ३एः—

विमानविधाम-स्थानम्	एयरोड्रोम	(Aerodrome)
प्रकाशनिरोधः	ब्लैक आउट	(Black out)
कुलपतिः	वाइस चान्सलर	(Vice Chancellor)

तीसरा भाग—इस भाग में शब्दों की रूपावलिया दी गई है । सर्वप्रथम कारको के प्रत्यय, कारको के विभक्तियों में अर्थ-दिये हैं । तदनन्तर अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त, ओकारान्त और औकारान्त शब्दों के पुल्लिङ्ग, स्त्री-लिङ्ग एव नपुंसकलिङ्ग में प्रायः सभी उपयोगी शब्दों के रूप दिये गये हैं । इसके पश्चात् हलन्त शब्दों के तीनों लिङ्गों में रूप दिये गये हैं जिनमें रूपों की देखकर अनुवाद में सुगमता प्राप्त की जा सकती है । इनके साथ ही सर्वनाम शब्द और सख्या-शब्दों के रूप भी दिये गये हैं ।

चौथा भाग—इसमें धातुओं की रूपावलिया दी गई है । संस्कृत व्याकरण में धातुओं के दस गण हैं और प्रत्येक गण के पृथक्-पृथक् चिह्न हैं । इन दसों गणों के म्वादिगण, घदादिगण ऋग से दिये गये हैं । प्रत्येक गण की परस्मैपदी और आत्मनेपदी धातुओं के पाँच कालों—वर्तमानकाल, भूतकाल, भविष्यत्काल, आज्ञा और प्रार्थनादि में रूप दिये गये हैं । तदनन्तर उस गण की प्रयोग में आनेवाली तत्सम सभी धातुओं के प्रत्येक काल का पहला पहला रूप दिया गया है । इस प्रकार विद्यार्थी किसी भी धातु के किसी भी काल के रूप का स्वरूप समझकर अनुवाद में प्रयुक्त कर सकता है ।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि नई प्रणाली पर लिखित हिन्दी से संस्कृत और संस्कृत से ही हिन्दी शब्द एव विस्तृत रूपावली सहित यह कोष बालकों के ज्ञान-वृद्धि का और अनुवाद का परम सहायक नवीन ग्रन्थ है । आज्ञा है विद्यार्थी इससे यथोचित लाभ अवश्य उठावेंगे ।

रचयिता के २० वर्षों के अध्यापन-अनुभव का यह निचोड़ है ।

मूल्य चारों भागों का रूपया २ ७५

मिलने का पता—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, संस्कृत-पुस्तकालयाध्यक्ष
ब्लूचा चैलां, पुराना दरियागंज, दिल्ली-६ ।

हिन्दी से संस्कृत तथा संस्कृत से हिन्दी सिखानेवाली प्रथम रचना

अनुवाद-तरंगिणी

(प्राचार्य देवशर्मा शास्त्री)

यह अनुवाद-मुस्तिका सर्वश्रेष्ठ माना जाकर कई विश्वविद्यालयों से छात्रों के लिए स्वीकृत और परम उपयोगी घोषित हो चुकी है।

स्कूलों में प्रायः-भर प्रख्यापक रहने के कारण लेखक की छात्रों की कठिनाइयों का पूरा ज्ञान था। उन कठिनाइयों को दूर करते हुए लेखक ने अपने अनुभव को इस पुस्तक में निचोड़ कर भर दिया है। लेखक का इस परिश्रम में उद्देश्य यही रहा है कि मैं छात्रों की अनुवाद-ममत्ता को ऐसा हल करूँ कि भविष्य में उन्हें कभी कोई कठिनाई मान्य ही न दे और संस्कृत के व्याकरण को इतना सरल कर दूँ कि संस्कृत-छात्रों का संस्कृत के प्रति कठिनाई का जो भय लगा है वह निकल जाय और उनकी मन्दा उत्तरोत्तर बढ़े और दबन्धा-संस्कृत का घर-घर में प्रचार हो।

हिन्दी से संस्कृत तथा संस्कृत से हिन्दी सिखानेवाली प्रथितीय रचना

अनुवाद-तरंगिणी

(आचार्य देवशर्मा शास्त्री)

यह अनुवाद-पुस्तिका सर्वश्रेष्ठ मानी जाकर कई विश्वविद्यालयों से छात्रों के लिए स्वीकृत और परम उपयोगी घोषित हो चुकी है।

स्कूलों में आयु-भर अध्यापक रहने के कारण लेखक को छात्रों की कठिनाइयों का पूरा ज्ञान था। उन कठिनाइयों को दूर करते हुए लेखक ने अपने अनुभव को इस पुस्तक में निचोड़ कर भर दिया है। लेखक का इस परिश्रम में उद्देश्य यही रहा है कि मैं छात्रों की अनुवाद-ममस्या को ऐसा हल करूँ कि भविष्य में उन्हें कभी कोई कठिनाई मानून ही न द और संस्कृत के व्याकरण को इतना सरल कर दूँ कि संस्कृत-छात्रों का संस्कृत के प्रति कठिनाई का जो भय लगा है वह निकल जाय और उनकी मस्या उत्तरोत्तर बड़े और देवभाषा-संस्कृत का घर-घर में प्रचार हो।

अनुवाद सीखने के लिए नया ढंग अपना कर लेखक ने छात्रों के लिए ऐसा सुगम तरीका निकाला है कि अनुवाद तो दूर रहा—छात्र संस्कृत में बानचीत करने लगता है। प्रत्येक प्रकरण के साथ-साथ ध्यास भी द दिये गये हैं जिन्हें हल करते-करते सहज ही अनुवाद करना आ जाना है। ध्यासों के ऊपर शब्दावली दे दी गई है। रूप याद करने के लिए 'गुर' दिये गये हैं जिनको याद करके विद्यार्थी शुद्ध अनुवाद कर सकता है। ध्वन्य, ह्वन्य, गण्य, उपसर्ग, ध्वन्य, सन्धि, समास और प्रत्यय आदि पर जैसा प्रकाश महा डाला गया है वैसा अन्यत्र नहीं मिल सकता। छात्रों की ज्ञान-वृद्धि के लिए ध्वन्य में शब्द-कोष, लोकोक्ति या वाक्य-मूर्तिया आदि भी दे दी गई हैं। एव ध्यासाचार्य कुछ गद्यांश भी दे दिये गये हैं जिनमें यह पुस्तक सर्वोत्तम बन पड़ी है।

विषय-प्रतिपादन-शैली मौलिक एव नवीन है। इसमें शिक्षक-वर्ग का अध्यापन-कार्य काशी सरल हो जायगा और छात्र-वृन्द भी संस्कृत में हिन्दी-जैसी सरलता पा सकेंगे। मूल्य दो रुपये।